योग बिन्दु के परिप्रेक्ष्य में जैनयोग साधना
का
समीक्षात्मक अध्ययन

लेखक

डॉ. सुव्रत मुनि शास्त्री

प्रकाशक

श्री आत्मज्ञान पीठ, मानसा मण्डी, भटिण्डा (पंजाब)

अक्टूबर 1991

परमपूज्य राष्ट्रसन्त उत्तरभारतीय प्रवर्तक
गुरुदेव भण्डारी श्री पद्मचन्द्र महाराज
के
हीरक जयन्ती महोत्सव
के अवसर पर प्रकाशित
जैनस्थानक गन्नौर मण्डी सोनीपत हरियाणा

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र की पी-एच०डी० उपाधि हेतु
स्वीकृत शोध, प्रबन्ध

प्रकाशक
श्री आत्मज्ञानपीठ
मानसा मण्डी, भटिण्डा (पंजाब)

प्रथमावृत्ति
वीर निर्वाण संवत् २५१८
विक्रम संवत् २०४८ विजयदशमी
17 अक्टूबर 1991

मुद्रण व्यवस्था
मुद्रक प्रेस 2623, टिम्बर मार्कीट, अम्बाला छावनी.
दूरभाष : 24499

मूल्य :
साधारण संस्करण 100 रुपये मात्र
पुस्तकालय संस्करण 140 रुपये मात्र

जिनके

अमृततुल्य वात्सल्य एवं
सरस शुभङ्कर आशीर्वाद को
प्राप्त कर योगसाधना में
प्रवृत्त होकर योगविद्या में
कार्य करने की क्षमता पायी
उन्हीं

राष्ट्रसन्त परम पूज्य उत्तरभारतीय प्रवर्तक

गुरुदेव श्री भण्डारी पद्मचन्द्र जी महाराज

के
कर कमलों में
सभक्ति सविनय सादर
समर्पित

—सुव्रतमुनि शास्त्री

पूज्य गुरुदेव महामहिम उत्तर भारतीय प्रवर्तक श्री भण्डारी पद्म चन्द्र जी महाराज

जन्म तिथि :
विजयदशमी
वि० सम्वत् 1974
ई० सन् 1917

दीक्षा तिथि :
माघवदी पञ्चमी
वि० सम्वत् 1991
ई० सन् 1934

प्रकाशकीय

अपने विद्या रसिक पाठकों को एक मूल्यवान् योग ग्रंथ भेंट करते हुए हमें बहुत प्रसन्नता हो रही है। योग विद्या बहुत प्रिय और प्राचीन है। पुरातन आचार्यों, ऋषि-महर्षियों ने इस विद्या पर विविध भाषाओं में अनेक ग्रंथों की रचना की है। जैन श्रमण परम्परा में भी प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश एवं कन्नड़ इत्यादि भाषाओं में योग ध्यानसाधना पर कितने ही ग्रंथ मिलते हैं। परन्तु वर्तमान में राष्ट्रभाषा हिन्दी में योग-परक ग्रंथ बहुत कम उपलब्ध हैं। प्रस्तुत ग्रंथ इसी कमी की पूर्ति का एक प्रशंसनीय प्रयास है।

हमारे परम श्रद्धेय राष्ट्रसन्त उत्तरभारतीयप्रवर्तक भण्डारी **श्री पद्मचन्द्र जी महाराज** के प्रशिष्य एवं परम श्रद्धेय उपप्रवर्तक **श्री अमरमुनि जी म०** के प्रथम अन्तेवासी डॉ० श्री सुव्रत मुनि शास्त्री जी म० ने कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से डॉ० श्री धर्मचन्द्र जी जैन के निर्देशन में आचार्य हरिभद्रसूरि की अनुपम योग विषयक कृति **योगबिन्दु** का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन कर पी-एच० डी० (डाक्ट्रेट) की उपाधि प्राप्त की। मुनि श्री सुव्रत जी म० की योग में विशेष रुचि है उसी का शुभ परिणाम है यह योग ग्रंथ—**योगबिन्दु के परिप्रेक्ष्य में जैन-योगसाधना का समीक्षात्मक अध्ययन**। इसके लिए हम डॉ० श्री सुव्रत-मुनि शास्त्री जी म० के आभारी हैं जिन्होंने अनथक परिश्रम करके यह ग्रंथरत्न तैयार किया है। इसके प्रकाशन में डॉ० श्रीयुत धर्मचन्द्र जैन, निर्देशक पालि प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञ हैं जिन्होंने इस ग्रंथ के संशोधन एवं प्रैस सम्बन्धी कार्य में निष्ठापूर्ण सहयोग प्रदान किया है।

प्रकृत ग्रंथ के प्रकाशन में उदारमना जिन महानुभावों ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, उनमें महातपस्विनी गुरुणी श्री हेमकुंवर जी म० सा० की सुयोग्य सुशिष्या महासती साध्वी श्री रविरश्मि जी महाराज के माता श्रीमती प्रसन्नादेवी धर्मपत्नी श्री ला० रत्नलाल जी

जैन के सुपुत्र श्रीविजयकुमार जैन, श्रीसुशीलकुमार जैन, श्रीपवन कुमार जैन मुक्तसर निवासी।

महासती श्री रविरश्मि जी म० के बुआ जी श्रीमती ईश्वरीदेवा जैन धर्मपत्नी श्री सुच्चामल जैन गीदड़वाहा मण्डी निवासी के सुपुत्र श्री कश्मीरीलाल जैन एवं कीमतीलाल जैन।

श्रीमती कैलाशवती जैन धर्मपत्नी स्व० श्री रत्नलाल जैन समाना निवासी के सुपुत्र श्रीअशोककुमार जैन, प्रधान एस० एस० जैन सभा समाना, श्रीसतीशकुमार जैन एवं श्रीवीरेन्द्र कुमार जैन।

श्री जगदीशचन्द्र जैन मालिक फर्म के० एल० जगदीश ब्रह्मपुरी लुधियाना। श्री भागमल कृष्णलाल बजाज, पद्मपुरमण्डी (राज०)।

ये उपर्युक्त सभी महानुभाव परम पूज्य गुरुदेव उ० भा० प्रवर्तक श्री भण्डारी जी म० के अनन्य भक्त हैं। धर्मध्यान और गुरुभक्ति में आप सभी की गहनरुचि है। हम इन सभी महानुभावों की आत्मवृद्धि की मंगल कामना करते हैं और इनके इस उदार सहयोग के लिए हार्दिक धन्यवाद करते हैं साथ ही आशा है कि भविष्य में भी आपका हमें सहयोग मिलता रहेगा।

परम पूज्य राष्ट्रसन्त गुरुदेव उत्तरभारतीय प्रवर्तक भण्डारी श्री पद्मचन्द्र जी महाराज के हीरक जयन्ती महोत्सव पर इस ग्रंथ का प्रकाशन सोने में सौरभ जैसा बन गया है। हमें पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रंथरत्न से श्रावकजन अवश्य ही लाभान्वित होंगे।

मन्त्री
आत्मज्ञानपीठ, मानसा मण्डी,
भटिण्डा (पंजाब)

शुभाशंसा

जैनधर्मस्य आचार्येषु आत्मारामः प्रसिद्धः।
आत्मारामस्य जैनस्य आचार्यस्य महात्मनः ॥१॥
विद्वांसस्तस्य वै शिष्याश्चत्वारः सागरोपमाः।
ज्ञान-रत्नाकाराः सर्वे संस्कृतागम-कोविदाः ॥२॥

जैन धर्म के आचार्यों में प्रसिद्ध आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज थे। उन आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के सागर के समान गम्भीर चार शिष्य हैं जो कि ज्ञान रत्नों से सम्पन्न और संस्कृत आगम ज्ञान से युक्त हैं॥ ११२ ॥

श्री हेमचन्द्रः प्रथमो अपरो ज्ञानिनां मुनिः।
तृतीयो रत्नमुनि, श्रीमान् तूर्यो वाग्मी मनोहरः ॥३॥

उनमें प्रथम श्री हेमचन्द्र जी महाराज, दूसरे श्री ज्ञान मुनि जी महाराज, तीसरे श्री रतनमुनि जी महाराज और चोथे श्री मनोहर मुनि जी महाराज हैं ॥ ३ ॥

श्री हेमचन्द्रस्य मुनेः जैनागम पारदृश्वनः।
भण्डारी पद्मचन्द्रोऽयं मुख्यशिष्यो विराजते ॥४॥

श्री हेमचन्द्र जी म० जैन आगमों के पारगामी विद्वान् थे, उनके प्रमुख शिष्य हैं श्री भण्डारी पद्मचन्द्र जी महाराज ॥४॥

भारतोत्तर भागस्य निर्देष्टा प्रथितो यतिः।
भण्डारी नामवाच्योऽसो मुनिराजो विराजते ॥५॥

श्री भण्डारी पद्मचन्द्र जी महाराज उत्तर भारत जैन संघ के निर्देष्टा-प्रवर्तक हैं और जन सामान्य में वे भण्डारी जी महाराज के नाम से विख्यात हैं ॥५॥

वाग्मी धर्मभृतां धुर्यस्तच्छिष्योऽमरो मुनिः।
जैनागमविशेषज्ञो लोककान्तशशी यथा ॥६॥

धार्मिक जनता के आधार भूत, वाग्मी श्री अमर मुनि जी महाराज, श्री भण्डारी जी म० के शिष्य हैं जो कि लोक में चन्द्रमा के समान प्रिय हैं ॥६॥

आदित्य इव तेजस्वी सत्यधर्म-परायणः ।
शिष्येष्वन्यतमस् यस्तस्य सुव्रतो मुनिरात्मवान् ॥७॥

सूर्य के समान तेजस्वी और सत्य धर्म परायण श्री अमर मुनि जी महाराज के शिष्यों के प्रमुख आत्मार्थी सुव्रत मुनि जो है ॥७॥

संस्कृतं वाङ्मयं श्रुत्वा शास्त्रिकक्षामतीतरत् ।
एम०ए, श्रेणिमुत्तीर्य अभ्यस्य सर्ववाङ्मयम् ॥८॥

सुव्रत मुनि जी महाराज ने संस्कृत वाङ्मय का अध्ययन करके शास्त्री परीक्षा पास की, फिर हिन्दी एवं संस्कृत का अभ्यास करके उनमें एम० ए० किया है ॥८॥

जैनयोगमधिकृत्य प्रबन्धमलिखद् यतिः ।
विद्यापीठे कुरुक्षेत्रे सम्मानमतिलब्धवान् ॥९॥

जैन योग को आधार बना कर कुरुक्षेत्र विश्व विद्यालय के तत्त्वावधान में शोध प्रबन्ध लिखकर मुनि जी ने उच्च-सम्मान प्राप्त किया है ॥९॥

पी०एच०डी० पद प्राप्त सुव्रतो मुनिनांवरः ।
उदयं भाविनं काङ्क्षे युवकस्य मुनेरहम् ॥१०॥

पी०एच०डी० उपाधि प्राप्त श्रेष्ठ युवक मुनि सुव्रत जी म० के उज्जवल भविष्य की मैं शुभ आशंसा करता हूं ॥१०॥

यशोदेव शास्त्री
(साहित्य-दर्शनाचार्य)
पूर्व प्रधानाचार्य श्री सरस्वती संस्कृत कालेज
खन्ना मण्डी (पंजाब)

मुक्तसर निवासी स्व० ला० श्री रत्न लाल जी जैन एवं
उनकी धर्मपत्नी स्व० श्रीमती प्रसन्ना देवी जी जैन
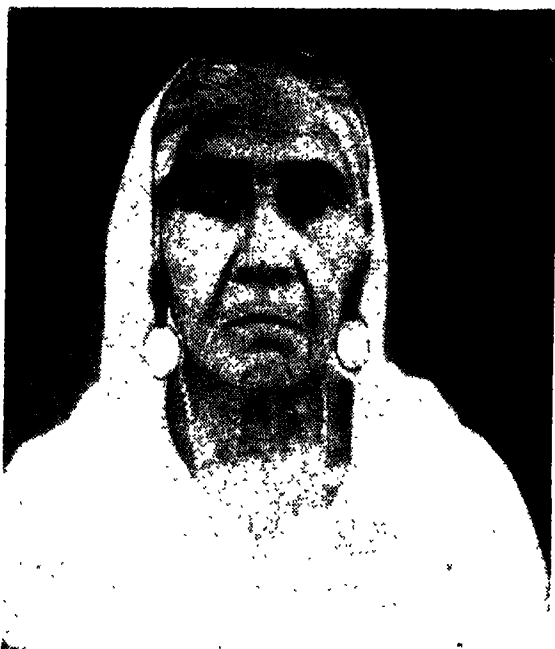
श्री ईश्वरी देवी जैन
गिदड़बादा

श्री ला० रत्न लाल जो जैन
समाना (पंजाब)

वाङ्मुख

मानव का चरम लक्ष्य आध्यात्मिक विकास की पूर्णता और उससे लब्ध प्रज्ञाप्रकर्षजन्य पूर्णबोध सर्वज्ञत्व व स्वस्वरूप-प्रतिष्ठा की उपलब्धि है। इस परमकैवल्य वा परिनिर्वाण लाभ में अन्यतम विशिष्ट साधन **योग** है। यह योग जगत् की प्राचीनतम विद्या है। कोई भी ऐसा दर्शन, सम्प्रदाय व मजहब नहीं है जो योग की महिमा से अछूता हो।

योग की महिमा अचिन्त्य है। अनेकों ऋषि, महर्षियों एवं तपस्वियों ने योग ध्यान साधना के बल पर अलौकिक सुख को पाकर अपने जीवन को सफल बनाया है। आज भी भारतभू की गिरिगुफाओं, उपन्यकाओं, वनों, एवं श्मशानों में यति, मुनि, साधु-सन्त इस विद्या के पारायण से ज्ञानाराधन एवं शाश्वत सुख की खोज में लगे हुए हैं। पाश्चात्य जगत् भी इस विद्या के गूढ रहस्य को जानने में अहर्निश प्रयासरत है।

इस आध्यात्मयोग के क्षेत्र में जैन ध्यान साधना का अपना विशिष्ट स्थान है। बढ़ चढ़कर एक से एक योगावचर, तपस्वी, आचार्य, सन्त यहां हुए हैं जिनमें से एक बहुश्रुतधर, प्रतिभासम्पन्न, महान लेखक, विद्वान्, आचार्य श्री हरिभद्रसूरि हैं। आपने ही सर्वप्रथम अपनी अनुपम कृतियों में योग का नूतन मौलिक गहन चिन्तन किया है।

मन, वचन एवं कर्म का आत्मा के साथ एकाकार हो जाना, उनका तदनुकूल चलना ही **योग** है। हरिभद्र सूरि ने धर्मसाधना के समग्र उपक्रम को ही योग का सार स्वीकार किया है—**मोक्खेण जोयणाओ, जोगो सव्वो वि धम्मवावारो** (योगविंशिका का० १)

मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि 8वीं शताब्दी के इन पूज्य महायोगी आचार्यप्रवर हरिभद्र सूरि का अनुसरण करने वाले नवोदित युवक सन्त श्री सुव्रतमुनि शास्त्री नेसूरि की योगपरक चार रचनाओं में से अत्युपयोगी ग्रंथ **योगबिन्दु** को आधार बनाकर जैन वाङ्मय में योग साधना का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक शोध प्रबन्ध लिखा है जो आज **'योगबिन्दु के परिप्रेक्ष्य में जैन योगसाधना का समीक्षात्मक अध्ययन'** इस नाम से प्रकाश

में आ रहा है।

श्रीमुनिसुव्रत जी शास्त्री राष्ट्र शिरोमणि सन्त उत्तर भारतीय प्रवर्तक गुरुदेव भण्डारी श्रीपद्मचन्द्र जी महाराज के प्रशिष्य और हरियाणा केसरी वाणीभूषण उत्तर भारतीय उपप्रवर्तक श्रीअमर मुनि जी महाराज के सुयोग्य शिष्य हैं। आधुनिक भारतीय अनेक भाषाओं के ज्ञाता होते हुए भी शास्त्री जी का संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं पर पूर्ण अधिकार हैं।

इसी कारण उपर्युक्त अपने खोजपूर्ण प्रबन्ध में आपने जैन-जैनेतर समस्त भारतीय वाङ्मय का आलोड़न-विलोड़न किया है और योगबिन्दु-गत **योगमाहात्म्य, योगाधिकारी,** योग के प्रकार—**अध्यात्मयोग, समता-योग, ध्यानयोग, भावनायोग** और **वृत्तिसंक्षययोग,** को विस्तार से स्पष्ट करते हुए योग साधना में आत्मा की स्थिति, उसका सर्वज्ञत्व, योग और कर्म, गुणस्थान और लेश्याओं की महत्ता का जैनदर्शनानुसार सम्यक् प्रतिपादन किया गया है। एदतर्थ आपको बहुशः साधुवाद।

इसके अतिरिक्त विद्वान् सन्त के द्वारा पूर्व में और भी अन्य कतिपय मौलिक ग्रंथों का प्रणयन किया गया है जिनमें-मानवता की प्रकाश किरणें एवं पद्मपराग विशेष उल्लेखनीय हैं। मुझे विश्वास है कि प्रकृत ग्रन्थ रत्न भी इसी कड़ी में ध्यानयोग के जिज्ञासुओं एवं शोधकर्त्ता पाठकों को अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

मैं शास्त्री जी के दीर्घजीवी योगसाधना की मंगलाकामना के साथ भविष्य में भी आपके द्वारा दुर्लभ जैन पाण्डुलिपियों के सम्पादन एवं प्रकाशन की अपेक्षा करता हूँ। ओम शान्ति।

(डॉ० धर्मचन्द्र जैन)
रीडर
संस्कृत एवं प्राच्य विद्या संस्थान,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

डी-११५, विश्वविद्यालय परिसर
७ अक्टूबर, १९९१

प्रस्तावना

वस्तु में अहम् बुद्धि और अहम् में वस्तु बुद्धि दुःख जनक मोह का कारण है। वस्तु एवं अहम् का विघटीकरण तथा अहम् को वास्तविक अहम् में स्थापना, योग स्वरूप है।

व्यक्ति एक है, दृश्य एक है, दृष्टियाँ अनेक है। दृष्टि ही दृष्टा के लिए दृश्य स्वरूप निश्चित करती है। इसमें इन्द्रियदृष्टि अत्यन्त स्थूल हैं। ओघदृष्टि का प्रतिरूप है। भ्रम एवं माया की जननी है। आत्म दृष्टि सूक्ष्मतम है। योगदृष्टि का प्रतिरूप है। परिशुद्ध व यथार्थ ज्ञान की जननी है।

यह ओघदृष्टि, वस्तु-देह बुद्धि से उत्पन्न परिछिन्न होती है, जो वासना का उद्गम स्थान है। वासना का उद्भव असौन्दर्य में सौन्दर्य, अयथार्थ में यथार्थ तथा अशुद्धि में शुद्धि का बोध कराता है। भ्रम से उपरत यथार्थ में 'सत्यं, शिवं सुन्दरम्' का आत्यन्तिक अनुभवन ही योग है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग को ही संसार विछिन्नता का मूल कारण बतलाया है। योग उत्तम कल्पवृक्ष है, उत्कृष्ट चिन्तामणि रत्न है। योग सब धर्मों में प्रधान है तथा सिद्धि (मुक्ति) का अनन्य हेतु है।[1] वास्तव में संयोग की दासता एवं वियोग का भय संसार आबद्धता तथा अभाव रूप अतृप्ति का मूलकारण है एवं योग उसका परम व अचूक निवारण है।

योग एक आधार है व योग एक युक्ति है संसार सागर से पार उतरने के लिए।[2] योग एक तीक्ष्ण कुठार है, समस्त विपदाओं का उन्मूलन करने के लिए।[3] दुःख का जीवन के साथ जो संयोग है, उससे विमुक्त होना ही योग है।[4] योग से प्राप्त मनोनिग्रह ही संसार-दुःख से मुक्त होने का एक मात्र उपाय है।[5] इसी कारण गीता में भी ज्ञानी और तपस्वी की अपेक्षा योगी को अधिक श्रेष्ठ बताया है।[6] शास्त्रज्ञानी (द्रव्य ज्ञानी) एवं शारीरिक कष्ट रूप (द्रव्य तप) की अपेक्षा आत्म-स्थापना रूप योग इसलिए श्रेष्ठ है क्योंकि आत्मस्थापना ही विद्वान् का ज्ञानी में एवं द्रव्य तप

का आत्म-विशुद्धि के परम कारण रूप भावतप में परिणमन का हेतु है।

ध्येय विहीन जीवन व्यर्थ क्रिया स्वरूप है। ध्येय विहीन साधक की तुलना **विवेक मार्तण्ड** में गधे के साथ की गई है[7]। जैसे गधा भी धूल से लथपथ रहता है, सदा सर्दी-गर्मी सहन करता है, पर उसका यह धूल में लोटना एवं सर्दी-गर्मी सहना व्यर्थ तथा उद्देश्य विहीन होता है, वैसे ही जिस साधक का संकल्प स्पष्ट नहीं है तब उसका धूल में जीवन व्यतीत करना तथा शारीरिक कष्टों को सहन करना केवल बाह्य आडम्बर मात्र है। उससे अन्तरशुद्धि रूप महत् लाभ उपलब्ध नहीं हो सकता। अतः किसी भी कार्य में संलग्न होने से पहले उसके उद्देश्य के प्रति स्पष्ट दृष्टि होना आवश्यक है। जीवन कोई न कोई ध्येय युक्त अवश्य ही होना चाहिए और केवल ध्येय युक्त ही नहीं, ध्येय भी उच्च होना आवश्यक है, अन्यथा विपरीत ध्येय जन्य परिणाम भी विपरीत ही होगा।

भारतीय संस्कृति का उच्चतम ध्येय है मोक्ष। संसार दुःख से विमुक्त होना ही परम पुरुषार्थ है[8] चाहे वह तत्त्वज्ञान हो, आचार हो, काव्य हो याकि नाटक मात्र, किन्तु काम विषयक कामशास्त्र का अन्तिम ध्येय चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष ही है।[9] इस कारण भारतीय संस्कृति को आध्यात्मिक संस्कृति के नाम से अभिहित किया गया है।

भारतीय विचारकों का चिन्तन बहुमुखी रहा है। उन्होंने जीवन के आवश्यक पहलुओं पर गहन व तीव्र अनुभूति पूर्ण तथ्यों को उद्घाटित किया है। शारीरिक एवं पदार्थिक आयामो से उपरत एक ऐसा भी आयाम है जो बौद्धिक तर्क एवं चर्चाओं से परे है। जो केवल अनुभव जन्य है और उस अनुभव का जनक है—योग।

योग एक ब्रह्मविद्या है। उसकी गति क्षर से अक्षर की ओर है। योग कोई सम्प्रदाय या दर्शन विशेष न होकर जीवन के अन्तर रहस्य की प्राप्ति की सहज प्रक्रिया है। योग का कार्य दर्शनशस्त्र की तरह सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना नहीं वरन् अन्तस् अनुभूतियों का जागरण है।

मोक्ष रूपी लक्ष्य सिद्धि का प्रधान व्यवधान है—मन और प्रधान सहयोगी भी है—मन। कहा भी गया है—**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः**[10]। व्यास ने भी कहा है—

संसार की नदियाँ तो एक ही दिशा में बहती हैं लेकिन चित्तरूपी महानदी उभयवाहिनी है। ऊर्ध्वगामिनी कल्याण का कारण है और अधोगामिनी पतन का कारण। आध्यात्म का प्रथम सोपान है– चित्त का ऊर्ध्वारोहण—'चेतो महानदी उभतोवाहिनी, वहति कल्याणाय पापाय च।[11]

उमास्वाति ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र को मोक्ष मार्ग कहा है।[12] उसी को आचार्य हेमचन्द्र ने योग के नाम से अभिहित किया है।[13] आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र में योग को परिभाषित करते हुए कहते हैं "धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों मे मोक्ष अग्रणी है। योग उसका कारण है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय ही योग है।"[14] आचार्य हरिभद्रसूरि ने उन समस्त साधनों को योग माना है जिनसे आत्मशुद्धि होती है और मोक्ष के साथ संयोग होता है।[15] उपाध्याय यशोविजय जी का भी यही अभिमत है।[16] आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार आध्यात्मिकता एवं समता को विकसित करने वाला, मनोविकारों को क्षय करने वाला तथा मन, वचन एवं काया के कर्मों को संयत रखने वाला धर्म व्यापार ही श्रेष्ठ योग है।[17] यही भाव गीता में भी प्रकट हुआ है।[18]

महर्षि पतञ्जलि ने योग की परिभाषा देते हुए कहा है "चित्त की वृत्तियों का निरोध करना योग है।[19] याज्ञवल्क्य के अनुसार जीवात्मा का परमात्मा के साथ संयोग होना योग है।[20] विष्णुपुराण में योग की इन शब्दों में परिभाषा की गई है "आत्मप्रयत्न सापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः" विज्ञान भिक्षु ने अपने ग्रन्थ योगसारसंग्रह में कहा है "सम्यक् प्रज्ञायते"। बौद्ध परम्परा में योग शब्द समाधि या ध्यान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हठयोग साहित्य में भी इसी प्रकार की परिभाषा मिलती है। रघुवंश में इसका अर्थ सम्पर्क, स्पर्श आदि से लगाया गया है। गणित में योग का अर्थ जोड़/संकलन होता है। ज्योतिषशास्त्र में योग को संयुति, दो ग्रहों का संयोग, तारापुंज, समयविभाग इत्यादि के रूप में स्वीकार किया गया है। चिकित्साशास्त्र में योग का अर्थ अनेक प्रकार के चूर्ण के अर्थ में अभिप्रेत है।

The great theosophist Annie Besant Calls it a Science of Psychology. As Dr. R.V. Ranade says or Yoga is a complete science, It is based upon the eternal laws of higher life, and does not require the support of any other science or philosophicd

system. It is a science of psychology in much wider and deeper perspective. It follows the laws of psychology, applicable to the unfolding of the whole consciousness of man on every plane.

Sri Aurobindo says that all life is either consciously or unconsciously or subconsciously a yoga. Is consists in a methodised effort towards selfperfection by the expression of the potentialities latent in the being and a union of the human individual with the universal and transcendent existence. We see partially expressed in man and the cosmos.

All life, when we look behind its appearances, is a vast Yoga of Nature, attempting to realise her perfection in an ever increasing expression of her potentialities and to unite herself with her own divine reality.

According to Swami Vivekananda, Yoga may be regarded as a means of comparising one's evolution into a single life or a few years or even a few months of bodily existince. Yoga is a kind of compressed but concentrated and intense activity according to the temprament of an individual.

योग एक ऐसा प्रयत्न है जिसमें साधक सहज व स्वभाविक अवस्था में रहता हुआ अपने स्वरूप बोध के लिए सर्वदा प्रयत्नशील रहता है। यद्यपि भारतवर्ष की रत्नगर्भा वसुन्धरा पर उत्पन्न हुए आर्य पुरुषों ने साधना की विविध प्रक्रियाओं की ओर निर्देश किया है तथापि यह सदा सर्वदा अनुभूत तथ्य रहा है कि साधनावस्था में यन्त्र की भान्ति कोई निश्चित मार्ग नहीं बनाया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति के लिए कोई निर्धारित मूल्य स्थापित नहीं किये जा सकते। साधना सामूहिक नहीं, व्यक्ति परक होती है। कुछ साधक एकत्रित होकर साधना कर सकते हैं फिर भी उनके अनुभव निजपरक एवं मर्यादित ही रहेंगे।

मनुष्य स्वयं का मित्र है और शत्रु भी है। उसका अन्तर ज्ञान ही उसका परम मार्गदर्शक है। जब तक वह स्वयं अपनी समस्याओं के

सम्बन्ध में अभीप्सापूर्ण प्रयत्न व सार्थक परिणामगामी चिन्तन नहीं करता तब तक समाधान परे ही रहता है। प्रत्येक को स्वयं के प्रश्न का उत्तर स्वयं ही ढूढ़ना होता है। किसी के बनाए हुए समाधान किसी के काम नहीं आ सकते। वे उसे मार्गदर्शन एवं प्रेरणा अवश्य दे सकते हैं फिर भी समाधान तो उसका स्वयं का ही होगा। प्रारम्भ में, अन्य के दर्शाए हुए मार्ग में उपादेयता दृष्टिगत हो सकती है किन्तु अन्ततोगत्वा वे मार्ग उसका साथ नहीं दे पाते।

प्रत्येक व्यक्ति स्वयं में एक इकाई है। उसका स्वयं का व्यक्तित्व है, विशेषताएँ हैं, गुण दोष हैं। अतः व्यक्तिगत गुणदोषानुसार उसके व्यक्तित्वानुसार साधना का मूल स्वरूप एवं मूल ध्येय एक रहते हुए भी उत्तर स्वरूप एवं उत्तर ध्येय व्यक्ति से व्यक्ति परिवर्तित होते हैं। इसी उत्तरस्वरूप एवं उत्तर ध्येय के परिवर्तन ने योग में विविध विधाओं को जन्म दिया है। जैसे द्रव्य का मूल स्वरूप एक होते हुए भी उसकी पर्याय अनेक होती हैं। वैसे ही योग मूलतः एक होते हुए भी उत्तरप्रक्रियाओं व बाह्य स्वरूप की अपेक्षा विविध रूपों में प्रतीत होता है।

ये उपर्युक्त विविध रूप हमें तीन मूलधाराओं में मिलते हैं, वे धाराएं है—(१) वैदिक (२) बौद्ध एवं (३) जैन धारा।

ऋग्वेद में जहां योग संयोग अर्थों में मिलता है वहीं उपनिषदों विशेषकर पातञ्जलयोगदर्शन में आगत ध्यान एवं समाधि योग को ही दर्शाते हैं। इस तरह वैदिक दर्शन में योग से संयोग एवं ध्यान समाधि दोनों ही अर्थ अभिप्रेत हैं।

वस्तुतः योग का अत्यन्त परिष्कृत रूप हमें गीता में दृष्टिगोचर होता है। गीता में श्रीकृष्ण ने दो प्रकार की निष्ठा बतलाई है।[४] ज्ञान-निष्ठा और कर्मनिष्ठा इस अपेक्षा से योग भी दो प्रकार का है—ज्ञान-योग एवं कर्मयोग। भक्तियोग इन दोनों में ही समाविष्ट है क्योंकि बिना भक्ति, श्रद्धा और प्रेम के न तो ज्ञानार्जन हो सकता है और न ही कर्म कौशल्य प्रकट हो सकता है। अतएव भक्ति ज्ञान और कर्म में ही अनुस्यूत है।

बौद्ध दर्शन में भगवान् बुद्ध ने महर्षि पतञ्जलि की तरह आर्य अष्टाङ्गिकमार्ग की प्रबल प्रेरणा दी है। बौद्धाचार्यों ने अपनी कृतियों में सम्यक् समाधि, ध्यान व योग पर इसी अष्टाङ्गिकमार्ग में विस्तृत प्रकाश

डाला है। अतएव इसके लिए निकाय ग्रन्थों का परिशीलन अपरिहार्य है।

जैन धारा

जैन आगमों में योग शब्द प्रधानरूप से संयोग के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। जैनाचार्यों ने अनेक ग्रन्थों में इसे ध्यान एवं समाधि के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है। मन-वचन-काया का आत्मा के साथ सम्यक् योग मनोयोग, वचनयोग एवं काय-योग कहे जाते हैं[23]। मन, वचन और काय-योग का पूर्ण निरोध ज्ञानाराधक का लक्ष्य है। इनका गोपन करना गुप्ति कहलाता है, जो तीन हैं—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति।[24], जीवन के लिए आवश्य क्रियार्थ सम्यक् रूप से प्रवृत्ति करना समिति कहलाता है, ये पांच हैं—ईर्या, भासा, एसणा, आयाणभंडमत्त निक्खेवणा और उच्चारपासवण खेल जल्लमल्ल सिंघाण परिट्ठावणिया समिति।[25] यह समिति और गुप्ति साधक जीवन का प्राण है। यही योग का स्वरूप है।

आगम तथा निर्युक्तियों में योग, ध्यान सम्बन्धी वर्णन यत्र-तत्र आंशिक रूप से उपलब्ध होता है। इन्हें महर्षि पतंजलि रचित **योगसूत्र** सदृश सूत्रबद्ध तथा क्रमबद्ध करने का परिणामगामी एवं सफल प्रयास जैनाचार्यों ने भी किया हैं, जिनमें प्रमुखतः आचार्य श्री हरिभद्रसूरि, आचार्य हेमचन्द्र, उपाध्याय यशोविजयजी तथा आचार्य शुभचन्द्र के नाम उल्लेखनीय हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग सम्बन्धी दो प्राकृत में एवं दो संस्कृत में, इस तरह चार महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। **योगशतक** एवं **योग विंशिका** तथा **योगबिन्दु** एवं **योगदृष्टिसमुच्चय**। इसके अतिरिक्त संस्कृत में रचित **षोडशक प्रकरण** में भी योग का वर्णन मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र ने **योगशास्त्र**, आचार्य शुभचन्द्र ने **ज्ञानार्णव** तथा उपाध्याय यशोविजयजी ने **अध्यात्मसार**, **अध्यात्मोपनिषद्** एवं **द्वात्रिंशत द्वात्रिंशिकाओं** की रचना की है, जिसमें योग सम्बन्धी गहन परन्तु सरल व स्पष्ट विवेचन दृष्टिगत होता है।

योगविंशिका में हरिभद्रसूरि ने योग के अस्सी भेद बतलाए हैं। सर्वप्रथम योग को पांच प्रकारों में विभक्त किया गया है,[26] जिनमें से प्रथम दो ज्ञानयोग एवं अन्य तीन कर्मयोग स्वरूप हैं।

(१) **स्थानयोग :** वीरासन, पद्मासन, पर्यङ्कासन इत्यादि द्वारा

योग स्थिरता का अभ्यास।

(२) उर्ण (वर्ण) योग : मंत्र (जप) के द्वारा शब्द उच्चारण के माध्यम से योग स्थिरता का अभ्यास।

(३) अर्थयोग : नेत्र आदि पदार्थों का वाच्यार्थ।

(४) आलम्बन : किसी पुद्गल विशेष पर मन का केन्द्रीकरण।

(५) रहित योग : निरालंब आत्मचिन्तन व आत्मलीनता रूप निर्विकल्प समाधि।

इन पांचों में से प्रत्येक को इच्छा, प्रवृति स्थिरता एवं सिद्धि इन चार भेदों में विभक्त किया गया है[27]।

(१) इच्छा : उपरोक्त क्रियाओं को करने का अंतर में उल्लास, उमंग का जागृत होना। यह अद्भुत भावों से युक्त तीव्र उत्कण्ठा इच्छा कहलाती है।

(२) प्रवृति : उपरोक्त क्रियाओं का उपशमभावपूर्वक यथार्थत: पालन प्रवृति कहलाता है।

(३) स्थिरता : इन क्रियाओं में सुदृढ़ता आने का नाम स्थिरता है।

(४) सिद्धि : जब साधक इन क्रियाओं पर पूर्णरूप से अधिकार प्राप्त कर लेता है, परिणामस्वरूप वह स्वयं तो आत्मशांति का अनुभव करता ही है किन्तु सम्पर्क में आने वाले अन्य व्यक्तियों को भी योग की ओर सहज रूप से उत्प्रेरित करता है तब वह सिद्ध योगी कहलाता है।[28]

उपरोक्त बीस भेदों में से प्रत्येक के और चार-चार भेद होते है[29]—

(१) प्रीति अनुष्ठान : योगिक क्रियाओं में अत्यधिक रूचि का उत्पन्न होना एवं रूचिपूर्वक उन प्रवृत्तियों में सन्नद्ध होना।

(२) भक्ति अनुष्ठान : उन क्रियाओं के प्रति अत्यधिक आदर और प्रेम रखते हुए उत्कृष्ट भावों से प्रयत्नशील होना।

(३) आगमानुष्ठान : शास्त्र वचनों को दृष्टिगत रखते हुए साधनानुरूप समुचित प्रवृत्ति करना।

(४) **असंगानुष्ठान :** साधना में जीवन का ओतप्रोत हो जाना धर्म का जीवन में एक रस हो जाना।

इस तरह योग के व्यवहार जन्य अस्सी भेद होते हैं। एक अन्य अपेक्षा से हरिभद्रसूरि ने **योगदृष्टिसमुच्चय**[30] में योग को तीन भागों में विभक्त किया है—

(क) **इच्छायोग :** जो धर्म/आत्म जागरण की इच्छा (आत्म-जिज्ञासा) किए हुए है, जिसने आगमश्रुत उसके अर्थ एवं शास्त्रीय सिद्धांतों को सुना हुआ है परन्तु अभी प्रमादवश जिसकी योग साधना में विकलता है ऐसे असंपूर्ण धर्मयोग को इच्छा योग कहते हैं।[31]

(ख) **शास्त्रयोग :** आगमश्रुत के ज्ञाता, श्रद्धावान् तीव्रबोधयुक्त तथा यथाशक्ति प्रमादरहित पुरुष की अविकल योग-साधना शास्त्रयोग कहलाता है।[32]

(ग) **सामर्थ्ययोग :** शास्त्र में जिसका उपाय दर्शाया गया है परन्तु शक्ति के उद्रेक/प्रबलता के कारण जिसका विषय शास्त्र से भी अतिक्रान्त है वैसा उत्तमयोग, सामर्थ्ययोग कहलाता है।[33]

जैन साधना पद्धति में योग हठपूर्वक नहीं वरन् योग का स्वरूप बड़ा ही सहज एवं स्वाभाविक है यह अनुभूत सत्य है कि मन को हठपूर्वक नियन्त्रण में करने का प्रयास मन को वश में करने रूप उपाय नहीं बन सकता। हठपूर्वक नियन्त्रित किया गया मन सहसा नियन्त्रण मुक्त होते ही स्वाभाविक वेग की अपेक्षा अति तीव्रगति से गतिमान् होता है। जो वर्षों से अर्जित साधना के पतन का कारण भी बन सकता है। योग को जीवन का सहजरूप देने हेतु जैनागमों में एक अत्यन्त सुन्दर शब्द आता है—"यत्ना"। कुछ भी करो यत्ना पूर्वक करो। यह बात **आचारांगसूत्र** में भी भगवान् महावीर के जीवनवृत्त का विवेचन करते हुए कही गई है।

भगवान् महावीर की तप साधना जागृति विवेक से युक्त थी। जिसके दो आधार थे—समाधि-प्रेक्षा और अप्रतिज्ञा। अर्थात् वे चाहे कितना ही कठोर तप करते लेकिन साथ में अपनी समाधि का सतत प्रेक्षण करते रहते और उनका यह तप किसी प्रकार के पूर्वग्रह/हठाग्रह युक्त नहीं था। इस से यह ज्ञात होता है कि भगवान् की तप साधना

सहज व समाधि युक्त थी।

आचारांगसूत्र[34] में और एक शब्द आता है—"आयतयोग"। इस का अर्थ वृत्तिकार ने मन-वचन-काया का संयतयोग किया है परन्तु इसकी अपेक्षा इसे तन्मयतायोग कहना अधिक उपयुक्त होगा। भगवान् किसी भी क्रिया को करते समय उसमें तन्मय हो जाते थे। यह योग अतीत का स्मृति और भविष्य की कल्पना से परे केवल वर्तमान में रहने की क्रिया में पूर्णतया तन्मय होने की प्रक्रिया है। वे भगवान् चलते, खाते-पीते, उठते-बैठते समय सदैव निरन्तर इस आयतयोग का ही आश्रय लेते थे[35]। वे चलते समय केवल चलते थे। वे चलते समय न तो इधर-उधर झांकते, न बातें या स्वाध्याय करते और न ही चिन्तन करते थे। यही बात खाते समय भी, वे केवल खाते थे, न तो स्वाद की ओर ध्यान देते, न चिन्तन, व बातचीत। वर्तमान क्रिया के प्रति वे पूर्ण जाग्रत एवं सर्वात्मना समर्पित थे।[36]

पाञ्जल योगसूत्र में वर्णित अष्टांगयोग जैन दृष्टि पर अधिक निर्भर है जैसे कि—(१) **यम**: यम पाँच हैं: अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। जैन दृष्टि अनुसार पांच महाव्रत भी ये ही हैं। यहीं बात हरिभद्रसूरि ने भी कही है।[37] इतना अवश्य है कि इन व्रतों के प्रति **योगसूत्र** की अपेक्षा जैनदृष्टि अधिक सूक्ष्म है। **योगशास्त्र** के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय प्रकाश में हेमचन्द्राचार्य ने व्रतों का विस्तृत वर्णन किया है।

(२) **नियम**: योग का द्वितीय चरण है नियम। यह नियम साधक-जीवन में तेजस्विता लाते हैं। पतंजलि के नियमों के समकक्ष हम **समवायाङ्गसूत्र** में बताए हुए बत्तीस योग संग्रह को रख सकते है[38]। मोक्ष की साधना को सुचारु रूप से सम्पन्न करने हेतु मन-वचन-काया के प्रशस्त व्यापार रूप यह बत्तीस योग संग्रह है। जैसे आलोचना आपत्सु दृढ़धर्मता, अनाश्रित उपधान, निष्प्रतिकर्मता, तितिक्षा, धृति, मति, संवेग, विनयोपगत प्रणिधि, अलोभता, निरपलाप इत्यादि।

(३) **आसन**: चित्त-स्थैर्य योग का प्राण है। इसकी सिद्धयार्थ काय-स्थैर्य का पद्धतिपूर्ण अभ्यास है। आसन का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से काया के साथ और परोक्षरूप से वचन एवं मन के साथ भी है। घेरण्ड

संहिता में ८४ लाख आसनों की चर्चा की गयी है। जिसमें ८४ आसन मुख्य हैं। इनमें भी शिवसंहिता में चार आसनों को मुख्यता प्रदान की गयी है—(१) सिद्धासन (२) पद्मासन (३) उग्रासन (४) स्वस्तिकासन।

जैनदर्शन में निर्जरा का पाँचवाँ भेद है—काय क्लेश, जिसकी तुलना पतंजलि के आसन के साथ आंशिक रूप से की जा सकती है। कायक्लेश तप चार प्रकार का है—

(१) आसन (२) आतापना (३) विभूषावर्जन (४) परिकर्म वर्जन। जैनागमों में कायक्लेश तप के अन्तर्गत निम्नोक्त आसन की चर्चा की गई हैं यथा – (१) **स्थान स्थितिक** : एक ही आसन में बैठे रहना। (२) **उत्कुटुकासनिक** : उकडू आसन में बैठना। (३) **वीरा-सनिक** : वीरासन में स्थित होना। (४) **नैषधिक** : पुट्ठे टिकाकर या पालथी लगाकर बैठना। (५) **आप्रावृतक** : खुजली आने पर देह को न खुजलाना।

इसके अतिरिक्त गोदोहिक, पद्मासन, पर्यंकासन का भी निर्देश किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने **योगशास्त्र** के चतुर्थ प्रकाश में पर्यंकासन, वीरासन, वज्रासन, पद्मासन, भद्रासन, दंडासन, उत्कुटिका-सन, गोदोहिकासन, कायोत्सर्गासन इत्यादि की चर्चा की है।[39]

पतंजलि ने आसन की परिभाषा करते हुए आसन को स्थिर सुख कहा है।[40] यही बात आचार्य हेमचन्द्र ने भी **योगशास्त्र** के चतुर्थ प्रकाश में आसनों की चर्चा करने के पश्चात् कही है। कि साधक के लिए वही आसन उपयुक्त है जो उसे चित्तस्थिरता में उपयोगी बने।[41] अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार के आसन से ध्यान साधे जावे जिससे शरीर पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़े अथवा शरीर के साथ किसी प्रकार का अन्याय न हो।

दशवैकालिकसूत्र में भी इसी अपेक्षा से कहा भी गया है कि यहाँ पर कायक्लेश तप का प्रधान ध्येय काया को क्लेश देना नहीं वरन् काया के क्लेश को सहन कर आसन सिद्धि द्वारा ध्यान में स्थिरता प्राप्त कर आत्मिक सुख को उपलब्ध करना है।

(४) **प्राणायाम** : प्राणों पर नियंत्रण प्राप्त करने का पद्धतिपूर्ण

अभ्यास प्राणायाम कहलाता है। इससे प्राणों से आबद्ध मन नियंत्रित हो जाता है। जैन परम्परा में पतंजलि इस वर्णित प्राणायाम को साधना की दृष्टि से निरुपयोगी माना गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने **योगशास्त्र** में प्राणायाम की विस्तृत चर्चा की है। उनकी यह मान्यता भी रही है कि प्राणायाम मानव को अधिक लाभकारी नहीं है कारण कि प्राणों के निग्रह से शरीर में पीड़ा उत्पन्न होती है जिससे मन में चपलता उत्पन्न होती है। दूसरे पूरक, कुम्भक और रेचक क्रियाओं के करने में परिश्रम करना पड़ता है। इससे भी मन में संक्लेश उत्पन्न होता है और यह चित्तसंक्लेश मोक्ष में बाधक है।

एक अन्य अपेक्षा से चिंतन करने पर यह ज्ञात होता है कि जैनाचार्यों ने प्राणायाम को हठपूर्वक नियंत्रण के रूप में न लेकर सहज श्वास-दर्शन के रूप में स्वीकृत किया है। जैसे हमारे यहाँ पर कायोत्सर्ग को श्वासोच्छ्वास के साथ संलग्न किया गया है। आचार्य भद्रबाहु ने सांवत्सरिक कायोत्सर्ग १००४ उच्छ्वास प्रमाण, चातुर्मासिक ५००, पाक्षिक ३००, रात्रिक ५०, दैवसिक १०० उच्छ्वास प्रमाण बताया है।

(५) **प्रत्याहार** : इंद्रियों का अपने विषयों से रहित होकर चित्त के स्वरूप में तदाकार हो जाना प्रत्याहार है।[42] प्रत्याहार की तुलना हम निर्जरा का छठा भेद प्रतिसंलीनता के साथ कर सकते हैं। औपपातिकसूत्र में प्रतिसंलीनता चार[43] प्रकार की बतलायी गयी है।

(१) **इंद्रिय प्रतिसंलीनता** : इंद्रियों का गोपन करना।

(२) **कषाय प्रतिसंलीनत** : क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों आवेगों का निरोध।

(३) **योग प्रतिसंलीनता** : मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृतियों का गोपन।

(४) **विविक्त-शयनासन** : सेवनता : एकांत स्थान में निवास।

(६) **धारणा**, (७) **ध्यान और** (८) **समाधि** :

महर्षि पतंजलि ने धारणा, ध्यान एवं समाधि को संयम के नाम से अभिहित किया है।[44] पतंजलि के अनुसार किसी एक देश अथवा ध्येय में चित्त को बांधना वा लगाना **धारणा** है।[45] उस ध्येय में चित्त की

एकताननता अर्थात् चित्त का उसी ध्येय में स्थिर हो जाना **ध्यान है**,[46] और जब केवल अर्थ या ध्येयमात्र का प्रतिभास या प्रतीति रह जाए, चित्त का अपना स्वरूप शून्य हो जाए तब वह **समाधि है**।[47] महर्षि कपिल ने भी इसे ही समाधि कहा है।[48]

यदि मन को किसी स्थान में सेकंड भर धारण किया जाए तो उससे एक धारण होगी, यह धारणा द्वादश गुणित होने पर एक ध्यान और वह ध्यान द्वादश गुणित होने पर एक समाधि होती है।

जैनदर्शन में धारणा के स्थान पर 'एकाग्र मन सन्निवेशना' को ध्यान के पूर्व का चरण स्वीकार किया गया है। किसी एक आलंबन में मन की स्थापना करना इसका अर्थ है। **उत्तराध्ययनसूत्र** में इस 'एकाग्र मन सन्निवेशना' का फल चित्त-निरोध अर्थात् ध्यान बतलाया गया है।[49] उमास्वाति के अनुसार मन को चिन्तन का किसी एक आलंबन पर स्थिर हो जाना है।[50] **ध्यानशतक** अनुसार मन का किसी एक ही वस्तु पर अवस्थान ध्यान है।[51] **तत्वानुशासन** के अनुसार चित्त को विषय-विशेषपर केंद्रित करना ध्यान है।

संक्षेप में किसी एक अध्यवसाय पर चित्त का स्थैर्य ध्यान है। उस चित्त का विषयान्तर होना भावना, अनुप्रेक्षा तथा चिन्ता कहा जाता है। मनोयोग का निरोध ध्यान का प्रारंभिक स्वरूप है और अंतिम स्वरूप है तीनों योगों का पूर्ण निरोध। प्रथम धर्मध्यान, द्वितीय को शुक्लध्यान कहा जाता है। मध्य की स्थितियाँ धर्म एवं शुक्लध्यान की विविध भूमिकाएं हैं। शुक्लध्यान की तुलना समाधि के साथ की जा सकती है।

आचार्य हरिभद्रसूरि

पुरुष का अर्थ है—आत्मा तथा महापुरुष का अर्थ है—महान् आत्मा जिसके अस्तित्व में जनसाधारण से विशेष व महान् गुणों का आविर्भाव हुआ है। जिनका आदर्श स्वयं में एक आदर्श बन गया है। भगवान् महावीर की अहिंसा, बुद्ध की करुणा, राम की मर्यादा, मीरा की भक्ति वैसे ही आचार्य हरिभद्रसूरि स्वयं में योग का एक स्वर्णिम अध्याय बनकर रह गये। आप जैन समाज के सौभाग्य की एक पर्याय

थे। आपका समय वि० सं० ७५७ से ८२७ पर्यन्त 'हरिभद्रयुग' नाम से अभिहित किया गया है।

आपके प्रति श्री जिनेश्वर सूरि के वन्दनामय उद्गार कितने सार्थक हैं :—

आकाश मण्डल को प्रकाशित करने वाला सूर्य कहाँ ?
और स्वयं को उद्भासित करने वाला जुगनू कहाँ ?
वैसे ही आपके सद्वचन कहाँ ? और उनका
स्पष्टीकरण करने वाला मैं कहाँ ?[62]

आचार्य हरिभद्रसूरि चित्तौड़ के उद्भट ब्राह्मण विद्वान् थे। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि जिसकी कही हुई बात उन्हें समझ में नहीं आयेगी, वे उनका शिष्यत्व ग्रहण करेंगे। एक समय कारणवश जैन उपाश्रय के निकट खड़े हुए उन्होंने साध्वी याकिनी महत्तरा द्वारा उच्चारित एक प्राकृत गाथा सुनी, जो उन्हें समझ में नहीं आयी। तुरन्त प्रतिज्ञानुसार उनका शिष्यत्व ग्रहण करने हेतु तत्पर हो गए। यहाँ पर स्वयं की प्रतिज्ञा के प्रति उनकी प्रामाणिकता दृष्टिगोचर होती है। पश्चात् साध्वी याकिनी महत्तरा के निर्देशानुसार आचार्य जिनभद्र के पास दीक्षित हुए। साधना पथ पर गतिमान् होते हुए उनका द्रव्यश्रुत विकसित भावश्रुत रूप में परिणमित हुआ और जैन साहित्य आलोक में वे एक तेजस्वी नक्षत्र के रूप में उदित हुए।

वास्तव में आप एक प्रज्ञा पुरुष थे। उनकी युग प्रतिष्ठित बहुश्रुतता एवं नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के परिचायक योग, न्याय एवं जैन कथा साहित्य में जो रचनाएं प्रस्तुत की हैं वह उनके पश्चात् आने वाले आचार्यों के लिए प्रेरणास्रोत बनकर रह गयीं।

आगमों एवं नियुक्तियों में बिखरे हुए अंशों को एकत्रित व सूत्रबद्ध कर उस पर स्वयं के मौलिक चिन्तन के आधार पर उन्होंने जो योग विषयक ग्रंथ लिखे हैं वे बड़े ही अनूठे व अपने आप में एक नई शैली को लिए हुए है। उन्होंने जिस शैली का अनुसरण किया उसके दर्शन अन्यत्र नहीं होते। जनश्रुति अनुसार उन्होंने १४४४ प्रकरण ग्रंथों को जैन साहित्यधार में प्रवाहमान किया था। संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं पर आपका समान अधिकार था। आपने सांख्य, योग, न्याय, चार्वाक, बौद्ध

इत्यादि मतों पर आलोचनात्मक विवेचन भी प्रस्तुत किया है, परन्तु इस आलोचनात्मक विवेचन में भी आपने अन्य विचारकों के नामों को सादर उल्लेख किया है जो आपकी विनयशीलता व औदार्य का परिचायक है। जर्मन विद्वान हर्मन जैकोबी के शब्द हैं कि 'उन्होंने प्राकृत में लिखित जैनागमों की संस्कृत टीकाएं, निर्युक्तियां एवं चूर्णियाँ लिखकर जैन जैनेतर जगत् का अत्यंत उपकार किया हैं।'

योग-बिन्दु

परम पुरुष जिनेश्वर भगवन्त के चरण-पद्मों में श्रद्धायुत वंदनरूप मंगलाचरण के पश्चात् आचार्य हरिभद्रसूरि ने अनेकानेक विशिष्ट अभिव्यंजनाओं से युक्त योगबिन्दु नामक अतिमहत्वपूर्ण साहित्य कृति योग का विशद् वर्णन किया है। जिसमें हरिभद्रसूरि ने विभिन्न परंपराओं से उपरत हो उसके मूलतत्व का स्पर्श किया है। इस मूलतत्व का विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण-विवेचन उनके सम्प्रदायमुक्त व विशाल दृष्टि-कोण का परिचायक है। परंपराओं की विभिन्नता होते हुए भी समस्त संकेत और सभी दृष्टियाँ उसी एक तत्व की ओर है जिसे जैन एवं वेदान्त में पुरुष, सांख्य में क्षेत्रजित् और बोद्ध में ज्ञान कहा गया है। वैसे ही हिंसा-विरति को जैनदर्शन में व्रत और **पातंजल योग** में यम के नाम से जाना जाता है। इसी आधार पर आचार्य श्री ने सम्यग्दृष्टि एवं बोधिसत्व का निरपेक्ष तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है।

अव्याबाध सुख आपूरित शाश्वत जीवन प्रदान करने रूप अभ्यास, वह पथ है—योग। इस पथ का पथिक जीव तब होता है जब वह चरम पुद्गल परावर्तन में प्रवेश करता है अर्थात् कर्म शास्त्र की दृष्टि के अनुसार जब भव्य जीव आयुकर्म के सिवाय शेष सातकर्मों की स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम के भीतर कर अपूर्व परिणामों द्वारा राग-द्वेष को दुर्भेद्य ग्रंथि को तोड़ देता है। ऐसी परिपक्व अवस्था आने पर ही जीव योग का अधिकारी बनता है। उस समय उसके भीतर योग के प्रति उत्कृट अभिरुचि, प्रेरणा व अदम्य उत्साह जागृत होते हैं। जिसके आधार पर वह उत्तरोत्तर विकासोन्मुख अवस्थाओं को पार करता हुआ चरम-लक्ष्य निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

भाग्य और पुरुषार्थ का वर्णन करते हुए हरिभद्रसूरि ने योग-बिन्दु में कहा है कि यह दोनों तत्त्व व्यक्ति के जीवन में समान महत्त्व रखते हैं। इनमें से जो अधिक बलवान् होता है वह जीवन-परिस्थियों को प्रभावित करता है। चरम पुद्गल परावर्तन के पूर्ववर्ती परावर्तनों में भाग्य पुरुषार्थ पर हावी होता है अर्थात् भाग्य बलवान् और पुरुषार्थ क्षीण होता है। चरम पुद्गल परावर्तन में पुरुष की उत्कर्षता उत्तरोत्तर वर्धित होती है। पुरुषार्थ के माध्यम से जीव भाग्य को वश में कर लेता हैं। यही साधक की अवस्था है। इसे ही एक अन्य रूप से अन्तरात्म-भाव भी कहा गया है। तीन प्रकार की आत्माएं—बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा। पूर्ववर्ती परावर्तनों में स्थित जीव बहिरात्मा, चरम पुद्गल परावर्तन में प्रवेश करने पर पुरुषार्थ की तीव्रता बढ़ती तब वह अन्तरात्मभाव को उपलब्ध होता है। और यही भाव कारण बनकर कार्यरूप परमात्मभाव की उपलब्धि कराता है। चरम पुद्गल परावर्तन में स्थित जीव की विकासोन्मुख अवस्थाओं की चर्चा करते हुए पांच यौगिक अवस्थाएं वर्णित की गई है: (१) अध्यात्म (२) भावना (३) ध्यान (४) समता (५) वृत्तिसंक्षय।[53]

(१) **अध्यात्म**: अध्यात्मका सीधा सा अर्थ है—आत्मा का आत्मा में अधिष्ठित होना। स्व का स्व के सम्मुख होना। इसे योग-बिन्दु में इस प्रकार वर्णित किया गया है कि चारित्रगामी पुरुष का शास्त्रानुगामी तत्व-चिंतन, सेवित प्रमादमय भूलों को सम्यक् आलोचना व प्रतिक्रमण, देवादि के प्रति पूजनीयता तथा मैत्री आदि शुभ भावों से भावित अंतःकरण अध्यात्म कहलाता है।[54]

(२) **भावना**: सामायिक द्वात्रिंशिका के प्रथम श्लोक में आचार्य अमितगति ने चार भावनाएँ—मैत्री, प्रमोद, कारूण्य और माध्यस्थ को प्ररूपित किया है। जिसे बौद्ध दर्शन में चार ब्रह्म-विहार के नाम से जाना जाता है। अध्यात्मरत साधक को हरिभद्रसूरि ने इन्हीं उदात्तभावों को अंतकरण में उद्भूत कर उच्चत्तर आत्म-परिणामों को संप्राप्त करने हेतु निर्देश दिया है।

(३) **ध्यान**: शुभालम्बन पर चित्त की एकाग्रता ध्यान कहलाती है। जो दीपक की स्थिर लौ के समान स्थैर्य प्राप्त ज्योतिर्मय होता है तथा सूक्ष्म एवं गहनता युक्त होता है।

(४) **समता :** अविद्या द्वारा कल्पित इष्ट-अनिष्ट की वास्तविकता का बोध हो जाने पर इष्ट आकर्षण और अनिष्ट अनाकर्षण समाप्त हो, एक उपेक्षा, निःस्पृहता, निःसंगता का प्रादुर्भाव होता है उसे समता कहते है।[55]

(५) **वृत्तिसंक्षय :** आत्मा की कर्मों के साथ बन्ध होते रहने की जो अनादिकालीन वृत्ति है उसका संक्षय, सम्पूर्णरूप से क्षय हो जाना, मिट जाना वृत्ति संक्षय कहलाता हैं।[56] भावना, ध्यान और समता के सम्यक् अभ्यास से वृत्तिसंक्षय का आविर्भाव होता है।

योग की विभिन्न विधाओं की चर्चा करते हुए हरिभद्रसूरि ने साधन रूप जप सम्बन्धी उल्लेख भी किया है। उनके अनुसार जप किसी देव-मूर्ति के समक्ष, किसी द्रुमकुंज, सरोवर या नदीतट जैसे शुद्ध व नैसर्गिक स्थान पर करना चाहिए। जप में बाह्य-शुद्धि के साथ अंतरभावों का भी जपमय हो जाना अति-आवश्यक है। मन को हठपूर्वक जप में लगाने की अपेक्षा विक्षिप्तता का अनुभव होने पर कुछ समय विश्रांति के अनन्तर जप करना चाहिए। आचार्य श्री जी का यह सूचन उनके सहजतापूर्ण दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है।

साधनापथ पर अविरमित गति से बढ़ते हुए साधक प्रगतिसूचक संकेतरूप कुछ असाधारण विशिष्टताओं का भी अनुभव करता है। जैसे स्वप्न में देवदर्शन, किसी अन्य महापुरुष के दर्शन इत्यादि शुभ संकेतपूर्ण स्वप्नों का आना। यह स्वप्न मनोविकार जन्य न होकर यथार्थ प्रतीति से युक्त होते हैं तथा समय पाकर सत्य सिद्ध होते हैं।

कार्य-कारण भाव एक अटल वैधानिक नियम है। बिना कारण के कार्य घटित नहीं हो सकता, जो जैन-दर्शनानुसार पांच हैं। जिसे पंच-समवाय भी कहते हैं। यथा काल, स्वभाव, कर्म, नियति और पुरुषार्थ। हरिभद्रसूरि के अनुसार इसमें स्वभाव की प्रभुसता है। अन्य तत्वों के बीज स्वभाव में ही निहित हैं। वे इसी के सहायक रूप हैं।

हरिभद्रसूरि के मतानुसार चरम पुद्गलपरावर्तन में जो जीव नहीं है वे विभाववश सांसारिक भोगोपभोग में ही स्वयं को सुखी मानते हुए त्रिसंज्ञा आहार, भय और मैथुन में लिप्त रहते हैं। जिन्हें भवाभिनन्दी

की संज्ञा दी गई है।[57] ऐसे जीवों की धर्म-क्रिया केवल बाह्य-आडम्बर मात्र होती है जैसे श्रीमद् रायचंद्र ने आत्म-सिद्धि में कहा भी है।

"बाह्यक्रिया मां राचता अन्तर्भेद न कांई" भवाभिनन्दी की धर्म-क्रिया लोकानुरंजन तथा बाह्य-आडंबररूप हीन उद्देश्य से प्रेरित होने पर अंततः पापमय सिद्ध होती है। भवाभिनन्दी की यह धर्म-क्रिया लोकपक्ति कहलाती है।[58] और दुःख का कारण बनती है। फिर भी अनाभोगिक मिथ्यात्वी की लोकपक्ति रूप धर्म-क्रिया इतनी अनर्थकर नहीं होती पर हीन उद्देश्य को लेकर अभिगृहीत मिथ्यात्वी की धर्म-क्रिया अनर्थकर सिद्ध होती है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने **योग-बिन्दु** में चरम-पुद्गल परावर्तन को अतिमहत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। चरम पुद्गल परावर्तन में स्थित जीव ही उनकी दृष्टि में योग का अधिकारी हैं। इनके पूर्ववर्ती परावर्तनों में न ही वह योग सम्मुख होता है न ही वह यथार्थ धर्म-क्रिया के आचरण से युक्त हो सकता है।[59] कारण उस समय उसकी परिणामदशा रूप योग्यता ऐसी नहीं होती कि वह योग सम्मुख हो सके। जैसे घृत, दधि इत्यादि बनने रूप योग्यता तृण में समाहित होते हुए भी जब तक वह तृण अवस्था में है तब तक घृत आदि प्राप्त नहीं हो सकते। आचार्य श्री ने स्वयं इस तथ्य की पुष्टि आचार्य गोपेन्द्र का तत् सम्बन्धी मत प्रकट करके की है।

संकल्पपूर्ण योग मार्ग पर गतिमान् साधक के लिए हरिभद्रसूरि ने समर्पण भाव को भी पूर्वसेवा, देव-पूजन इत्यादि के रूप में यथोचित महत्ता प्रदान की है। गुरु तथा देव के प्रति निष्ठा व भाव आपूरित हृदय, उनके दर्शन-पूजन तथा भक्ति व भक्तिमार्ग के प्रति रुचि। अद्वेष भावना पूर्व-सेवा कहलाती हैं। गुरु का अर्थ एक विशेष व्यक्ति मात्र न लेकर विशद दृष्टिकोण से माता-पिता, कलाचार्य, वृद्ध पुरुष, धर्मोपदेष्टा इत्यादि सत्पुरुषों को गुरु रूप स्वीकार किया है। और इनके प्रति विनययुक्त व्यवहार समादरभाव, यथा समय वंदन-पूजन का विधान किया है।[60] देव-पूजा के सम्बन्ध में सभी देवों की समादर भाव से अथवा किसी देव-विशेष का अन्य देवों के प्रति अद्वेषभाव रखते हुए पूजन का विधान है। विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह है कि यह पूर्वसेवा भी चरम-पुद्गल परा-

वर्तन में ही योगांगरूप है अन्यथा पूर्ववर्ती परावर्तनों में वह सांसारिक आसक्ति से युक्त होने के कारण योगांगरूप नहीं होती।

दान धर्म का प्रवेश-द्वार है। इसके महत्व को सिद्ध करते हुए आचार्य श्री ने सदाचरित पुरुष के लिए दान को भी योग के अन्तर्गत स्वीकृत करते हुए व्रतों, साधु-संत, पोड़ित, दुःखीजन कों पात्र बतलाया है। हेम चन्द्राचार्य रचित योगशास्त्र में वर्णित मार्गानुसारी को तरह यहां पर सदाचरण रूप विशेष बातों का उल्लेखकर हरिभद्रसूरि ने धर्म के प्रति अपनी व्यवहारिक व समग्रतापूर्ण दृष्टि का परिचय दिया है। साथ ही चन्द्रायाण, कृच्छ्र, भृत्युध्व पापसूदन इत्यादि पाप-नाशक तप का भी उल्लेख किया है।[61]

सर्वज्ञता की चर्चा करते हुए सांख्य एवं अन्य दार्शनिकों के मत का निरसन करते हूए युक्ति-युक्त सर्वज्ञता की सिद्धि करते हुए इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि चेतना स्वयं ज्ञानमय है तथा चेतना और ज्ञान अभिन्न है जैसे अग्नि और उसकी उष्णता। अतः प्रत्येक अवस्था में चेतना ज्ञान-युक्त होती है। सांसारिक-अवस्था में कर्मावरण की तरतमतानुसार ज्ञान का प्रकटीकरण न्यूनाधिक हो सकता है पर सर्वथा अभाव असम्भव है। मुक्तावस्था सम्पूर्ण कर्म-क्षय की अवस्था है। अतः मुक्तात्मा सर्वज्ञता को उपलब्ध होती है।

अन्त में हरिभद्रसूरि का यह कथन अत्यन्त दृष्टव्य है कि प्रज्ञावान् पुरुष इस ग्रन्थ के मननीय तथ्यों पर चिंतनात्मक आलोचना कर स्वयं को इनमें से जो योग्य व सारभूत लगे उसे जीवन में समुचित स्थान प्रदान कर[63]। साथ ही वास्तविक महानता द्योतक अपनी लघुता प्रस्तुत करते हुए कहते है कि योग के महासागर से वह केवल योगबिन्दु रूप बूंद ही निकालकर समक्ष रख रहे है। इस महान् एवं प्रशस्त कार्य से जो पुण्य निष्पत्ति, शुभ संपत्ति अर्जित की है उसके हकदार स्वयं ही न होकर समस्त जीवों को भवरोग के संताप से विमुक्त कराने में सहायक बने ऐसी मंगल-भावना के द्वारा उन्होंने करुणा का शिखर-स्पर्श करने का अत्यन्त शुभ प्रयत्न किया है।

श्री सुव्रत मुनि जी पंजाब जैन स्थानकवासो परम्परा, में द्वितीय मुनि हैं जिन्होंने आचार्य हरिभद्रसूरि कृत 'योगबिन्दु पर समीक्षात्मक

अध्ययन करते हुए शोध ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ नवीन शैली को लिए हुए सभी योग परम्पराओं की एकात्मता का वर्णन करता है।

योग के समीक्षात्मक अध्ययन के लिए हरिभद्रसूरि का स्थान सर्वोच्च है। योग को उच्च स्थिति पर ले जाने के लिए उनका बहुत बड़ा योगदान रहा है। आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार सांसारिक दुःखों को समाप्त करने वाली सभी धार्मिक नैतिक शिक्षाएँ तथा आध्यात्मिक धाराएँ योग कहलाती हैं। योग के सही अभ्यास के लिए भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से चार भागों का अनुसरण किया जाता है—प्रेम, भक्ति, आगम ज्ञान और अनासक्त भाव से। योग भक्ति से सम्बन्ध जोड़ने का मूल तत्त्व है, उसकी प्राप्ति का साधन है।

आचार्य हरिभद्रसूरि की महत्वपूर्ण कृति 'योग बिन्दु' पर डा० श्री सुव्रत मुनि जी ने सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत किया है। प्रथम अध्ययन में योग का महत्त्व दर्शाते हुए भारतीय धर्म दर्शन के सन्दर्भ में योग का समीक्षण किया है। द्वितीय अध्ययन में जैन योग के प्रणेता आचार्य हरि-भद्रसूरि का समय, जीवनदर्शन, व्यक्तित्व और कृतित्व पर सुन्दर प्रकाश डाला है। तीसरे अध्ययन में योगबिंदु के आधार पर योग के अधिकारी और योग की पांच भूमियों का विशद विश्लेषण करते हुए योग साधना के विकास का वर्णन है। चतुर्थ अध्ययन में योग और ध्यान का सम्यक् विवेचन के साथ योग साधक के गुणस्थान ऊर्ध्वारोहण का क्रम बतलाया गया है। अन्त में भारतीय दर्शन में आत्मा का स्वरूप और जैनदर्शन से तुलनात्मक अध्ययन करते हुए आत्मा, कर्म, लेश्या और ध्यान पर गहन चिन्तन प्रस्तुत किया है।

वर्तमान में हमारी प्राचीन साधना विधियाँ, जो पूर्व जैनाचार्यों के जीवन का अनुप्राण थी, प्रायः लुप्त सी होती जा रही हैं। पुनः प्राचीन ग्रन्थों का अवगाहन कर उन साधना विधिओं को जनजीवन में संचारित किया जाए, यह आवश्यक हो गया है। जैसे आचार्य भद्रबाहु ने महाप्राण की साधना की थी तथा हरिभद्रसूरि और हेमचन्द्राचार्य के ग्रन्थों से भी उनके साधनामय जीवन के परिचय की झलक सम्प्राप्त होती है। मुनि श्री जी ने इस दिशा में एक अत्यन्त सार्थक पूर्ण प्रयास किया है जिससे प्रेरित होकर साधना इच्छुक, उत्साही मुनिजनों को इस ओर प्रयासरत रहना चाहिए।

परम श्रद्धेय उत्तर भारतीय प्रवर्तक पूज्य भण्डारी पद्मचन्द्र जी म० सा० जैन विद्या के अध्ययन/अध्यापन एवं प्रचार प्रसार में विशेष अभिरूचि रखते है। आपने वस्तुतः इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है। आपके ही अनुगामी सुशिष्य श्रद्धास्पद उपप्रवर्तक श्री अमरमुनि जी म० सा० जैन धर्म की महती प्रभावना कर रहे हैं। इसी शृंखला में आपने ही एक विद्वान् सन्त डॉ० सुव्रतमुनि जी म० सा० तैयार किए है। निश्चित ही जैन समाज के समक्ष आपका यह विद्वत्तापूर्ण सफल प्रयास है।

मुनि श्रीसुव्रत जी म० स्वभाव से मधुर, विचारों से उद्यमशील, कुशलवक्ता एवं उदीयमान लेखक हैं। आपकी कई सुन्दर रचनाएं पूर्व में प्रकाशित हो चुकी हैं। आपके प्रस्तुत शोध प्रबन्ध से युवापीढ़ी अवश्य ही अध्ययन की प्रेरणा लेकर योग ध्यान साधना में प्रवृत्त होगी। इसी मंगल मैत्री के साथ······

जैन स्थानक **शिवमुनि**
गंगावती
दिनांक २८-२-१९९१

सन्दर्भ

१. योगबिन्दु, गाथा ३७
२. संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते। योग वासिष्ठ, ६-१/१३/३
३. योगः सर्वविपद्वल्लीविताने परशुः शितः। आचार्य हेमचन्द्र, योगशास्त्र, १/५
४. विद्याद् दुःख संयोग-वियोगं योगसंज्ञितम्। गीता, ६/२३
५. संसारस्योस्य दुःखस्य, सर्वोपद्रवदायिनः।
उपाय एक एवास्ति, मनसः स्वस्य निग्रहः॥ योगवासिष्ठ ४/३५/२
६. तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन !॥ गीता, ६/४६
७. विवेक मार्तण्ड
८. अथ त्रिविधदुःखस्यात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। महर्षिकपिल, सांख्य सूत्र
९. स्थविरे धर्मं मोक्षं च। कामसूत्र, अ० २ पृ० ११
१०. मैत्रायणी आरण्यक, ६/३४-३

११. चेतोमहानदी उभयतोवाहिनी । वहति कल्याणाय वहति पापाय । च योग-सूत्र, व्यास-भाष्य
१२. तत्वार्थं सूत्र, १/१
१३. मोक्षोपायो योगो ज्ञान-श्रद्धान्-चरणात्मकः, अभिधान चिन्तामणि । १/७७
१४. चतुर्वर्गेऽग्रगी मोक्षो योगस्तस्य च कारणम् ।
ज्ञान-श्रद्धान चारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः ॥ योगशास्त्र, १/१५
१५. मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो ।
परिसुद्धे विन्नेओ ठाणाइगओ विसेसेण ॥ योगविंशिका, १
१६. मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते । द्वात्रिंशिका
१७. अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः ।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥ योगबिन्दु, ३१
१८. योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ गीता, २/४८
१९. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । योग-सूत्र १/१२
२०. संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनो ।
२१. अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ । उत्तराध्ययनसूत्र
२२. दे० गीता ३/३
२३. सम्यग्योग निग्रहो गुप्तिः । तत्वार्थसूत्र अ० ९, सू ४
२४. तओ गुत्तीओ पण्णत्ताओ, तं जहा-मणगुत्ती-जाव-कायगुत्ती ।
स्था० ३/१/३२६
२५. पंच समिईओ पण्णत्ताओ, तं जहा-ईरिया समिई—जाव-पारिट्ठावणिया समिई । स्था० अ० ५/३/४५७
२६. दुगमित्थकम्म जोगो तहा तियं नाण जोगो उ
ठाणुन्नत्थालंबण-रहिओ तन्तम्मि पंचहा ऐसो । योगविंशिका, २
२७. इक्किक्को य चउद्धा इत्थं पुण तत्तओ मुणेयव्वो ।
इच्छापवित्ति थिरसिद्धिभेयओ समयनीई ए ॥ वही, ४
२८. तज्जुत्त कहापीईइ संगया विपरिणामिणी इच्छा ।
सव्वत्थुवसमसारं तप्पालणमो पवत्ती उ ॥
तह चेव एयबाहग-चिंतारहियं थिरत्तणं नेयं ।
सव्वं परत्थसाहग-रूवं पुण होइ सिद्धि त्ति ॥ वही, ५, ६
२९. एयं च पीइभत्तागमाणुगं तह असंगया जुत्तं ।
नेयं चउव्विहं खलु एसो चरमो हवइ जोगो ॥ वही, १८

३०. इहैवेच्छादियोगानां स्वरूपमभिधीयते ।
योगिनामुपकाराय व्यक्तं योगप्रसंगतः ॥ योगदृष्टि समुच्चय, २

३१. कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादतः ।
विकलो धर्मयोगो यः स इच्छायोग उच्यते ॥ वही, ३

३२. शास्त्रयोगस्त्विह ज्ञेयो यथाशक्त्य प्रमादिनः ।
श्रद्धस्य तीव्रबोधेन वचसाऽविकलस्तथा ॥ वही, ४

३३. शास्त्रसन्दर्शितोपाय स्तदति क्रान्त गोचरः ।
शक्त्युद्रेकाद्विशेषेण सामर्थ्याख्योऽयमुत्तमः ॥ वही, ५

३४. आचारांग वृत्ति, मूलपत्र ३१२ (आचारांग सूत्र, सं० युवाचार्य मधुकर मुनि जी पृ० ३३६)

३५. आयत जोग मायसोहीए । आचारांगसूत्र ६/४/१०६

३६. अधिक के लिए देखिए—युवाचार्य मधुकर मुनि जी द्वारा सं० आचारांग सूत्र, पृ० ३३६

३७. मुख्ये तु तत्र नैवासौ बाधकः स्याद् विपश्चिताम् ।
हिंसादिविरतावर्थे यमव्रतगतो यथा ॥ योगबिन्दु, २९

३८. समवायांगसूत्र, बत्तीसवा समवाय । योगसंग्रह

३९. योगशास्त्र, चतुर्थप्रकाश, १२४

४०. स्थिरसुखमासनम् । योगदर्शन २/४६

४१. योगशास्त्र, चतुर्थप्रकाश, १३४

४२. स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः । योग-दर्शन २/५४

४३. पडिसंलीणया चउव्विहा पण्णत्ता । तंजहा—(१) इंदियपडिसंलीणया (२) कसाय पडिसंलीणया (३) जोग पडिसंलीणया (४) विवित्तसयणासणसेवणया । औपपातिक तपोधिकार ।

४४. त्रयमेकत्र संयमः । योगसूत्र ३/४

४५. देश बन्धश्चित्तस्य धारणा । वही ३/१

४६. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । वही ३/२

४७. तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधिः । वही ३/३

४८. ध्यानं निर्विषयं मनः । महर्षिकपिल, सांख्यदर्शन ६/२५

४९. एगग्ग संन्निवेसेण निरोहं जणयइ । उत्तराध्ययन २९/२७

५०. एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् । तत्वार्थसूत्र ९/२६

५१. चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि छउमत्थाणं झाणं । ध्यानशतक, ३

५२. सूर्यप्रकाश्यं क्व नु मण्डलं दिवः
खद्योतकः क्वास्य विभासनोद्यतः।
क्व धीरा गम्यं हरिभद्र सद्वचः
क्वाधीरहं तस्य विभासनोद्यतः॥—जिनेश्वर सूरि
५३. योग-बिन्दु, गा० ३१
५४. वही, गा० ३५८
५५. वही, गा० ३६४
५६. वही, गा० ४०५
५७. वही, गा० ८६
५८. वही, गा० ८८
५९. वही, गा० ९४
६०. वही, गा० १११—११५
६१. वही, गा० १३१
६२. वही, गा० ५०७

प्राक्कथन

जीवन में प्रारब्ध से वातावरण और संगति का महत्व अधिक होता है। शुभ वातावरण एवं संसर्ग में रह रहे बाल मन पर पड़े हुए संस्कार बड़े प्रबल होते हैं। मेरा बचपन प्रायः अपने बाबा जी के चरणों में ही बीता है। वे प्रभु के परम भक्त थे और प्रायः रात्रि में ईश्वर भक्ति में तल्लीन हो जाया करते थे तब मैं भी उनकी इस तल्लीनता का कभी-कभी अनुकरण करता था। उनके इस भक्तिमय वातावरण एवं संगति तथा उनकी दृढ़ आस्था और अनुरक्ति ने मुझमें भी ऐसे ही भाव भर दिए कि आगे चलकर इसी प्रभाव के कारण मेरा मन आध्यात्मिकता की ओर आकृष्ट हुआ और मैंने सन्यास ले मुनि बाना धारण कर लिया।

मुनि का लक्ष्य भवसागर से पार होना है, जो कि योग के द्वारा ही सम्भव है जैसे कि **उत्तराध्ययनसूत्र** में भी कहा है कि—

जोए वहमाणस्स, संसारो अइवत्तई। (२७.२)

अर्थात् योग युक्त साधक संसार सागर को पार कर जाता है। जिस प्रकार अग्नि से स्वर्ण शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार अविद्या और अज्ञानमल से मलिन आत्मा भी योगरूपी अग्नि से शुद्ध हो जाता—

मलिनस्य यथाहेम्नोवह्नेः शुद्धिर्नियोगतः।
योगाग्नेश्चेतसस्तद्वदविद्यामलिनात्मनः।। योगबिन्दु, श्लोक ४१

योग की इसी महिमा से मेरा मन योग के विशेष अध्ययन के लिए उत्प्रेरित हुआ।

अपनी इस मनीषा की चर्चा जब मैंने विद्वानों से की तो उन्होंने मेरे साधक जीवन को ध्यान से रखते हुए किसी योग परक ग्रन्थ पर कार्य करने का परामर्श दिया। पूज्य गुरुदेव उत्तर भारतीय प्रवर्तक श्रीभण्डारी पद्मचन्द्र जी महाराज ने आचार्य हरिभद्रसूरि के महत्व

पूर्ण ग्रन्थ **योगबिन्दु** का नाम सुझाया। अपनी भावना को लेकर जब मैंने स्वनाम धन्य डा० गोपिकामोहन भट्टाचार्य, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र से परामर्श किया तो उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक इस पर शोध कार्य करने की अपनी स्वीकृति प्रदान की।

आचार्य हरिभद्रसूरि जैनदर्शन के ही नहीं भारतीय वाङ्मय के उद्भट विद्वान् एवं योगविद्या के प्रौढ़ ज्ञाता थे। उनके विषय में यह भी स्पष्ट है कि आर्हत परम्परा में आचार्य हरिभद्रसूरि ही एक ऐसे दिव्य जीवन वैभव को लेकर उद्भाषित हुए जो अनेक दृष्टियों से अनुपम और अद्भुत थे। वे प्रारम्भ में चित्रकूट या चितौड़ के राजपुरोहित पद पर सुशोभित थे। एक विशेष घटना से उनकी आस्था जैनधर्म के साथ सम्पृक्त हुई। उनका अथाह ज्ञान अन्तर्मुखी हुआ और वे संसार-वासना से विरक्त होकर श्रमण जीवन में दीक्षित हो गए। शीघ्र ही अपने सतत् परिश्रम एवं क्षयोपशमजन्य प्रतिभा के बल से उन्होंने जैनधर्मदर्शन पर असाधारण अधिकार प्राप्त कर लिया। आगे चलकर उन्होंने अल्पसमय में ही मुमुक्षुजनों के कल्याण हेतु अनेक ग्रन्थों की रचना की। जो आगम व्याख्या और धर्मदर्शन आदि अनेक रूपों में प्रकाश में आए हैं। विद्वानों की दृष्टि से आपका समय सन् ७५७ से ८२७ तक माना जाता है।

जैन वाङ्मय के क्षेत्र में उनकी एक अनुपम देन है—उनका जैन योग साहित्य। आचार्य हरिभद्रसूरि की यह प्रमुख विशेषता है कि उन्होंने अपनी उच्च-एवं उदार दृष्टि से स्व-पर पन्थ का भेद किए बिना प्रत्येक से गुणग्रहण किया है। उनकी यह दृष्टि उनके योग साहित्य में स्पष्ट परिलक्षित होती है। हरिभद्रसूरि ने योगपरक चार रचनाएं लिखी हैं इनमें **योगबिन्दु** महत्वपूर्ण और असाधारण रचना है।

आचार्य हरिभद्रसूरि का यह ग्रन्थ अनेक योग परम्पराओं में प्रतिष्ठित ग्रन्थों के पूर्ण और यथार्थ अवगाहन के फल स्वरूप प्रणीत हुआ है। इसमें किसी रूढ़ परिभाषा अथवा शैली का आश्रय न लेकर एक नूतन शैली में सभी योग परम्पराओं के योग विषयक मन्तव्यों में एकता और अविरोध की स्थापना की गई है जैसा कि स्वयं ने कहा भी है—

सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन तत्त्वतः।
सन्नीत्यास्थापकं चैव मध्यस्थांस्तद्विदः प्रति। योगबिन्दु, श्लोक २

अर्थात् 'योगबिन्दु' में सभी योग शास्त्रों में जो मूलगामी अविरोधी वस्तु है उसी की स्थापना की गयी है। इसी कारण मैंने 'योगबिन्दु' को अपने शोध का विषय चुना है।

इसमें योग की परम्पराओं के विचारों को दृष्टि में रखते हुए 'योग-बिन्दु' में आगत योग विषयक तत्त्वों का सम्यक् अध्ययन किया गया है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर प्रकृत प्रबन्ध को भी पांच अध्यायों में वर्गीकृत किया गया है।

प्रथम अध्याय **भारतीयवाङ्मय में योग साधना और योगबिन्दु** में योग का माहात्म्य, योग शब्द का अर्थ विश्लेषण करते हुए उसकी व्याख्या विभिन्न मतों के आधार पर की गई है। फिर योग विषयक वाङ्मय विशेषकर वैदिक, बौद्ध एवं जैन योग परक ग्रन्थों में योग को महत्ता पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। अन्त में 'योगबिन्दु' के सन्दर्भ में योग का समीक्षण किया गया है।

दूसरे अध्याय में **योगबिन्दु के प्रणेता आचार्य हरिभद्रसूरि** के प्रामाणिक जीवनवृत्त को प्रस्तुत किया गया है। युक्ति युक्त तथ्यों के द्वारा उनका समय निर्धारण करते हुए सूरि के अनुपम और गौरवशाली व्यक्तित्व की विविध विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है, इसमें विशेषकर उनका साधुत्व, समाजसेवा, गुरुभक्ति, साहित्यिकदेन, उनकी शैलो और दूसरे विद्वानों के प्रति उनकी उदारता आदि गुणों को प्रस्तुत किया गया है। इसी में आचार्य हरिभद्रसूरि के कृतित्व का भो उल्लेख करते हुए उनको बहुमान्य प्रमुख-प्रमुख रचनाओं का समुचित परिचय आदि भी दिया गया है।

योगबिन्दु की विषय वस्तु नामक तीसरे अध्याय में योग के अधिकारा एवं अनधिकारी की चर्चा हुई है। योगबिन्दु में वर्णित योग भूमियों-**अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय** का यथोचित ढंग से वर्णन किया गया है और पुनः योग के विकास क्रम की विस्तार से चर्चा की गई है।

योगः ध्यान और उसके भेद नामक चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में ध्यान की महिमा का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद योग के सन्दर्भ में गुणस्थानों का भी क्या महत्व है? इसका विवेचन किया गया

है। साधक छठे गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक की श्रेणी को कैसे पार करता है ? इस पर भी विशेषरूप से यहां प्रकाश डाला गया है।

पांचवे अध्याय **योगबिन्दु और तत्त्वविश्लेषण** में जैन दृष्टि से आत्मा का स्वरूप उसका कर्तृत्व, भोक्तृत्व तत्त्वज्ञत्व तथा उसके सर्वज्ञत्व पर जैन दृष्टि से समीक्षात्मक अध्ययन किया गया है। इसके अतिरिक्त यहां आठकर्मों का वर्गीकरण कर जीव के साथ उनके सम्बन्ध का भी विवेचन किया गया है। इसके बाद कर्म उनका कर्तृत्व-अकर्तृत्व और कर्म एवं लेश्या एवं उनका परस्पर सम्बन्ध आदि विषयों को चर्चा करते हुए लेश्या के भेद एवं महत्व पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में योग और उसके फल>ज्ञान तथा मुक्ति मार्ग : सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पर चर्चा की गई है। अनन्तर बन्ध और उसके कारणों का विवेचन करके निर्वाण के स्वरूप को समझाया गया है। इस प्रकार योगबिन्दु के परिप्रेक्ष्य में जैनयोग विषयक तत्त्वों का विश्लेषण एवं समीक्षण करने का प्रयास किया है।

इस शोध प्रबन्ध के सन्दर्भ मैं सर्वप्रथम में पूज्य गुरुदेव परमकृपालु, उत्तरभारतीय प्रवर्तक श्री भण्डारी पद्मचन्द्र जी महाराज एवं परम श्रद्धेय गुरुदेव श्री अमर मुनि जी महाराज का अतीव कृतज्ञ हूं और उनकी अपार कृपादृष्टि एवं शुभ-आशीर्वादों को इसका मूल स्रोत मानता हूं। आपका सम्यक् निर्देशन स्नेह एवं प्रेरणा निरन्तर मिलती रही है। आपके असीम कृपाभाव को शब्दों की परिसीमित परिधि में नही बांधा जा सकता। आपका मैं चिरऋणी हूं। आपके चरणों में आते ही आपने मुझे विद्याध्ययन में प्रवृत्त किया और यहां तक पहुंचाया है। अतः यह सब आपकी कृपा का प्रसाद है। जो इस रूप में प्रकट हुआ है।

श्रद्धेय प्रवर विद्वद्रत्न श्री रत्न मुनि जी महाराज का भी मैं कृतज्ञ हूं। जो मेरे विद्या व्यासंग मैं मुझे प्रारम्भ से ही सहयोग देते रहे हैं और इस शोध कार्य में भी कई ग्रंथ उपलब्ध कराए हैं।

परम श्रद्धेय उपप्रवर्तक तपस्वी श्री सुदर्शन मुनि जी महाराज एवं उपप्रवर्तक परमादरणीय श्री प्रेमसुख जी महाराज का शुभ आशीर्वाद तथा उदार सहयोग मुझे समय-समय पर मिलता रहा है। अतः इनका भी मैं आभारी हूं। महासती साध्वी रत्न श्री पवनकुमारी जी महाराज

की सुशिष्या साध्वी श्री जितेन्द्र कुमारी जी महाराज ने भी अनेक ग्रंथ इस कार्य में उपलब्ध कराए हैं। अतः मैं उनके मंगलमय भविष्य की की कामना करता हूं।

श्रमणसङ्घीय युवाचार्य डा० शिवमुनि जी महाराज का भी में चिरऋणी हूं जिन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ की प्रस्तावना लिखकर मुझे अनुगृहीत किया है। आपका सहयोग सदैव स्मरण रहेगा और भविष्य में भी ऐसे ही सहयोग की अपेक्षा के साथ आपका धन्यवाद करता हूं। यहां मैं महासती परम विदुषी उपप्रवर्तिनी साध्वी रत्न श्री रविरश्मि जी महाराज का भी साधुवाद करता हूं ग्रंथ प्रकाशन में जिनकी महती प्रेरणा रही है।

मेरे इस भागीरथ कार्य में द्वितीय स्थान है विद्वद्वर्य स्व० डॉ० गोपिकामोहन भट्टाचार्य अध्यक्ष, संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र का। उनकी सहृदयता और निष्काम उदारता से ही मेरा विषय विश्वविद्यालय में स्वीकृत हुआ, उनकी मूक प्रेरणा ज्ञान-साधना में मुझे प्रतिपल मार्ग दर्शन प्रदान करती रहेगी। उनके प्रति मेरा हार्दिक धन्यवाद है।

इस शोध प्रबन्ध के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण स्थान है धर्मनिष्ठ, सन्त सेवक डॉ० श्रीयुत, धर्मचन्द्र जैन, पालि प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र का। जिनके आत्मीयतापूर्ण उदारमार्ग दर्शन में मैंने यह शोध प्रबन्ध तैयार किया है। आप से समय-समय पर बहुमूल्य सुझाव तो मिले ही, साथ में कितने ही अप्राप्य ग्रंथों को भी आपने निजी संग्रह और विभागीय पुस्तकालय से उपलब्ध कराकर हर प्रकार से सहायता दी है। उनकी इस उदारता के लिए मैं हृदय से आभारी हूं और भविष्य में भी इसी उत्तम सहयोग की आकांक्षा के साथ आपके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं।

डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी, लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्या पीठ, दिल्ली डॉ० जे० सी० राय प्रधानाचार्य, एम० एम० एच० कालेज, गाजियाबाद एवं प्रो० ज० महेशचन्द भारतीय गाजियाबाद का भी मैं आभार मानता हूं। आप सभी से मुझे अनेक बहुमूल्य सुझाव और सहयोग प्राप्त हुए हैं। जैन धर्म दर्शन के प्रौढ़ विद्वान् श्री जयप्रसाद त्रिपाठी का भी सादर स्मरण करता हूं जिन्होंने भी समय-समय पर

अनेक उपयोगी सुझाव दिए हैं।

इस अवसर पर मैं अपने परम उपकारी समादरणीय पितामह श्री बनवारी लाल जी उपाध्याय का भी श्रद्धापूर्ण स्मरण करता हूं जिनकी दयादृष्टि से ही मैं ज्ञानाराधन में और युवावस्था मे अध्यात्म साधना में प्रवृत्त हुआ हूं। मैं उनका अत्यन्त ऋणी हूं। श्री रामपाल जी शर्मा एवं अपने अग्रज श्रीकृष्णपाल उपाध्याय के योगदान की भी मंगल कामना करता हूं। सुश्रावक श्री जे० डी० जैन गाजियाबाद की सेवाभक्ति भी इस कार्य में प्रशंसनीय है। अतः गुरुभक्तों का भी साधुवाद करता हूं जिन्होंने इस ग्रंथ के प्रकाशन में अपना उदार आर्थिक सहयोग दिया है। श्री के० एल० जैन एवं मास्टर श्री उग्रसेन जैन सफीदों तथा श्री सुशील कुमार जैन अम्बाला छावनी का भी साधुवाद करता हूं जिनका समय व समय सहयोग हमें मिलता रहा।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्याल कुरुक्षेत्र की लायब्रेरी के प्रबन्धकों को भी मैं साधुवाद देता हूं जिन्होंने मुझे अनेक ग्रंथ उपलब्ध कराए हैं। आचार्य श्री अमरसिंह जैन पुस्तकालय मानसा मण्डी के प्रबन्धकों का भी साधुवाद है जहां के भी कई ग्रंथों का मैंने सदुपयोग किया। प्रकाशक, मंत्री श्री आत्मज्ञानपीठ, मानसा मण्डी को भी साधुवाद देता हूं जिनके परामर्श से प्रकृत ग्रंथ का प्रकाशन सम्भव हो सका। श्री यशपाल जी सहगल मालिक मुद्रक प्रैस तथा उनके सभी सहयोगियों का भी मैं धन्यवाद करता हूं जिनकी तत्परता, लगन एवं सौजन्य से ग्रथ प्रकाशन में महती सहायता मिली है। अन्त में मैं उन सभी महानुभावों के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रगट करता हूं जिनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष- रूप से मुझे सहयोग प्राप्त हुआ है।

विजय दशमी —सुव्रत मुनि शास्त्री

जैन स्थानक,

गन्नौर मण्डी, सोनीपत (हरियाणा)

दिनांक १७-१०-१९९१

संकेत विवरण

अंगु० नि०	:	अंगुत्तर निकाय
अध्या० रा०	:	अध्यात्म रामायण
अनु०	:	अनुवाद
अभि० को० भा०	:	अभिधर्म कोश भाष्य
अभि० दे० बौ० सि० वि०	:	अभिधर्म देशना : बौद्ध सिद्धान्तों का विवेचन
अभि० प्र०	:	अभिधम्मत्थसंग्गहो प्रकाशिनी टीका
अयो० का०	:	अयोध्याकाण्ड
अर्थविनि०	:	अर्थविनिश्चयसूत्र निबन्धन
आ०	:	आस्रव (आश्रव)
आ० नि०	:	आवश्यकभाष्यनियुंक्ति
उ०	:	उद्देश
उत्त०, उत्तरा० सू०	:	उत्तराध्ययनसूत्र
उपदेश पद प्र०	:	उपदेशपद प्रकरण
उपा० दशाङ्ग०	:	उपासकदशाङ्गसूत्र
ऐतरेय ब्रा०	:	ऐतरेयब्राह्मण
कीजि०	:	कीजिए
कुवलयमा०	:	कुवलयमालाकहा
गा०	:	गाथा
गो०	:	गोम्मट्टसार
जिनसहस्र०	:	जिनसहस्रनाम स्तोत्र
ज्ञाना०, ज्ञानार्ण०	:	ज्ञानार्णव
त०सू०, तत्त्वा०, तत्त्वा० सू०, तत्त्वार्थसू०	:	तत्त्वार्थसूत्र
तत्त्वानु०	:	तत्त्वानुशासन
तत्त्वार्थवा०	:	तत्त्वार्थवार्तिक
तु०	:	तुलना
द०	:	दर्शन
दशवै०	:	दशवैकालिक सूत्र

दे०	:	देखिए
ध्या०श०, ध्यानश०	:	ध्यानशतक
नं०	:	नम्बर
नो०	:	नोट
टी०	:	टीका
पंचवि०	:	पंचविंशति
परमात्मप्र०	:	परमात्मप्रकाश
परि०	:	परिशिष्ट, परिशीलन
पा० यो०	:	पातञ्जलयोगसूत्र
पा० यो० द०, पात० यो० द०	:	पातञ्जलयोगदर्शन
पुग्गलप०	:	पुग्गलपञ्ञाति
पृ०	:	पृष्ठ
प्र०	:	प्रथम, प्रकरण
प्र० अ०	:	प्रथम अध्ययन
बार० अनु०	:	बारह अनुप्रेक्षा
बु० च०, बुद्ध० च०	:	बुद्धचरित
भगवतीआ०	:	भगवती आराधना
भा०	:	भाग
भा०	:	भावना
भा० श०	:	भाव शतक
भू	:	भूमिका
म० नि०, मज्झिमनि०	:	मज्झिमनिकाय
महापु०	:	महापुराण
मि०	:	मिलाइए
मिलिन्द०	:	मिलिन्दपञ्ह (मिलिन्दप्रश्न)
यो०दृ०समु०, योग दृ० स०, योगदृष्टि समु०	:	योगदृष्टिसमुच्चय
यो० प्र०	:	योग प्राभृत
यो० बि०	:	योगबिन्दु
यो० वि०, योगवि०	:	योगविंशिका
यो० श०	:	योगशतक
यो० शा०	:	योगशास्त्र
ललित०	:	ललितविस्तर

लोकतत्वनि०	:	लोकतत्वनिर्णय
वि०	:	विवरण
वैशेषिक द०	:	वैशेषिक दर्शन
विसु०	:	विसुद्धिमग्ग
शा० रस०	:	शान्तसुधारस
शा०वा०समु०, शास्त्रावार्ता समु०		
शास्त्र०वा०, शास्त्रवा० समु०	:	शास्त्रवार्तासमुच्चय
श्लो०	:	श्लोक
श्रु०	:	श्रुतस्कन्ध
षोडषक०	:	षोडषकप्रकरण
षड्० समु०, षड्दर्शनसमु०	:	षड्दर्शनसमुच्चय
सं० नि०	:	संयुक्त निकाय
समदर्शी हरि०	:	समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि
सम० हरि०	:	समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि
समु०	:	समुच्चय
सर्वा० सि०	:	सर्वार्थसिद्धि
सू०	:	सूत्र
सूत्रकृत०	:	सूत्रकृतांग
स्था०	:	स्थानांगसूत्र
स्वा०	:	स्वामी
स्वामीका०	:	स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा
हरि० प्र० क० सा० आ०	:	हरिभद्रसूरि के कथासाहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन
हरि० चरि०	:	हरिभद्रसूरिचरित
हि० अनु०	:	हिन्दी अनुवाद

विषय सूची

योग बिन्दु के परिप्रेक्ष्य में जैनयोग साधना
का
समीक्षात्मक अध्ययन

परिच्छेद–प्रथम

भारतीय वाङ्मय में योगसाधना और योगबिन्दु

(क) योग का माहात्म्य :

योग साधना का प्रारम्भ कब हुआ ? इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कह पाना सम्भव नहीं है फिर भी लगता है और जैसे कि सभ्यता के अवशेषों में प्रमाण भी मिलते हैं, योग साधना का प्रचलन तभी से हुआ होगा जब मानव ने अपने जन्म के बाद बोलना सीखा, कारणकि चिन्तन, मनन एवं विजनन शक्ति मानव के स्वाभाविक गुणों से भिन्न नहीं है।

प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति की खोजों से ज्ञात होता है कि योग, साधना, ध्यान लगाना, कायोत्सर्ग करना, पद्मासन मुद्रा में ध्यानमग्न होना आदि वैदिककाल से भी पहले के भारतीयों की दैनिक चर्या का एक महत्त्वपूर्ण अंग था।

उपलब्ध वेद, बौद्ध एवं जैनागम, उपनिषद्, पुराण, दर्शन एवं कर्मकाण्ड तथा ज्ञानप्रधान समस्त पौर्वात्य एवं पाश्चात्य दर्शन योग, समापत्ति एवं ध्यान साधना की महिमा से ओतप्रोत है। वैदिक युग से लेकर आधुनिकयुग तक भी हम देखें तो पाते हैं कि आज भी योग की वही महिमा, गरिमा एवं उतनी ही अधिक आवश्यकता है जितनी कि पहले थी। पौर्वात्य ही क्या, समस्त पाश्चात्य जगत के मानव आज योग साधना के रहस्य की खोज में भटक रहे हैं। अतः योग का माहात्म्य स्वतः सिद्ध हो जाता है। हरिभद्रसूरि के वचनों में भी योग सर्वश्रेष्ठ, कल्पवृक्ष, चिन्तामणिरत्न, सभी धर्मों में प्रधान और सिद्धिरूप मोक्षपद प्राप्ति का सुदृढ़ सोपान है।[1] वास्तव में योग ही भयंकर भवरोग के समूलघात की रामबाण औषधि है।

---

१. योगः कल्पतरु श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणिः परः।
योगः प्रधानं धर्माणां योगः सिद्धेः स्वयंग्रहः ॥ योगबिन्दु, श्लो० ३७

योग शब्द का अर्थ :

'योग' शब्द संस्कृत में 'युज् धातु' में 'घञ्' प्रत्यय के मेल से बनता है। यद्यपि संस्कृत व्याकरण में 'युज्' नाम की दो धातुएं मिलती हैं, इनमें से एक का अर्थ 'जोड़ना' है[1], जबकि दूसरी का 'मनः समाधि'[2] अर्थात् 'मन को स्थिर करना' है। सामान्यतया दर्शन में योग का अर्थ-सम्बन्ध करना अथवा चित्त को स्थिर करना ही लिया गया है।

वैदिक साहित्य में योग शब्द :

प्राचीन साहित्य में सर्वप्रथम **ऋग्वेद** में 'योग' शब्द मिलता है, यहां इसका अर्थ 'जोड़ना' मात्र है।[3] ईसा पूर्व ७ वीं शदी तक रचित साहित्य में 'योग' शब्द 'इन्द्रियों को प्रवृत्त करना' इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा ई०पू० ५ वीं से ६ वीं शदी तक रचित साहित्य में इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना' इस अर्थ में 'योग' शब्द का प्रयोग हुआ है'[4] जबकि उपनिषद् साहित्य में योग पूर्णतः आध्यात्मिक अर्थ में मिलता है[5]। कुछ एक उपनिषदों में योग साधना का विस्तृत वर्णन मिलता है।[6]

इस प्रकार **ऋग्वेद** में जोड़ने के अर्थ में प्रयुक्त 'योग' शब्द उपनिषद् काल तक आते-आते शरीर, इन्द्रिय एवं मन को स्थिर करने की साधना के अर्थ में भी प्रयोग किया जाने लगा।

महाभारत में योग के विभिन्न अंगों का विवेचन प्राप्त होता है।[7] **स्कन्दपुराण** में कई स्थानों पर योग की चर्चा है।[8] **भागवतपुराण** में

१. 'युजृ्ंयोगे' । हेमचन्द्र धातु पाठमाला, गण-७
२. 'युजि च समाधौ:' । वही, गण-८
३. क त्न धा नो योग आ भुवत्, नधीनां योगमिन्विति ।
ऋग्वेद १. ५. ३; १. १८. ७
४. दार्शनिक निबन्ध (अंग्रेजी), पृ० १७९
५. अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।
कठोपनिषद् १, २, १२
६. दे० योगराजोपनिषद् अद्वयतारकोपनिषदादि
७. दे० महाभारत, शान्ति०, अनुशासन० और भीष्मपर्व
८. दे० स्कन्दपुराण, भाग १, अ० ५५

योग की चर्चा के साथ-साथ 'अष्टांगयोग' की व्याख्या, गरिमा तथा योग से प्राप्त होने वाली अनेक लब्धियों का वर्णन किया गया है।[1] **योगवाशिष्ठ** के छह प्रकरणों में योग के विभिन्न सन्दर्भों की व्याख्या आख्यानकों के माध्यम से की गई है।[2]

'योग' शब्द इस समय तक आते-आते इतना व्यापक और प्रचलित हो गया था कि गीता[3] के अठारह के अठारह अध्याय 'योग' और साधना के उपदेशों से ओतप्रोत है। वहां मिलता है जैसे—'ॐ' तत्सत् इति **श्रीमद्भगवत् गीता** उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुन-विषादयोगो नाम प्रथमोऽध्याय :।

पातञ्जलयोगदर्शन चित्तवृत्तिनिरोध को योग बतलाता है।[4] इसके अतिरिक्त '**न्यायदर्शन**' में भी योग को उचित स्थान दिया गया है[5]। **वैशेषिकदर्शन** के प्रेणता कणाद ने यम-नियम आदि पर काफी जोर दिया है[6] जबकि **ब्रह्मसूत्र** के तीसरे अध्याय में आसन एवं ध्यान आदि योग के अङ्गों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसी कारण से सम्भवत: महर्षि ने इसका नाम ही साधनापाद रखा है।[7]

सांख्यदर्शन में भी योग विषयक अनेक सूत्र मिलते हैं।[8] **तन्त्रयोग** के अन्तर्गत आदिनाथ ने हठयोग सिद्धान्त की स्थापना की है।[9] इसका उद्देश्य यौगिक क्रियाओं द्वारा शरीर के अंग-प्रत्यंग पर प्रभुत्व तथा मन की स्थिरता प्राप्त करना है। **महानिर्वाणतन्त्र** और **षटचक्रनिरूपण**

---

१. दे० भागवतपुराण २. २८. ११. १५. १६. २०
२. दे० योगवाशिष्ठ, वैराग्य, मुमुक्षु, व्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम और निर्वाण प्रकरण
३. दे० श्रीमद्भगवद्गीता, अ० प्रथम का अन्त
४. दे० पात०यो० द०, १,२
५. दे० न्यायदर्शन, ४. २. ३६; ३. २. ४०; ४०. २. ४६
६. दे० वैशेषिकदर्शन, ६. २. २. ८
७. दे० ब्रह्मसूत्र, ४.१.७.११
८. रागोपहित ध्यानम्। सांख्यसूत्र, ३. ३०
वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धि। वही, ३. ३१
९. महानिर्वाणतंत्र, अध्याय-३

ग्रन्थों में योगसाधना का विस्तार पूर्वक वर्णन हुआ ।[1]

बौद्धदर्शन में योग शब्द :

भगवान् बुद्ध ने योगसाधना को विरासत में प्राप्त किया था। अत: उन्होंने ज्यों का त्यों तो नहीं, कुछ परिवर्तन के साथ उसे अपने वचनों में ग्रहण कर लिया। अराडकलाम और उद्दकरामपुत्र जैसे ध्यानयोगी आचार्य भगवान् बुद्ध के गुरु थे। इन आचार्यों के अन्य शिष्यगण भी यत्र-तत्र ध्यानयोग की शिक्षा-दीक्षा देते थे। बुद्ध ने भी इन दोनों आचार्यों से **नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (आरूप्य ध्यान)** तक का योगाभ्यास किया था[2] फिर भी वे उससे सन्तुष्ट नहीं हुए और वे स्वच्छन्द एवं स्वतन्त्र साधना में तत्पर हो गए।

बोधि प्राप्त करने से पूर्व तथागत बुद्ध ने स्वयं श्वासोच्छ्वास के निरोध करने का प्रयत्न किया था। वे अपने शिष्य अग्गिवेस्सन से कहते भी हैं कि 'मैं श्वासोच्छ्वास का निरोध करना चाहता था इसलिए मैं मुख, नाक एवं कर्ण में से निकलते हुए सांस को रोकने का प्रयत्न करता रहा' ।[3]

त्रिपिटक के अध्ययन से भी हमें मिलता है कि भगवान् बुद्ध जब कभी थोड़ा-सा भी समय खाली पाते थे तो वे उसी समय एकान्तचिन्तन में लग जाते थे, ध्यान में लीन हो जाते थे, समाधि में तल्लीन हो जाते थे। इसकी पुष्टि **मज्झिमनिकाय, ललितविस्तर**[4] और बुद्धचरित[5] आदि

---

१. पटचक्रनिरूपण, पृ० ६०, ६१, ८२, ९०

२. विस्तृत अध्ययन के लिए दे०—अभिधर्मदेशना : बौद्ध सिद्धान्तों का विवेचन, पृ० १७८

३. दे० वही, पृ० १७२ फुट नोट नं० २

४. दे० (क) मज्झिमनि० भाग २, पृ० ४८४-८७

(ख) तस्य मे भिक्षवे एतदभवत्-यदहं पितुरुद्याने जम्बुच्छायाम् निषण्णो विविक्तं कामैर्विविक्तं पापकैरकुशलैर्धर्मैः सवितर्कं सविचारं विवेकजं प्रीतिसुखं प्रथमं ध्यानमुपसंपद्य व्याहार्षं यावच्चतुर्थध्यान-मुपसंपद्य व्याहार्षं स्यात्स मार्गो बोधेर्जातिजरामरणदुःखसमुदया-नामसम्भवायास्तंगमायेति। तदनुसारि च मे विज्ञानमभूत। स मार्गो बोधेरिति। ललित०, पृ० १९३

५. दे० बु०च०, १२, १०१

ग्रन्थों से भी होती है।

भगवान् बुद्ध स्वयं अपने शिष्यों को भी बार-बार ध्यान करने की समाधिस्थ होने की प्रेरणा देते हैं, वे कहते हैं कि— एतानि भिक्खवे, रुक्खमूलानि, एतानि सुञ्ञागारानि, झायथ, भिक्खवे, मा पमादत्थ मा पच्छा विप्पटिसारिनो अहुत्थ। अयं वो अम्हाकं अनुसासनीति।[1]

यही उनका उपदेश था कि 'भिक्षुओ! ध्यान करो, ध्यान करने में प्रमाद मत करो।' वे सदैव समाधि या ध्यान की प्रशंसा करते थे। वे कहते थे कि जो ध्यानयोगी है उनका मन स्वस्थ एव प्रसन्न रहता है। उसे समाधि सिद्ध होती है, जो सम्यक् समाधिस्थ हैं उसे ही ध्यान लाभ होता है।[2] ध्यान में लीन होने से धर्म प्राप्त होता है, जिससे परमपद की प्राप्ति होती है, जो दुर्लभ, शान्त, अजर, अमर और अक्षय है।[3] ध्यानयोग से समाहित चित्त से युक्त भिक्षु अनेक सिद्धियों को प्राप्त करता है तथा उसका विनिपात भी कभी नहीं होता, वह सम्बोधि परायण होकर निर्वाणगामी होता है।

इस प्रकार बौद्धधर्म में भी योगसाधना का अत्यन्त महत्त्व है। वह निर्वाणलाभ का सफल मार्ग है। कोई भी ऐसा बौद्ध सम्प्रदाय अवशिष्ट नहीं है जो ध्यानयोग की महत्ता पर प्रकाश न डालता हो।

इसमें भी कोई सन्देह नहीं रह जाता कि सत्त्व योग के द्वारा ही विशेष बन्धन को प्राप्त करता है और योग ही वह निमित्त है, जिससे प्राणी भवबन्धन से मुक्त हो जाता है। अतः योगमार्ग विषम है जैसे कहा भी है कि—

---

१. दे० सं०नि० २. १३३, पृ० १२१ तथा तुलना कीजिए-एतानि वो भिक्षवोऽरण्यायतनानि वृक्षमूलानि शून्यागाराणि पर्वतकन्दरगिरिगुहाप-लाल-पुञ्जानि अभ्रकाशश्मशानवनप्रस्थप्रान्तानि शयनासनानि अध्यावसत। ध्यायत, भिक्षवो मा प्रमाद्यत। मा पश्चात् विप्रतिसारिणो भविष्यथ। इदमनुशासनम्। अर्थविनि०, पृ० ६७

२. दे० बु०च०, १२. १०५

३. दे० वही, १२. १०६

योगतो हि लभते विबन्धनं।
योगतोऽपि किलमुच्यते नरः ॥
योगवर्त्मविषमं गुरोर्गिराः।
बोध्यते तदखिलं मुमुक्षुणाम् ॥[1]

योगी सुख-दुःख की कल्पना से परे होता है क्योंकि वह यथार्थ स्वरूप का वेत्ता होता है। उसे सुख-दुःख के होने पर भी उनकी अनुभूति नहीं होती।[2] आर्चाय कहते हैं कि-यदि यह योग रूपी कल्पवृक्ष उन्मत हाथी से अथवा मिथ्याज्ञानरूपी अग्नि के द्वारा नष्ट नहीं किया जाता है तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि योगी निश्चितरूप से ही स्वाभीष्ट मुक्तिपद को प्राप्त कर लेता है[3] कारण कि उत्तम सुख वही है जो योग से उत्पन्न हुआ है, जो काम एवं विषय वासना की पीड़ा से विरहित, शान्त, निराकुल और स्थिर है तथा जिसमें जन्म, जरा, एवं मृत्यु का विनाश हो जाता है।[4] इसी से योग विषय वासना से उत्पन्न दुःख से रहित माना गया है।

जैनागमों में योग शब्द :

भारतीय दर्शन परम्परा में जैन दर्शन और उसमें भी योग, ध्यान साधना को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। यहां 'योग' शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[5] यथा संयम, निर्जरा, संवर आदि अर्थों में भी योग शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त मन, वचन और काय की प्रवृत्ति के अर्थ में भी यह प्रयुक्त होता है।[6]

---

१. दे० पञ्चविंशति, १०.२६
२. वही, १०.२१
३. वही, १०.३५
४. निरस्तमन्मथातङ्कम् योगजं सुखमुत्तमम्।
शमात्मकं स्थिरं स्वस्थं जन्ममृत्युजरापहम् ॥ यो० प्रा०, ६.११, पृ० २००
५. (क) सावज्जं जोगं पच्चक्खामि।
(ख) समाणं जोगणं।
(ग) जोगहीणं। आवश्यकसूत्र, पृ० २०. २५
बत्तीसार जोगसंगेहिं। समवांगसूत्र, सूत्र ३२ वां
६. तिविहे जोगे पणत्ते जं जहा-मणजोगे, वइजोगे, कायजोगे। स्था० १.३.६

संयम के अर्थ में योग :

उत्तराध्ययनसूत्र में अनेकशः 'योग' शब्द का प्रयोग किया गया है जैसे कि 'जोगवं उवहाणं'[1] योगवान् तथा इसी सूत्र में कहा गया है कि वाहन को वहन करते हुए बैल जैसे अरण्य को लांघ जाता है वैसे ही योग को वहन करते हुए वह साधक मुनि संसाररूपी अरण्य को पार कर जाता है—

वाहणे वहमाणस्स कंतारं अइवत्तई ।
जोए वहमाणस्स संसारो अइवत्तई ॥[2]

यहां योग का अर्थ संयम है । **सूत्रकृतांगसूत्र** में भी 'जोगव'[3] शब्द आता है जो संयम के अर्थ को बतलाता है जबकि **स्थानांगसूत्र** में 'जोगवाही'[4] शब्द समाधि में स्थिर 'अनासक्त पुरुष' के लिए प्रयुक्त हुआ है ।

मन वचन काय के अर्थ में योग शब्द :

उत्तराध्ययनसूत्र[5] और **तत्त्वार्थसूत्र**[6] आदि ग्रन्थों में मन-वचन-काय के व्यापार के अर्थ में भी 'योग' शब्द प्रयुक्त हुआ है किन्तु यहां मन, वचन और काय के व्यापार की प्रेरणामात्र दी गई है । उसीमें आगे बतलाया गया है कि योगों के व्यापार से आस्रव और उनके निरोध से संवर होता है[7] और इसके बाद इससे मुक्तिपद की प्राप्ति होती है ।

---

१. उत्तरा० सू०, अ० ११
२. वही, २७,२
३. जययं विहराहि जोगवं, अणुपाणा पंथा दुरुत्तरा ।
अणुसासणमेव पक्कम्मे, वीरेहि सम्मं पवेदियं ॥
सूत्रकृतांग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, २. १. ११
४. स्थानांगसूत्र, स्थान १०
५. (क) जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ । उत्तरा० सूत्र २९. ३८
(ख) जोगसच्चेणं जोगं विसोहेइ । वही २९. ५३
(ग) मणसमाहरणयाएणं सएग्गं जणयइ । वही, २९.५७
६. तत्त्वार्थसूत्र ६.१-२
७. आस्रवनिरोधः संवरः । वही ९.१

आचारांगसूत्र जो सबसे प्राचीन जैन आगम है, उसमें साधुयोगी के लिए धूत-अवधूत शब्दों का प्रयोग हुआ है।[1] 'भावनायोग' भी जैन-दर्शन का मुख्यअंग है। भावनायोग, योग को पुष्ट करने के लिये प्रयुक्त होता है। **सूत्रकृतांगसूत्र** में बतलाया गया है कि जिसकी भावना की शुद्धि हो जाती है, वह पुरुष किनारे पर स्थित नाव के समान **विश्राम** करता है अर्थात् भवसागर से पार हो जाता है।

जैनागम में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को आस्रव कहा गया है।[3] ये ही आस्रव के पांच भेद भी हैं। इनमें भी मिथ्यात्व, कषाय एवं योग की प्रमुखता है क्योंकि अविरति और प्रमाद, कषाय के ही विस्तारमात्र हैं। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि जैनागम में वर्णित आस्रव शब्द चित्तवृत्ति का ही पर्यायवाची है अर्थात् योगदर्शन सम्मत चित्तवृत्ति ही जैनागम में आस्रव है।

जैनागमोत्तरवर्ती ग्रन्थों में योग शब्द :

आठवीं शताब्दी में आचार्य हरिभद्रसूरि ने जैनागमों में यत्र-तत्र विकीर्ण हुए योग सम्बन्धी तथ्यों को स्वतन्त्ररूप से संग्रहीत किया और परम्परा से चली आ रही वर्णन-शैली को तत्कालीन विद्यमान परिस्थिति और लोकरुचि के अनुरूप नया मोड़ दिया। उन्होंने उसे और अधिक परिष्कृत एवं विस्तृत कर जैनयोग साहित्य में अभिनव युग को जन्म दिया। उनके द्वारा रचित योग ग्रन्थ[4] स्वतः इसके प्रमाण हैं। उक्त ग्रन्थों में उन्होंने केवल जैन परम्परा के अनुसार योग साधना का वर्णन करके ही सन्तोष कर लिया हो सो ऐसी बात नहीं अपितु **पातञ्जलयोगसूत्र** में वर्णित योगसाधना एवं परिभाषाओं की

---

१. आचारांगसूत्र १.६. १८१

२. भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसम्पन्ना, सव्वदुक्खाति उट्टइ॥ सूत्रकृतांगसूत्र, प्रथम स्क० अ० १५ गा० ५

३. पंच आसवदारा पण्णता तं जहा-मिच्छत्तं, अविरई, पमायो, कसाया जोगा समवायांगसूत्र, समवाय-५

४. योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगशतक और योगविंशिका

तुलना करने तथा उनमें उपलब्ध साम्य को बतलाने का प्रयत्न भी उन्होंने किया है ?[1] आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग की परिभाषा करते हुए बतलाया कि मोक्ष से जोड़ने वाला धर्म व्यापार ही योग है ।[2]

इसके बाद आचार्य हेमचन्द्र की अनुपम रचना **योगशास्त्र** आता है । **योगशास्त्र** में आचार्य हेमचन्द्र ने योग का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा है कि योग वह है जो धर्म, अर्थ काम और मोक्ष का कारण हो[3] । इस व्याख्या के अनुसार सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय ही योग सिद्ध होता है । इसी रत्नत्रय को आचार्य उमास्वाति ने अपनी प्रसिद्ध रचना **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य** में बहुत पहले ही मोक्ष का मार्ग घोषित किया था[4] जबकि इस विषय में मुनि मंगलविजय ने आचार्य हरिभद्र का ही अनुसरण किया है ।[5]

इसके अतिरिक्त दिगम्बर परम्परा के महान् आचार्य शुभचन्द्र ने भी **ज्ञानार्णव** नामक योग ग्रन्थ लिखा है जो योग परम्परा में विशिष्ट स्थान रखता है। आचार्य हेमचन्द्र के **योगशास्त्र** और **ज्ञानार्णव** में विषय साम्य और शब्द साम्य काफी मिलता है। अतः योग के लक्षण के विषय में इनमें समानता परिलक्षित होना स्वाभाविक है। जैसे आचार्य हेमचन्द्र ने मोक्ष को मुख्य पुरुषार्थ माना है ऐसे ही आचार्य शुभचन्द्र भी मोक्ष को प्रमुख पुरुषार्थ मानते है । अन्तर केवल इतना ही हैं कि आचार्य हेमचन्द्र

---

१. समाधिरेष एवान्यैः सम्प्रज्ञातोऽभिधीयते ।
सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थं ज्ञानतस्तथा ।
असम्प्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः
निरुद्धाशेषवृत्त्यादि तत्स्वरूपानुवेधतः ॥ योगबिन्दु, श्लोक ४१९-२१

२. (क) मुक्खेण जोयणाओ, जोगो सव्वो वि धम्मवावारो । योगविंशिका, गा० १

(ख) अध्यात्मभावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयम् ।
मोक्षेण योजनाद्योगः एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥ योगबिन्दु, श्लोक ३१

३. चतुर्वर्गेऽग्रणी मोक्षो, योगस्तस्य च कारणम् ।
ज्ञानश्रद्धानचारित्ररूपं, रत्नत्रयं च सः ॥ योगशास्त्र, अ० १, श्लोक १५

४. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । तत्त्वार्थसूत्र अ० १.१

५. धर्मव्यापारत्वं योगस्य लक्षणं विदुः । योग प्रदीप २.३

ने मोक्षप्राप्ति का कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को माना है जबकि आचार्य शुभचन्द्र ने मोक्ष प्राप्त कराने का साधन 'ध्यान' को स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि—हे आत्मन् ! तू संसार के दुःखों के विनाशार्थ ज्ञान रूपी सुधारस को पी और संसाररूपी समुद्र के पार होने के लिए ध्यान रूपी जहाज का अवलम्बन कर ।[1]

इसके बाद उपाध्याय यशोविजय के योग ग्रन्थों पर हमारी दृष्टि जाती है। उपाध्याय यशोविजय का आगम ज्ञान, चिन्तन-मनन और योगानुभव विस्तृत एवं गम्भीर था। उन्होंने **अध्यात्मसार**, तथा **अध्यात्मोपनिषद्** आदि योगपरक ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें जैन मान्यताओं का स्पष्ट एवं रोचक वर्णन करने के अतिरिक्त अन्य दर्शनों के साथ जैन-दर्शन की समानता का भी उल्लेख किया गया है।

उपाध्याय ने **अध्यात्मसार** ग्रन्थ के योगाधिकार प्रकरण में प्रमुख रूप से योग पर अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है। यहां उन्होंने योग को चार भागों में बांटा है और उन्होंने पहले कर्मयोग फिर ज्ञानयोग और उसके बाद ध्यानयोग पर आरूढ होकर मुक्ति लाभ की उपलब्धियों पर विस्तार से प्रकाश डाला है।[2]

(ख) योग विषयक वाङ्मय

भारतीय वाङ्मय में योग विषयक ओजस्वी विचार अपने मूलरूप में अत्यन्त प्राचीन है। सर्वप्राचीन ग्रन्थ **ऋग्वेद** में योग द्वारा प्राप्त अलौकिक शक्तियों का वर्णन, **कठ-तैत्तिरीय** आदि उपनिषदों में योग की परिभाषा, **महाभारत** और **गीता** जैसे दिव्य ग्रन्थों में वर्णित योग विषयक प्रचुर सामग्री को देखकर योग ध्यान-साधना की अतिव्यापकता एवं प्राचीनता का अनुमान सहज ही ज्ञात हो जाता है।

भारतीय साहित्य चाहे वह वैदिक हो या बौद्ध अथवा जैन सभी में

---

१. भवक्लेशविनाशाय पिब ज्ञानसुधारसम् ।
कुरु जन्माब्धिमत्येतुं ध्यानपोतावलम्बनम् । ज्ञानार्ण० ३.१२

२. कर्मयोगं समभ्यस्य ज्ञानयोगसमाहितः ।
ध्यानयोगं समारुह्य मुक्तियोगं प्रपद्यते ॥ अध्यात्मसार, १४.८३

उपलब्ध योग सम्बन्धी प्रमुख ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है जिससे योग की परम्परा और उसके विकास क्रम का परिचय प्राप्त हो सकेगा।

१—वैदिक वाङ्मय में

जैसा कि नाम से ही ज्ञात होता है इस परम्परा के प्रमुख ग्रन्थ वेद हैं। वेदों में भी सब से प्राचीन **ऋग्वेद** है। फिर क्रमशः **यजुर्वेद, सामवेद** और **अथर्ववेद** आते हैं। तत्पश्चात् उपनिषद्, पुराण, महाभारत, गीता और इसके बाद बाकी सभी स्वतन्त्र योग परक ग्रन्थ समाहित होते हैं।

१—ऋग्वेद

इस विश्वविख्यात वेद ग्रन्थ में बीज रूप में अनेक योग परक मन्त्र मिलते हैं।[1] ऐसे ही **यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद** मे भी यत्र-तत्र योग सम्बन्धी उल्लेख प्राप्त होते हैं। वहां योगाभ्यास तथा योग द्वारा प्राप्त विवेकख्याति के विए प्रार्थना की गयी है कि ईश्वर की कृपा से हमें योगसिद्धि, विवेकख्याति तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो। वह ईश्वर अणिमा आदि सिद्धियों के साथ हमारी और आवे।[2]

वैदिक साहित्य में ही उपनिषदों का भी वैशिष्ट्य सर्व विख्यात है। यों तो उपनिषदों में योग शब्द, 'आध्यात्मिक' अर्थ में मिलता है[3] फिर भी विभिन्न उपनिषदों में योग एवं योग साधना का विस्तृत वर्णन किया गया है, जिसमें जगत् जीव और परमात्मा सम्बन्धी बिखरे हुए विचारों में योग की चर्चाएं अनुस्यूत हैं।[4]

---

१. स धानो योग आभुवत्। ऋग्वेद १.५.३
   (ख) स धीना योगमिन्वति। वही १.१८.७
   (ग) कदा योगो वाजिनो रासभस्य। वही, १.४.६
२. सामवेद, ३०१.२१०. ३; अथर्ववेद २०. ६९. १
३. (क) अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति। कठोपनिषद्, १. २. २१
   (ख) तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्। अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ वही, २.३.११
४. तैत्तिरीयोपनिषद्, २.४

मैत्रेयी एवं श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में तो स्पष्ट और विकसित रूप में योग की भूमिका प्रस्तुत हुई है। यहां तक कि योग योगोचित्त स्थान, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और कुण्डलिनी आदि का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। जिनमें केवल योग का ही वर्णन हुआ है, ऐसे उपषिदों की संख्या २१ है।[1]

२—पुराणों में

भागवतपुराण, स्कन्धपुराण, गरुड़पुराण और पद्मपुराण आदि में कई स्थलों पर योग की चर्चा हुई है। **भागवतपुराण** में तो स्पष्ट रूप से अष्टांग योग की व्याख्या, महिमा, तथा अनेक लब्धियों का वर्णन मिलता है।[2] **महाभारत** के विभिन्न पर्वों में योग के विभिन्न अंगों का विवेचन एवं विश्लेषण उपलब्ध होता है।[3]

३—गीता में

योग की व्यवस्थित एवं सांगोपांग भूमिका प्रस्तुत करने में श्रीमद् भगवत् **गीता** का अपना विशिष्ट स्थान है। **गीता** में विभिन्न योग पद्धतियों का संग्रह दिखाई पड़ता है, जिनका प्रमुख उद्देश्य एक है। इसमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और समत्वयोग आदि का विशेष उल्लेख है।

---

१. (१) योगराजोपनिषद् (२) अद्वयतारकोपनिषद् (३) अमृतनादोपनिषद् (४) अमृतबिन्दूपनिषद् (५) मुक्तिकोपनिषद् (६) तेजोबिन्दूपनिषद् (७) त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (८) दर्शनोपनिषद् (९) ध्यानबिन्दूपनिषद् (१०) नादबिन्दूपनिषद् (११) पाशुपतब्राह्मणोपनिषद् (१२) मण्डल-ब्राह्मणोपनिषद् (१३) महावाक्योपनिषद् (१४) योगकुण्डल्योपनिषद् (१५) योगचूडामण्युपनिषद् (१६) योगतत्त्व-उपनिषद् (१७) योगशिखो-पनिषद् (१८) वाराहोपनिषद् (१९) शाण्डिल्योपनिषद् (२०) ब्रह्मविद्यो-पनिषद् (२१) हंसोपनिषद्।

२. भागवतपुराण, ३.२८ ; ११.१५ ; १९-२०

३. विस्तृत अध्ययन के लिए दे०-महाभारत, शान्तिपर्व, अनुशासनपर्व एवं भीष्मपर्व।

गीता में निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों ही प्रकार के योगों की चर्चा हुई है जैसे कर्मफल की इच्छा का न होना,[1] विषयों के प्रति आसक्त न होना, समत्वयोग[2] निष्कामता[3] आदि।

इस प्रकार गीता के अठारह अध्यायों में अठारह[4] प्रकार के योगों का उल्लेख है जिनमें अनेकविध साधनाएं बतलाई गई हैं जैसे सभी कार्य भगवान् को अर्पण करना[5] एवं अवस्थाओं में संतुष्टि[6] और मन को एकाग्र करना आदि।

समभावयोग

गीता के अनुसार विशेष प्रकार के कर्म करने की कुशलता, युक्ति अथवा चतुराई योग है।[7] जब आत्मा का आत्मा के द्वारा साक्षात्कार

---

१. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ गीता, २.४७ तथा ४.२०

२. योगस्थ कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ वही, २.४८

३. यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः। वही, ४.१९

४. (१) ज्ञानयोग ३.३; १३.२४ (२) भक्तियोग १४.२६ (३) आत्मयोग १०, ६८; ११.४७ (४) बुद्धियोग १०.१०, १८.५७ (५) सातत्ययोग १०.६ १२.१ (६) शरणागतियोग ६.३२, १८.६४ (७) नित्ययोग ६.२२ (८) ऐश्वरीय योग ६.५; ११.४ (९) अभ्यासयोग ८.८, १२.९ (१०) ध्यान योग १२.५२ (११) दुःखसंयोग-वियोग योग ६.२३ (१२) सन्यासयोग ६.२; ६.२८ (१३) ब्रह्मयोग ५.२१ (१४) यज्ञयोग ४.२८ (१५) आत्म-संयम योग ४.२७ (१६) देवयोग ४.२५ (१७) कर्मयोग ३.३, ५.२, १३.२४ (१८) समत्वयोग २,२८; ६.२६

५. ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ गीता १,२७

६. यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ वही ६.२०

७. बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ वही २.५०

होता है, उस समय मनुष्य को पूर्ण सन्तोष मिलता है और परम आनन्द की अनुभूति में वह लीन हो जाता है। इस अवस्था में स्थित होकर वह विचलित नहीं होता।[1] यही योगमुक्ति की पहचान है, जहां पहुंचकर सत्त्व सुख-दुःख, हानि, लाभ, सिद्धि-असिद्धि में समान रहता है। इसी समभाव का नाम योग है।[2]

इस प्रकार **गीता** में प्रत्येक योग का वास्तविक अथवा स्वरूप-भूत लक्षण वर्णित है और हर हालत में आत्म-संयम, कामना, त्याग, प्राणिमात्र से प्रेम और निंदा-स्तुति में समभाव आदि गुणों की अपेक्षा रखी गया है फिर भी कर्म-योग, राजयोग, भक्तियोग, एवं ज्ञानयोग में क्रमशः कर्म, ध्यान, भक्ति एवं ज्ञान पर विशेष जोर दिया गया है।[3]

संक्षेप में **गीता** एक मानव जीवन का विधान है। यह बुद्धि के द्वारा सत्य का अनुसंधान है और सत्य को मनुष्य की आत्मा के अन्दर क्रियात्मक शक्ति देने का प्रयत्न भी है। इसलिए प्रत्येक अध्याय के उपसंहारपरक वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है, जो एक अनिश्चितकाल से प्राप्त होता आ रहा, वह यह कि यह एक योगशास्त्र है अथवा ब्रह्म सम्बन्धी दर्शनशास्त्र का धार्मिक अनुशासन शास्त्र मात्र।[4]

४—स्मृतियों में

सम्पूर्ण स्मृतियों को आचार-विचार एवं नीतियों की अमूल्य निधि कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी क्योंकि इनमें वैदिक परम्परा विहित समस्त आश्रमों[5] का विस्तृत वर्णन किया गया है। **याज्ञवल्क्य स्मृति, मनुस्मृति** आदि में साधकों के अनेक कर्त्तव्यों और गृहस्थों के सत्कर्मों की चर्चा मिलती है।[6]

---

१. गीता ६. २०-२१

२. वही २.४८, तथा ३.१६

३. दे० जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० १८

४. (राधा०) भारतीय दर्शन, भाग-१, पृ० ४६१

५. चत्वारा: आश्रमा: ब्रह्मचारी-गृहस्थ-वानप्रस्थ-परिव्राजका:। वाशिष्ठस्मृति, पृ० २०६

६. संध्या स्नानं जपो होमस्वाध्यायदेवतार्च्यनम्……षट् कर्माणि दिने दिने। पाराशरस्मृति, ३६

वर्णों तथा आश्रमों के सम्यक् धर्म का पालन करने से ही मोक्ष की उपलब्धि होती है।[1] इस अवस्था में साधक अपनी इन्द्रियों पर संयम भी रखता है जिससे उसकी सारी क्रियाओं का सम्पादन उचित रूप से होता है। यही कारण है कि गृहस्थाश्रम में भी धर्म पालन करने से मोक्ष प्राप्ति का विधान किया गया। यौगिक क्रियाओं के अभ्यास के द्वारा[2] इन्द्रियों पर[3] विजय प्राप्त करना यम-नियम एवं अहिंसा आदि क्रियाओं तथा योगाभ्यास से आत्मदर्शन[4] करना आदि इन प्राचीन स्मृतियों में योग सम्बन्धी सभी क्रियाओं का वर्णन मिलता है जिससे मोक्षलाभ होता है। अतः ये स्मृति ग्रन्थ मोक्ष के सोपान हैं।

योगवासिष्ठ

योगवासिष्ठ वैदिक संस्कृति का एक ऐसा प्राचीन ग्रन्थ है जिसमें प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से मुख्यतः योग का निरूपण हुआ है तथा उसकी कथाओं, उपदेशों और प्रसंगों आदि से संसार सागर से निवृत्त होने की भी युक्ति बतलायी गयी है।

इसमें मन का विस्तृत वर्णन है। मन को ही शक्तिशाली एवं पुरुषार्थ का सहायक माना गया है। यहां तक कि मन के ही पूर्ण शान्त होने पर ब्रह्मत्व की उपलब्धि होती है।[5] मन को शान्त करने के अनेक उपायों का भी उल्लेख किया गया है। यहां यह बतलाया गया है कि संकल्प करना ही मन का कार्य है। मन ही ऐसा शस्त्र है जिसके द्वारा

---

१. योगशास्त्रं प्रवक्ष्यामि संक्षेपात् सारमुत्तमम्।
   यस्य च श्रवणाद् यान्ति मोक्षमेव मुमुक्षवः॥ हारीत स्मृति, ८.२
२. प्राणायामेन वचनं प्रत्याहारेण च इन्द्रियम्।
   धारणाभिर्वशीकृत्वा पूर्वं दुर्धर्षणं मनः॥ वही ८.४
३. अरण्यनित्यस्य जितेन्द्रियस्य सर्वेन्द्रियप्रीतिनिवर्तकस्य।
   अध्यात्मचिन्तागतमानसस्य ध्रुवा ह्यनावृत्तिमवेक्षकस्य॥
   वासिष्ठस्मृति, २५८
४. इज्याचारदमाहिंसादानं स्वाध्यायकर्मणाम्।
   अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥ याज्ञवल्क्य स्मृति, ८
५. योगवासिष्ठ, ५.८, ६.९

सत्त्व कर्म-बन्धन में फँसता है और उसी के द्वारा वह उन कर्म बन्धनों की कड़ियों को तोड़कर मुक्ति रमा की प्राप्त करता है। अतः मन की पूर्णशान्ति का माध्यम योग ही है। मन के स्थिर होने पर साधक जागृति, स्वप्न, एवं सुषुप्ति से भिन्न तुरीयावस्था की स्थिति में पहुंचने में समर्थ होता है। इन्हीं अवस्थाओं का विस्तृत विवेचन **योगवासिष्ठ** में मिलता है।[1]

५—पातञ्जलयोगसूत्र

योग का व्यवस्थित एवं प्रामाणिक वर्णन करने का श्रेय महर्षि पतञ्जलि को ही जाता है। योगविद्या के प्रवर्तकों में महर्षि पतञ्जलि अग्रगण्य आचार्य है।

महर्षि पतञ्जलि ने अनेक प्राचीन ग्रन्थों में बिखरे हुए योग विषयक विचारों की अपनी असाधारण प्रतिभा के द्वारा सजा-धजा कर **योगसूत्र** नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। निःसन्देह यह ग्रन्थ उनकी उद्भट प्रतिभा और गम्भीर मेधाशक्ति का प्रतीक है।

योगसूत्र चार पादों में विभक्त है। प्रथम पाद में योग का लक्षण, उसक स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के उपायों का वर्णन है। द्वितीय पाद का नाम साधना पाद है। इसमें दुःखों के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय विभूति पाद में धारणा, ध्यान-समाधि एवं सिद्धियों का वर्णन है तथा चतुर्थ कैवल्य नामक पाद में चित्त का स्वरूप तथा कैवल्य प्राप्ति का प्रतिपादन किया गया है।

६—अद्वैतदर्शन में

भारतीय दर्शनों में वेदान्त दर्शन अपना विशिष्ट स्थान रखता है। यह दर्शन केवल सैद्धान्तिक ही नहीं, व्यवहारिक भी है। इसमें परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति के लिए उन साधनों पर विचार किया गया है जो योग साधना के लिए अनिवार्य हैं।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार माया के कारण ही जीव संसार में भ्रमण

---

१. वही, ४.१६,१५-१८; ५.७८.१०

करता है। आत्म दर्शन में मग्न रहकर तथा योग पर आरूढ होकर ही साधक इस भवसागर से पार हो सकता है।[1] ब्रह्मसूत्र के तीसरे अध्याय में आसन एवं ध्यान आदि योगाङ्गों का वर्णन किया गया है। इसी कारण इसका नाम साधना पाद रखा गया है।[2]

७—सांख्यदर्शन

पातञ्जलयोग सांख्य सिद्धान्त की नींव पर ही खड़ा है। दूसरे, सांख्यदर्शन में योग की महत्ता इससे भी सिद्ध है कि गीता के दूसरे अध्याय को सांख्ययोग ही कहा गया है। सांख्यसूत्र (सांख्यदर्शन) का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि वहां पर योग विषयक अनेक सूत्र हैं।[3]

८—वैशेषिकदर्शन में

वैशेषिकदर्शन के प्रणेता कणाद ने योग के अंग-यम-नियम ध्यान एवं धारणा आदि पर बहुत बल दिया है।[4] इतने से ही वैशेषिकदर्शन में योग की महत्ता सिद्ध हो जाती है।

९—न्यायदर्शन में

न्यायदर्शन में भी योग का समुचित वर्णन मिलता है।[5]

२—वैदिकतर वाङ्मय : बौद्ध

बौद्धधर्म में आत्मा को छोड़कर यदि कोई ऐसी वस्तु है, जो

---

१. उद्धरेदात्मनात्मानं मग्नं संसारवारिधौ।
योगारूढत्वमासाद्य सम्यग्दर्शननिष्ठया॥ विवेकचूड़ामणि, श्लोक ९

२. ब्रह्मसूत्र, ४.१.७-११

३. रागोपहितध्यानम्। सांख्यसूत्र ३.३
वृत्तिनिरोधात् तत् सिद्धिः। वही, ३.३१

४. अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्य गुरुकुलवास वानप्रस्थ
यज्ञदानप्रोक्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय।
वैशेषिकद०, ६. २. २; ६. २.८

५. (क) समाधिविशेषाभ्यासात्। न्यायदर्शन. ४. २. ३६
(ख) अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः। वही, ४. २. ४०
(ग) तदर्थंयमनियमाभ्यासात्मसंस्कारो योगाच्चात्मविध्युपायैः॥
वही, ४. २. ४६

पुनर्जन्म करती है तो वह है एक मात्र सत्त्व का 'चित्त'। हम चाहे जिस नाम से भी पुकारें किन्तु बौद्धों ने इसके चित्त और चैतसिक भेद कर इन्हें अनेक भेदों में बांटा है। ८६ अथवा १२१ भेद तो चित्त के ही हैं और फिर ५२ प्रकार का चैतसिक होता है। ध्यान योग के क्षेत्र में चित्त की ११ वृत्तियों को आचार्यों ने अधिक महत्त्व दिया है।

१. विसुद्धिमग्ग

यह पालि साहित्य का एक अमूल्य ग्रन्थरत्न है। इसके लेखक आचार्य बुद्धघोष हैं, जिनका समय ईसा की चौथी शदी स्वीकार किया गया है। बुद्धघोष ने **विसुद्धिमग्ग** के अतिरिक्त प्रायः निखिल पालि साहित्य पर अट्ठकथाएं भी लिखी है।

विसुद्धिमग्ग का अर्थ निर्वाण प्राप्ति का पवित्र मार्ग है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि **विसुद्धिमग्ग** में आचार्य बुद्धघोष ने साधकों के लिए योगाभ्यास की युक्तियों को सरल एवं सुबोध भाषा में निबद्ध किया है। इसमें इतना मात्र ही नहीं है, गृहस्थों के लिए भी जगह-जगह पर इसमें सद्धर्म का उपदेश दिया गया है। बौद्ध-धर्म का ऐसा कोई अंग अवशिष्ट नहीं, जो **विसुद्धिमग्ग** में प्रतिपादित न किया गया हो। स्वयं बुद्धघोष कहते हैं कि चारों आगमों के बीच स्थित होकर यह **विसुद्धिमग्ग** उनके यथार्थ अर्थ को प्रकाशित करेगा।

विसुद्धिमग्ग की रचना बुद्धघोष ने सिंहल में जाकर की थी। यह दो गाथाओं पर आधारित है, वे हैं—

१—**प्रश्न रूप में**—अन्तो जटा बहि जटा, जटाय जटिता पजा।
तं तं गोतम पुच्छामि, को इमं विजट्ये जटं॥

२ **उत्तर में** —सीले पट्ठिाय नरो सपञ्ञो चित्त पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु सो इमं विजट्ये जटं॥

इस तरह यह कृति बुद्धघोष के पाण्डित्य का निदर्शन है। यह पूर्णतः शील, समाधि और प्रज्ञा को विस्तार से ललित शैली में स्पष्ट करता है।

विसुद्धिमग्ग में २३ अध्याय हैं, जो तीन भागों में विभक्त हैं। प्रथम दो भागों में शील के भिन्न-भिन्न प्रकार और उसे उपार्जित करने के उपायों पर गहन चिन्तन किया गया है। ३-१३ परिच्छेदों में विसुद्धिमग्ग की उच्चतर सीढ़ियों का वर्णन है। इसे ही बौद्धों के यहां समाधि कहा गया है। १५-२३ परिच्छेदों में प्रज्ञा का निरूपण है। प्रज्ञा की परिभाषा करते हुए बतलाया गया है कि स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय, सत्य और प्रतीत्यसमुत्पाद ये सभी प्रज्ञा की भूमियां हैं।

२. अभिधम्मत्थसंगहो

यह ग्रन्थ रत्न भी पालि भाषा में निबद्ध है। इसके रचयिता बर्मा निवासी आचार्य अनिरुद्ध हैं। विद्वानों ने इनका समय चौथी शदी का उत्तरार्ध और पांचवी शदी का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया है। अनुरुद्धाचार्य बुद्धघोष और वसुबन्धु के प्रायः समसामयिक हैं।

अभिधम्मत्थसंग्गहो का आधार बौद्ध धर्म का तृतीयपिटक अभिधम्म (अभिधर्म) पिटक है। इसी कारण उसे अभिधम्मपिटक का प्रवेश द्वार कहा गया है। इससे इसका महत्व और भी बढ़ जाता है। इसका एक दूसरा महत्त्व और भी है और वह है कि बाद के आचार्यों ने इस पर टीका पर टीकाएं लिखीं हैं। इनकी संख्या लगभग १९ हैं, जिनमें से निम्न ११-१२ प्रमुख हैं। वे हैं—

(१) अभिधम्मत्थसंग्गह टीका
(२) अभिधम्मत्थविभावनी टीका
(३) अभिधम्मत्थसंग्गह सङ्क्षेप टीका
(४) परमत्थदीपिनी टीका
(५) अंकुर टीका
(६) नवनीत टीका
(७) अभिधम्मत्थ दीपक
(८) विभावनी टीका
(९) परमत्थसरूपभेदनी
(१०) अभिधम्मत्थसंग्गहभाषा टीका
(११) अभिधम्मत्थग हत्थदीपनी
(१२) अभिधम्मत्थप्रकाशिनी टीका

अभिधम्मत्थसंगहो की शैली सरल एवं सुललित है। इसका मुख्य विषय चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण है जिनका वर्णन ग्रन्थ के प्रारम्भिक छः परिच्छेदों में मिलता है। बाद के तीन परिच्छेदों मे बौद्ध धर्म के कतिपय जटिल प्रश्नों का समाधान किया गया है। इन परिच्छेदों के नाम हैं—चित्तसंग्रह, चैतासिकसंग्रह, पण्णिकसंग्रह, वीथिसंग्रह, वीथिमुक्त संग्रह, रूपसंग्रह, समुच्चयसंग्रह, प्रत्ययसंग्रह तथा कर्म स्थान-संग्रह। इस तरह अभिधर्म के समस्त तत्त्वों, धर्मों को इनमें कहीं संक्षप में तो कहीं विस्तार से समझाया गया है। बौद्धदेशों में अभी भी ज्ञानाभ्यास का प्रारम्भ **अभिधम्मत्थसंगहो** से ही कराया जाता है। जैसे भारत में गीता घर-घर पढ़ी जाती है वैसे ही बर्मा में **अभिधम्मत्थसंगहो** का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही सब इस कृति की महत्ता प्रगट करते हैं।

३. **अभिधर्मकोश**

अभिधर्मकोश हीनयान और महायान को जोड़ने वाला बौद्धों का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह वैभाषिकों का प्रतिनिधित्व करता है जबकि कुछ एक के मत में यह सर्वास्तिवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादक प्रौढ़ ग्रन्थ है। इस अनुपम रचना के रचयिता विश्वख्याति प्राप्त विद्वान् आचार्य वसुबन्धु हैं। आप अपने समय में अपने विषय के सूक्ष्म ज्ञाता रहे हैं।

प्रारम्भ में आपका जीवन वैभाषिक बौद्धों की सेवा में बीता और बाद में आप अपने बड़े भाई असंग के प्रभाव से योगाचार बौद्धमत में में दीक्षित हो गए। आपका समय चौथी शताब्दी स्वीकार किया जाता है।

आपकी प्रमुख दो रचनाओं—**अभिधर्मकोश** एवं **विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि** ने आपको विद्वद् जगत में सर्वाधिक यश दिलाया है। अभिधर्मकोश और विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि का महत्त्व इससे और भी बढ़ जाता है कि बाद के अनेक आचार्यों ने इन पर भाष्य एवं टीकाएं लिखी हैं।

अभिधर्मकोश पर स्वयं वसुबन्धु ने भाष्य भी लिखा है। इस तरह **अभिधर्मकोशभाष्य** आपकी प्रसिद्ध रचना है। अनन्तर छठी एवं ७वीं शदी के दो चीनी विद्वानों—परमार्थ और ह्वेनसांग ने इस पर पृथक्-

पृथक् अनुवाद लिखे। इसके बाद आचार्य यशोमित्र ने **अभिधर्मकोश-भाष्य** पर एक विस्तृत व्याख्या **अभिधर्मकोशभाष्य** व्याख्या नामक ग्रन्थ लिखा, जो भाष्य के साथ पहले जापान से प्रकाशित हुआ है। पश्चात् १९७२ में वाराणसी से श्रीद्वारिकादास शास्त्री ने इसे पुनः सम्पादित किया है। **अभिधर्मकोशभाष्य** अपने मूल में १९६७ में जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पटना से भी प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक प्रह्लाद प्रधान हैं।

अभिधर्मकोशभाष्य में कुल मिलाकर ६०० कारिकाएं हैं। इन्हें आठ परिच्छेदों में बांटा गया है। धातु, इन्द्रिय, लोक, कर्म, अनुशय, ज्ञान, पुद्गल और ध्यान इन विषयों पर इसमें विस्तार से तर्क सम्मत अध्ययन किया गया है। लगता है यह ग्रन्थ अत्यन्त गूढ़ है कारण कि अभी तक इसका देवनागरी में अनुवाद नहीं किया जा सका।

४. अभिधर्मदीप

यह विशाल काय विभाषा ग्रन्थ अभिधर्मकोश को आधार बनाकर लिखा गया है। इसके लेखक आचार्य दीपाकर हैं जिनका समय ४५०-५५० के मध्य माना जाता है। आचार्य दीपाकर ने अभिधर्मदीप पर स्वयं एक व्याख्या अथवा वृत्ति भी लिखी थी। इसी वृत्ति के साथ इस ग्रन्थ का पूरा नाम **अभिधर्मदीपवृत्ति** मिलता है।

इस ग्रन्थ की खोज पं० राहुल सांकृत्यायन ने अपनी तिब्बत की यात्रा के दौरान की थी जो मूल रूप में आज भी बिहार रिसर्च इंस्टीट्यूट पटना में सुरक्षित है। विस्तृत भूमिका के साथ इसे सम्पादित कर डा० पद्मनाभ जैनी ने १९५७ में उक्त शोध संस्थान से ही प्रकाशित कराया है।

इस गन्थ में ५९३ कारिकाएं और आठ अध्याय हैं। स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय, लोक, कर्म, अनुशय, मार्ग, ज्ञान और समाधि इन विषयों का इसमें विस्तार से सम्यक् विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त **अभिधर्मदीप** में महापुरुष के ३२ लक्षणों तथा ८० अनुव्यञ्जनों का भी वर्णन मिलता है। यही इसकी अपनी विशेषता भी है।

५. अर्थविनिश्चयसूत्र

इस ग्रन्थ की उपलब्धि भी स्व० पं० राहुल सांकृत्यायन को ही हुई थी। इसका मूल लेखक अज्ञात है किन्तु ८वीं शताब्दी के नालन्दा बिहार के प्रौढ़ भिक्षु एवं आचार्य वीरश्रीदत्त ने इस पर निबन्धन नामक टीका लिखी है। इसके दो प्राचीन संस्करण भी मिलते हैं। दोनों की भाषा तिब्बती है। पहला तिब्बती व्याख्या के साथ मिलता है जबकि दूसरे में तिब्बती अनुवाद के साथ संस्कृत व्याख्या भी है।

अर्थविनिश्चयसूत्र के प्रतिपादन की अपनी शैली है। प्रारम्भ में प्रतिपादित किए जाने वाले विषयों की सूची दी गई है। फिर उनका एक के बाद एक प्रश्न करके विशेष व्याख्यान किया गया है। उदाहरण के लिए भिक्षुओ! पाँच स्कन्ध उपादान कौन से हैं? जैसे कि वे हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान।

इसमें प्रतिपादित विषय हैं—स्कन्ध, उपादानस्कन्ध, धातु, आयतन, प्रतीत्यसमुत्पाद, आर्यसत्य, इन्द्रिय, ध्यान, आरूप्यसमापत्ति, ब्रह्मविहार, प्रतिपत्, समाधि, स्मृत्युपस्थान, सम्यक्प्रहाण, ऋद्धिपाद, पञ्चेन्द्रिय, बल, बोध्यङ्ग, अष्टाङ्गिकमार्ग, आनापानस्मृति, स्रोत-आपत्ति, तथागतबल, वैशारद्य, प्रतिसवित्, आवेणिकधर्म, महापुरुषलक्षण और अनुव्यञ्जन।

यह गन्थ निबन्धन टीका के साथ डा० एन० एच० सान्तानी के द्वारा सम्पादित होकर १९७० में जायसवाल शोध संस्थान पटना से प्रकाशित हुआ है।

६. अभिधर्मामृत

यह अनुपम कृति सम्राट् कनिष्क कालीन आचार्य घोषक की एक मात्र रचना है। **अभिधर्मामृत** अभिधर्म का सार है, जो मूलरूप में चीनी अनुवाद में थी। इस रचना का निबन्धन आचार्य घोषक ने कहां बैठकर किया, कहना कठिन है। सन् १९५३ में विश्वभारती शान्ति निकेतन से प्रकाशित तथा भिक्षुशान्ति शास्त्री द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ चीनी संस्करण का संस्कृत रूपान्तर है। विषय वस्तु के विभाजन एवं उसके वर्गीकरण करने की शैली अभिधर्मामृत की अपनी विशेषता है। कुछ

हमें अभिधर्मकोश में ज्यों के त्यों मिल जाते हैं जबकि कतिपय विषयों का प्रतिपादन पालि महावग्ग से मिलता जुलता है। विषय प्रतिपादन यद्यपि संक्षिप्त है, फिर भी धर्मों की संख्या एवं गणना में पूर्ण साम्य है। इसमें १५ अध्याय हैं, जिनमें दानशील, लोक, धातु एवं गति, स्थित्याहभव, कर्म, उसके भेद, स्कन्ध, धातु, आयतन, संस्कार, प्रतीत्यसमुत्पाद, अनुशय, अनास्रव, पुद्गल, ज्ञान, ध्यान, संकीर्ण समाधियां, बोधिपाक्षिकधर्म चार आर्यसत्य और मिश्रकसंग्रह मुख्य हैं। इसमें शीर्षक के अनुरूप ही विषय का विस्तार से विवेचन किया गया है। ध्यान एवं चित्त की वृत्तियों का अध्ययन १० से १३ तक के अध्यायों में किया गया है।

७. अभिधर्मसमुच्चय

अभिधर्मसमुच्चय की भी अपनी नवीन शैली हैं। प्रायः जो **अर्थ-विनिश्चयसूत्र** से मिलती-जुलती है। यह संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं। सम्पादन भी प्रह्लाद प्रधान ने किया हैं और यह रचना १९५० में शान्ति निकेतन से प्रकाशित की गई है। इस ग्रन्थ की खोज करने वाले भी बौद्ध विद्वान् राहुल सांकृत्यायन हैं। इसके चीनी और तिब्बती ऐसे दो अनुवाद भी मिलते हैं। चीनी भाषा का अनुवाद ७वीं शदी में ह्वेनसांग ने किया था तथा तिब्बती भाषा में अनुवाद ज्ञानमित्र ने। कुछ विद्वान् इसका पांचवा परिच्छेद प्रक्षिप्त मानते हैं।

अभिधर्मसमुच्चय में कुल पाँच परिच्छेद हैं। प्रथम के तीन भाग हैं इसे त्रिधर्म परिच्छेद कहा गया है। स्कन्धधातु तथा उनके विकल्पों, विविध नयों सम्प्रयोगों पर प्रकाश डाला गया हैं। इसके बाद समन्वयागम परिच्छेद है, जो विनिश्चय समुच्चय कहा गया है। दूसरे परिच्छेद में आर्यसत्यों का वर्णन है। तीसरे धर्मविनिश्च परिच्छेद में द्वादशांग प्रवचन है। इसमें प्रतीत्यसमुत्पाद की परिचर्चा की गई है। चतुर्थ में प्राप्ति विनिश्चय पुद्गल और अभिसमय व्यवस्थान का प्रतिपादन मिलता है। अन्तिम पांचवा सांकथ्य विनिश्चय परिच्छेद है जिसमें तर्कशास्त्र के वाद, जल्प-वितण्डा आदि पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

८. ललितविस्तर

ललितविस्तर नववैपुल्य सूत्रों में से एक है। यह महायान बौद्धों

का पूज्य ग्रन्थ है। इसका दूसरा नाम महाव्यूह भी मिलता है। इसकी रचना प्रथम शदी ईसा पूर्व मानी जाती है। इसका चीनी अनुवाद ३०० ई० में हुआ था। सन् १९७५ में इसके कुछ अध्यायों का अनुवाद अंग्रेजी विद्वान् लोफमान ने किया था जो बर्लिन से प्रकाशित हुआ है। इसी के १५ अध्यायों का अंग्रेजी अनुवाद भारतीय विद्वान् डा० राजेन्द्र लाल मित्रा ने सन् १८८१-१८८६ के मध्य किया था। सन् १८८४-१८९२ के बीच एनल द मूसें गिने फ्रेंच विद्वान् ने इसका फ्रेंच अनुवाद कर छः जिल्दों में प्रकाशित कराया था। डा० पी० एल० वैद्य ने दरभंगा से **ललितविस्तर** का देवनागरी में सम्पादन कर मूल रूप में उसे प्रकाशित कराया है, जो उपलब्ध होता है और कतिपय विश्वविद्यालयों में पढ़ाया भी जाता हैं।

ललितविस्तर में भगवान् बुद्ध के अवतरण एवं उनकी पृथ्वी पर की गयी ललित क्रीड़ाओं का मिश्रित संस्कृत भाषा में विस्तार से वर्णन किया गया है। वैसे तो यह पद्यमय रचना है फिर भी इसमें पुरानी परम्परा का भी दर्शन होता है। बीच-बीच में गाथाएं भी पायी जाती हैं। गौतम बुद्ध की प्रारम्भिक ध्यान साधना इसमें द्रष्टव्य है।

९. दशभूमीश्वरसूत्र

यह रचना भी नववैपुल्यों में से एक है। धर्मरक्षक ने २९७ ई० में दशभूमीश्वर का चीनी अनुवाद किया था। इस ग्रन्थ में बोधिसत्व की साधना पर प्रकाश डाला गया है। बोधिसत्व की साधना दशभूमियों पर आधारित है। वे भूमियां हैं—प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरङ्गमा, अचला, साधुमती और धर्ममेघा। ध्यान साधना के क्षेत्र में दशभूमीश्वर का अपना महत्व है। इसका देवनागरी संस्करण दरभंगा से प्रकाशित हुआ है।

१०. समाधिराज सूत्र

यह रचना भी महायानी है और यह भी नववैपुल्यों में गिनी जाती है। इसका अपरनाम **चन्द्रप्रदीप** भी मिलता हैं। योगाचार की दृष्टि से इसमें विभिन्न समाधियों पर विस्तार से अध्ययन किया गया है। समाधि का चरमोत्कर्ष उसके सर्वज्ञत्व की प्राप्ति में होता है। यह ग्रन्थ भी दरभंगा से प्रकाशित हुआ है। सम्पादक डा० पी० एल० वैद्य हैं।

११. बोधिचर्यावतार

इसकी भी गणना नववैपुल्यों में की जाती है। इस कृति के लेखक ७वीं शदी के आचार्य शान्तिदेव हैं। सन् १६०२ में इसका पहला रूसी संस्करण निकला था। वारनेट ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया था। इसी का सन् १६०२ में ही लावाले पुंसे ने पेरिस से फ्रेंच अनुवाद भी प्रकाशित किया था। इसी संस्करण में प्रज्ञाकरमति द्वारा इस पर कृत पञ्जिका टीका भी प्रकाशित की गई थी। इस ग्रन्थ पर इटालियन और जर्मन अनुवाद भी मिलते हैं।

यह महायान का आचार ग्रन्थ है। बोधिसत्व के आदर्श के जानने के लिए यह अनुपम रचना है। इसमें १६ परिच्छेद हैं। बोधिसत्व का स्वरूप उनकी चर्चा तथा उनकी विनय शीलता आदि का बहुत ही सांगोपांग वर्णन किया गया है। बोधि का अर्थ **'निर्मलज्ञान, अथवा प्रज्ञा'** है। यही बोधिसत्व का एक मात्र लक्ष्य है। बोधिसत्व परार्थी होता है, दूसरों को कष्टों में देखकर उसका हृदय करुणा से आप्लावित हो जाता है। वह उमके दुःखों को भोगने के लिए नरक में भी रहना पसन्द करता है। इन सबके पीछे उनका एक मात्र उद्देश्य होता है, सर्वज्ञत्व की उपलब्धि करना, जो योग साधना के बिना प्राप्त नहीं हो सकती। शून्यवाद के रहस्य को जानने के लिए यह ग्रन्थ विशेष महत्त्व रखता है। इसका देव नागरी संस्करण भी उपलब्ध है।

१२. शिक्षासमुच्चय

यह आचार्य शांतिदेव की दूसरी रचना है। इसका ८१६-८३८ ई० के बीच तिब्बती अनुवाद किया गया था। इसका सन् १८६७ में रूसी संस्करण भी निकला था। इसके अतिरिक्त एक अन्य संस्करण १६०२ और १६२२ में अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया गया था।

इस ग्रन्थ में १६ परिच्छेद और २६ कारिकाएं है। इसमें ऐसे भी कतिपय ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है जो आज लुप्त प्राय: हैं। बोधिसत्व की ध्यान साधना पर इसमें विस्तार से प्रकाश डाला गया है। महायान दर्शन के अध्ययन के लिए यह नितान्त भजनीय है।

१३. बुद्धचरित

इसके रचनाकार प्रथम शदी के बौद्धदार्शनिक अश्वघोष हैं। इनकी अब तक उपलब्ध तीन कृतियों में बुद्धचरित विशिष्ट है। यह महाकाव्य है जो संस्कृत के महाभारत और रामायण के बाद गिना जाता है किन्तु दुर्भाग्य यह है कि यह विद्वानों की दृष्टि में पूरा का पूरा अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका। प्रथम सर्ग का ३-५ भाग, २ से १३ तथा १४वें सर्ग का १-२ भाग में यह मिलता है। वैसे तो कुछ समय पूर्व प्रो० चौधरी द्वारा जॉन्सन के अंग्रेजी संस्करण के आधार पर २८ सर्गों का एक हिन्दी संस्करण मूल के साथ प्रकाशित किया गया है। बुद्धचरित में बुद्ध के जन्म से लेकर निर्वाण प्राप्ति तक का साङ्गोपांग वर्णन किया गया है, जो साधना-बोध के लिए उपयोगी है।

जैन वाङ्मय

आध्यात्मिक दृष्टि से प्राचीन जैन आगमों की भारतीय वाङ्मय में महत्त्वपूर्ण देन रही है। प्रायः सभी आगमों में साधक की जीवन चर्या एवं योग साधना विषयक दिशानिर्देश और नियमोपनियमों का विस्तार से वर्णन हुआ है। सभी विद्याओं के बीज जो कुछ अन्यत्र नहीं मिलते, मूल रूप से जैन आगमों में एकत्र प्राप्त होते हैं क्योंकि जैन परम्परा निवृति प्रधान और अधिक प्राचीन है। इसमें मुनि के आचार-विचार एवं व्यवहार तथा आत्मविकास का अंगोपांग सहित विश्लेषण किया गया है। मुनि को ही दूसरे शब्दों में योगी कहा जाता है। अतः योग सम्बन्धी चर्चा और योग के विकास का वर्णन प्रचुर रूप से जैन आगमों में उपलब्ध होता है।

जब जैन वाङ्मय पर विचार किया जाता है तब हम पाते हैं कि उसकी आचार भूत भित्ति तो आध्यात्मिक ही है। क्या योग अथवा ध्यान याकि समाधि सभी विषयों पर जितना गहन चिन्तन जैन वाङ्मय में किया गया है उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

जैन धर्म-दर्शन यद्यपि निवृत्ति प्रधान है फिर भी वह सत्वों की प्रवृत्ति पर भी उतना ही बल देता है जितना कि निवृत्ति पर किन्तु सत्व तो अधिकांश प्रवृत्ति की ओर उन्मुख होते हैं, निवृति की ओर उतना नहीं कारण कि जैन दर्शन की निवृत्ति मार्ग भी अपनाना अधिक सरल

नहीं जितना कि निवृत्ति प्रधान अन्य वैदिक दर्शन पाये जाते हैं।

निवृत्ति परक जिन आगम ग्रन्थों में जैनयोग की चर्चा मिलती है उनमें कतिपय प्रमुख आगम ग्रन्थ निम्नलिखित हैं :—

(१) आचारांगसूत्र
(२) सूत्रकृतांगसूत्र
(३) भगवतीसूत्र या व्याख्याप्रज्ञप्ति
(४) अनुयोगद्वारसूत्र
(५) स्थानाङ्गसूत्र
(६) समवायांगसूत्र
(७) औपपातिकसूत्र
(८) आवश्यकसूत्र

इनके अतिरिक्त और अन्य ग्रन्थ भी हैं जिनमें योग का विस्तृत वर्णन किया गया है।

आगमत्तोर कालीन जैन ग्रन्थ

आगमों ग्रन्थों में जो वस्तु-विवेचन सूत्र रूप में विभिन्न स्थलों में मिलता है उसे ही परवर्ती आचार्यों ने मनन कर अपनी कृतियों में विस्तार से वर्णन किया है। इसमें ध्यानयोग साधना के अंग विशेष कर अछूते नहीं रहे। आगमोत्तरकालीन योग से सम्बद्ध जो ग्रन्थ हमें उपलब्ध होते हैं वे निम्न प्रकार हैं

(१) **ध्यानशतक**

जैन योग विषय का प्राचीन ग्रन्थ **ध्यान शतक** है। इस ग्रन्थ के रचयिता जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण है। इनका समय ईसा की सातवीं शदी माना जाता है। इसमें १०० श्लोक है और इसकी भाषा प्राकृत है। ध्यान के विस्तृत वर्णन के साथ-साथ इसमें आसन, प्राणायाम और अनुप्रेक्षाओं का भी मनोज्ञ वर्णन किया गया है।

---

१. आचार्य हरिभद्र सूरि ने इस पर टीका लिखी है

(२) मोक्षप्राभृत

इस ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य कुन्दकुन्द हैं। इनका समय अनुमानतः ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी निश्चित है।[1] मोक्षप्राभृत शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध है जिसमें केवल १०६ गाथाएं हैं। इन गाथाओं में मोक्षलाभ के लिए साधनायोग पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है।

गृहस्थ और मुनि दोनों ही प्रकार के साधकों की साधना का विधिविधान इसमें वर्णित है। इसकी रचना योगशतक के रूप में की गई प्रतीत होती है।

पातञ्जल योगदर्शन में योग के जिन यम-नियम आदि आठ अंगों का निरूपण किया गया है उनमें से प्राणायाम को छोड़ कर शेष सात का विषय यहां पर स्पष्ट रूप से जैन परम्परानुसार पाया जाता है।[2]

(३) समयसार

यह भी आचार्य कुन्दकुन्द की अनन्य रचना है। इसकी भाषा भी शौरसेनी प्राकृत है। इसमें ४३७ गाथाएं हैं। इसमें जैन योग का विशद विवेचन किया गया है। इनके अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द ने जैन मुनि-साधना के आचार-विचार से सम्बन्धित तीन रचनाएं और भी लिखी हैं, वे हैं—नियमसार, प्रवचनसार और समाधितन्त्र। ये सभी शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध है।

(४) तत्त्वार्थसूत्र

इस ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य उमास्वाति या उमास्वामी है। इनका समय विक्रम की पहली से चौथी शदी के बीच निश्चित किया जाता है।[3] **तत्त्वार्थसूत्र मोक्ष** मार्ग का प्रतिपादक एक अनूठा संस्कृतसूत्र ग्रन्थ है। इसमें दस अध्याय हैं। इसके भी योग-निरूपण में प्रायः चारित्र का ही विशेष वर्णन किया गया है क्योंकि यथार्थ चारित्र से ही

---

१. दे० स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, प्रस्तावना, पृ० ७०

२. दे० भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० ११६

३. विशेष के लिए दे०—संघवी, तत्त्वार्थसूत्र, प्रस्तावना, पृ० ६

आध्यात्मिक विकास होता है।

तत्त्वार्थसूत्र के ९वें अध्याय में चार ध्यानों का सम्यक् विवेचन किया गया है। बाद में इसी ग्रन्थ पर अनेक वृत्ति एवं टीका ग्रन्थविशेष लिखे गए हैं जिनमें ध्यान का और सूक्ष्म चिन्तन किया गया है।

(५) इष्टोपदेश

योग विषयक इस ग्रन्थ के लेखक आचार्य पूज्यपाद हैं। इनका समय विक्रम की पाँचवी-छठी शदी है। इष्टोपदेश ५१ श्लोकों की छोटी-सी रचना है जो अपने में गहनभाव छिपाए हुए है। इस ग्रन्थ में योग के निरूपण के साथ-साथ साधक की उन भावनाओं का भी वर्णन किया गया है जिनके चिन्तन से वह अपनी चांचल्य वृत्तियों को त्यागकर अध्यात्ममार्ग में लीन हो जाता है तथा बाह्य व्यवहारों का निरोध कर परम आनन्द की प्राप्ति करता है।

(६) समाधिशतक

पूज्यपाद का योग से सम्बन्धित यह दूसरा ग्रंथ है। इसमें १०५ श्लोक हैं। इस ग्रंथ में आत्मा की अवस्थात्रय-बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा का विशद एवं विस्तृत वर्णन किया गया है। ध्यान-साधना के द्वारा प्रयत्न-पूर्वक मन को आत्मतत्त्व में नियोजित करने का उपदेश भी दिया गया है। यही इसकी महत्ता है।

(७) परमात्मप्रकाश

इस ग्रंथ के रचयिता योगीन्दुदेव हैं। यह ग्रंथ अपभ्रंश भाषा में निबद्ध है। डा० हीरालाल जैन और डा० ए० एन० उपाध्ये के अनुसार इस ग्रंथ का समय अनुमानतः ईसा की छठी शताब्दी है। ग्रंथ में मानसिक दोषों के परिहार के उपाय एवं त्रिविध आत्मा के विषय में समुचित विवेचन किया गया है। योगीन्दुदेव की योग परक एक अन्य रचना योगसार भी उपलब्ध होती है।

(८) हरिभद्रसूरि की पञ्च रचनाएं

जैन परम्परा में सर्व प्रथम हरिभद्रसूरि ने ही योग शब्द का

प्रयोग आध्यात्मिक अर्थ में किया है। जैन योग को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय भी हरिभद्रसूरि को ही है। आप की योग सम्बन्धी पांच रचनाएं हैं—(१) योगविंशिका, (२) योगशतक, (३) योगदृष्टिसमुच्चय, (४) योगबिन्दु (५) और षोडशक।[1]

(९) योगसारप्राभृत

इस योग परक संस्कृत ग्रंथ के रचयिता वीतारागी आचार्य अमितगति हैं। इनका समय १०वीं शताब्दी है। योगसार प्राभृत में ४५० श्लोक हैं जिन्हें ९ अधिकारों में रखा गया है। इस ग्रंथ में योग सम्बन्धी अपेक्षित विषय का विस्तृत वर्णन है। अन्त में मोक्ष के विषय में भी यहां अधिक प्रकाश डाला गया है।

(१०) ज्ञानार्णव

आचार्य शुभचन्द्र कृत इस ग्रंथ ज्ञानार्णव के दो और नाम मिलते हैं—(१) **योगार्णव** और (२) **योगप्रदीप**। इनका समम विक्रम की १२वीं शताब्दी है। **ज्ञानार्णव** में ३९ प्रकरण है जिनमें २२३० श्लोक हैं। इसमें बारह भावना, भवबन्धन के कारण मन, आत्मा के साथ-साथ यम-नियम, आसन और प्राणायाम आदि का विश्लेषण है। इसके साथ ही मन्त्र, जप, शुभाशुभ शकुन, नाड़ी आदि का भी वर्णन किया गया है।

११ योगशास्त्र

यह ग्रंथ १२वीं शताब्दी के कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है। वस्तुतः यह ग्रंथ योग परम्परा में बहुत चर्चित है, जो कि एक हजार श्लोक प्रमाण है। इस पर उनकी एक स्वोपज्ञवृत्ति भी मिलती है। ग्रंथ में कथाओं के द्वारा विषय को और अधिक स्पष्ट किया गया है। वृत्ति के १२ हजार श्लोक हैं। योगशास्त्र पर ज्ञानार्णव का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है।

योगशास्त्र में १२ प्रकाश हैं। प्रथम तीन अध्यायों (प्रकाशों) में

---

१. विशेष के लिए दे०—प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय।

साधु गृहस्थों के आचारों का निरूपण किया गया है जबकि चतुर्थ अध्याय में कषायों पर विजय पाने तथा समतावृत्ति के स्वरूप का वर्णन है। पाँचवें में प्राणायाम को विषय बनाया गया है जो मोक्ष की सिद्धि में अनावश्यक है। छठे में परकायाप्रवेश, प्रत्याहार और धारणा के स्वरूप तथा उससे होने वाले परिणामों का वर्णन है। ७ से १० तक के अध्यायों में ध्यान की विस्तृत चर्चा मिलती है। ११वें और १२वें में क्रमशः शुक्लध्यान तथा स्वानुभव के आधार पर योग की चर्चा की गयी है।

(ग) जैनदर्शन में योग साधना और योगबिन्दु

जैन शब्द का अभिप्राय

जैनदर्शन पद संयुक्त है। इसमें जैन और दर्शन ये दो पद मिले हुए हैं। जिन शब्द से जैन पद बना है। जीतने के अर्थ में भवादि गण की परस्मैपदी 'जि' धातु में नक् प्रत्यय लगाकर (जि + नक्) **जिन** शब्द बना, जिसका अर्थ है—जीतना, विजय करना।[1] इसी 'जिन' शब्द में 'अण्' प्रत्यय लगने पर 'जैन' शब्द बनता, जिसका अर्थ है—**जैन सिद्धान्तों का अनुयायी, जैन मत को मानने वाला**[2] अर्थात् '**जिन**' के उपासक को जैन कहते हैं और 'जिन' उन्हें कहते हैं जिन्होंने क्रोध आदि कषाय चतुष्टय को तथा राग एवं द्वेष इन छः शत्रुओं को जीत लिया है।[3] इन क्रोध आदि को अपने अन्दर से जिन्होंने निकाल फेंका है ऐसे ये '**जिन**' ही अर्हन्त (अरहन्त-अरिहन्त) तथा वीतरागी भी माने जाते हैं।

अरहन्त<आर्य

इन्हें आर्य भी कहा जाता है। बौद्ध भी अर्हत् को आर्य बतलाते हैं। जिन्होंने राग-द्वेष एवं मोह का निश्शेषतः विप्रणाश कर दिया होता

---

१. दे०—आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ४०५

२. वही, पृ० ४०८

३. जयति रागद्वेषादिशत्रूनिति जिनः। षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० ३

है।[1] जो अकुशल पाप कर्मों से दूर हट गए हैं, वे अर्हत् आर्य हैं,[2] जैनाचार्य भी आर्य की ऐसी ही व्याख्या करते हैं।[3] ये आर्य ही श्रमण और ब्राह्मण भी हैं।[4]

इस प्रकार के जिनों के द्वारा प्ररूपित अथवा उपदिष्ट वचनों को मानने वाले, अपने जीवन में उन्हें अक्षरशः उतारने वाले अथवा पालन करने वाले ही जैन कहे जाते हैं।

जैन दृष्टि से दर्शन पद

दर्शन शब्द भी व्याकरण के अनुसार भवादि गणी परस्मैपदी धातु 'दृश' से ल्युट् प्रत्यय लगने पर बनता है। यह 'दृश्' धातु चक्षु से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का बोध कराने वाली है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'दर्शन' का अर्थ होगा—देखना[5] परन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में इसका अर्थ

---

१. यो खो आवुसो रागक्खयो दोसक्खयो मोहक्खयो इदं वुच्चति अरहत्तं।
संनि० ३.२५२, पृ० २२४
यस्मा रागादिसंखता सत्वेपि अरयो हता।
पञ्ञासत्वेन नाथेन तस्मापि अरहं मतो ति॥ विसु० ७.६, पृ० १३४
अस्स पुग्गलस्स रूपरागो अरूपरागो मानो उद्धच्चं अविज्जा अनवसेसा पहीणा अरहा। पुग्गल पं०, पृ० १८०

२. आरकास्स होन्ति पापका अकुसला धम्मा ति अरियो होति।
म० नि०, १.२८०, पृ० ३४३ तथा
आरात् याताः पापकेभ्यो धर्मेभ्यः इत्यार्याः। अभि० को० भा०, ३,४४, पृ० १५७
मि०-आराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः। सूत्रकृता० ३. ४. ६

३. अज्ज इति अर्यते प्राप्यते यथाभिलाषिततत्वजिज्ञासासुभिरित्यर्थः, आर्यो वा स्वामीत्यर्थः, समस्तेभ्यो हेयधर्मेभ्यः आरात् पृथक् यायते प्राप्यते अर्थात् गुणैरिति अथवा विषयकाठकर्तकत्वेनारासादृश्यादारारत्नत्रयम्, तद्याति प्राप्नोति इति निरुक्त वृत्याऽऽकारलोपे कृते आर्यः, सर्वथा सकलकल्मश-राशिकलुषितवृत्तिरहित इत्यर्थः। उपा० दशाङ्ग, अ० १, पृ० ५५
तथा दे०-अर्यन्ते सेवन्ते गुणैर्गुणवद्‌ वा आर्याः। जिन सहस्र०, पृ० २२४

४. दे०-धम्मपद, गा० ४२०

५. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ४५०

इतना मात्र नहीं है। भारतीय भाषाओं एवं साहित्य में आत्मविद्या या तत्त्वविद्या या पराविद्या के लिए 'दर्शन' शब्द का प्रयोग निस्संकोच रूप से प्रयुक्त किया गया है।

यहां यह प्रश्न उठता है कि चक्षुरिन्द्रिय से पैदा होने वाले ज्ञान का बोध कराने वाला शब्द अतीन्द्रिय ज्ञान या अध्यात्मज्ञान के अर्थ में कैसे प्रयुक्त होने लगा? इसका समाधान हमें उपनिषदों में मिलता है। उपनिषदों में बाह्य इन्द्रियों के ज्ञान की प्रामाणिकता के बारे में पर्याप्त विचार किया गया है।

किसी घटना को एक एक व्यक्ति ने सुना और दूसरे ने स्वयं मौके पर रहकर उसी घटना को देखा। इन दोनों व्यक्तियों ने किसी तीसरे व्यक्ति से इस घटना का वृतान्त कहा। तब कहने वाले दोनों में से किसी एक की बात प्रमाणिक मानी जाएगी, सभी की नहीं।

दूसरे, हम दैनिक जीवन में देखते भी हैं कि जिसने अपनी आंखों से घटना को देखा है, उसी की बात को सही माना और उसे ही प्रमुखता दी गयी क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय ही एक मात्र ऐसी इन्द्रिय है, जो जैसा घटना क्रम घट रहा होता है उसे उसी रूप में देखती है। इसीलिए घटना को देखने वाले की बात ही प्रमाणिक मानी जाती है। इस प्रकार अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा चक्षुरिन्द्रिय का स्थान सत्य के अधिक निकट भी ठहरता है। इसी वजह से, अन्य इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान की तुलना में चक्षुजन्यज्ञान, जिसे 'दर्शन' के नाम से जाना जाता है, का उत्कृष्ट स्थान है। बृहदारण्यकोपनिषद्[1] में इस विषय पर काफी चर्चा भी की गई है।

भारतीय वैयाकरणों ने भी, आंखों से देखने की इस प्रामाणिकता को स्वीकार कर, साक्षी शब्द का अर्थ—साक्षात्-द्रष्टा[2] किया है।

---

१. चक्षुर्वै सत्यम्, चक्षुर्हिवैसत्यम्। तस्माद्यदिनीं द्वौ विवदमानवेयातामहम-दर्शमध्यश्रोषमिति। य एवं ब्रूयादहमदर्शनमिति तस्माए श्रद्धाम, तद्वै तत्सत्यम्। बृहदारण्यकोपनिषद्, ५. १४. ४

२. साक्षात् द्रष्टा। साक्षातो द्रष्टेत्यस्मिन्नर्थे इन नाम्नि स्यात् साक्षी। सिद्धहैमशब्दानुशासन, लघुवृत्ति, ७. १. १९७

महाभारत के द्यूत पर्व[1] में इसी तथ्य को महात्मा विदुर के माध्यम से बड़े सुन्दर ढंग से उपस्थित किया गया है।

तात्पर्य यह है कि इस दुनिया के प्रतिक्षण के व्यवहार में अथवा स्थूल जीवन में दर्शन (आंख से देखने) को यह महत्त्व इसलिए मिला कि यह देखना संशय आदि से सर्वथा रहित अनुभव में आता है। इसीलिए इस अनुभव को प्राप्त करने वाले को द्रष्टा कहा गया है।

जिन ऋषियों, कवियों और योगियों ने आत्मा, परमात्मा याकि अन्य किसी अतीन्द्रिय वस्तु का साक्षात्कार किया अथवा अतीन्द्रिय पदार्थों का संशयादि से रहित अनुभव किया, वे ऋषि एवं कवि आदि इन अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञान के विषय में 'द्रष्टा' माने गए हैं। इन्होंने आध्यात्मिक पदार्थों के अनुभवों का यथार्थ तल-स्पर्शी साक्षात्कार किया है। अतः इनका यह साक्षात्कार ही 'दर्शन' है।

इस तरह दर्शन शब्द आत्मा, परमात्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थों के स्पष्ट, सन्देह रहित और अविचलित बोध के लिए[2] प्रयोग किया जाने लगा, जिसका अर्थ होता है—'ज्ञान शुद्धि का परिपाक' या 'सत्यता की पराकाष्ठा अथवा अतीन्द्रिय पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ एवं अविकल ज्ञान।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में 'दर्शन' शब्द का अर्थ 'श्रद्धा' भी लिया गया है। पण्डित प्रवर सुखलाल संघवी ने दर्शन से अभिप्राय '**सबल प्रतीति**' लिया है[3] जबकि तत्त्वार्थसूत्रकार ने पदार्थों के वास्तविक स्वरूप में **श्रद्धान को** दर्शन कहा है[4] और उसमें सत्यता एवं यथार्थता का बोध कराने वाले सम्यक् पद को विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया है।

---

१. समक्षदर्शनात् साक्ष्यं श्रवणाच्चेति धारणात्।
तस्मात् सत्यं ब्रुवन् साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥
महाभारत, सभा पर्व (द्यूतपर्व) २. ६१. ७९

२, संघवी, तत्त्वविद्या, पृ० ११

३. दे० न्यायकुमुदचन्द्र, २, प्राक्कथन

४. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्दर्शनम्। तत्त्वार्थसूत्र, १.२

दर्शन वस्तुतः वह है जो वस्तु या पदार्थ में व्याप्त अनन्त धर्मों की व्याख्या करता हुआ, मानव मात्र में भरे हुए अज्ञान अन्धकार को दूर करता है, और उसके अज्ञान के स्थान पर उनमें दिव्य-ज्योति रूप ज्ञान का प्रकाश भर देता है।[1] ज्ञान ही एक मात्र सत्य है, सत् है और अज्ञान असत्य है, असत् है। सत्य को देखने वाला, दिखलाने वाला ही दर्शन है। दर्शन ही एक ऐसी दिव्य ज्योति है, जिसके प्रकाश में पदार्थ के स्वरूप के ऊपर पड़े हुए असत्य के आवरण को हटाकर 'सत्य' को साक्षात्कार कराता है। **ईशावास्योपनिषद्** में इसी अर्थ में दृष्टि शब्द का प्रयोग मिलता है जैसे एक स्वर्णपात्र में सत्य का चेहरा छिपा हुआ है। हे पूषन् तुम उसे हटा दो, ताकि मैं उसके सच्चे स्वरूप (सत्य धर्म) को देख सकूं—

हिरण्मयेण पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥[2]

इस विवेचन का यह अर्थ निकलता है कि दर्शन शब्द का शाब्दिक अर्थ चक्षुरिन्द्रिय से देखना है किन्तु दर्शनशास्त्रों में इसका अर्थ दिव्यज्ञान माना जाता है जिसके द्वारा हम सांसारिक अथवा भौतिक पारलौकिक तत्त्वों का प्रत्यक्ष कर पाते हैं।

इस चर्चा से एक और बात सामने आती है कि—अनन्त स्वरूपों वाले पदार्थों का विवेचन, अपने-२ दृष्टिकोणों से विभिन्न दार्शनिकों ने किया है। अतः उन-२ दार्शनिकों का पदार्थों के स्वरूप-विवेचन का जो दृष्टिकोण रहा है, वह उसी दर्शन के नाम से समाज में विख्यात हो गया।

ऐसे ही जैन दार्शनिकों ने पदार्थों के स्वरूप का जिस दृष्टिकोण से विश्लेषण किया वही दार्शनिक क्षेत्र में जैनदर्शन के नाम से विश्रुत हुआ।

अनन्त धर्मात्मक वस्तु

जैनदर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है और

---

१. दे० धर्म दर्शन मनन और मूल्यांकन, पृ० ५४

२. ईशावास्योपनिषद्, ५

कई बार इन अनन्त धर्मों में परस्पर विरोध-सा भी प्रतीत होता है, जैसे एक ही व्यक्ति में पिता, पुत्र, पति और भाई आदि अनेक परस्पर विरोधी गुण होते हैं। सामान्यतः यहां विरोध दिखाई पड़ता है क्योंकि जो पिता है वह पुत्र कैसे हो सकता है अथवा जो पति हैं वह भाई कैसे हो सकता है? इस विरोध का समाधान जैनदर्शन करता है। वह कहता है कि—

एक व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र और अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है। पत्नी की अपेक्षा से पति और बहिन की अपेक्षा से भाई है। यह सापेक्षवाद ही जैनदर्शन है और यही जैनदर्शन का अनेकान्तवाद सिद्धान्त है, जो जैनदर्शन की आधारभूत शिला है।

त्रिगुणात्मक वस्तु

विश्व के प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद, व्यय (विनाश) और ध्रौव्य (स्थिरत्व) ये तीनों ही गुण पाए जाते हैं और यही जैनदर्शन की दृष्टि से वस्तु का स्वरूप है।[1] हर वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व साथ-साथ उपलब्ध होते हैं। जो वस्तु को सद्रूप मानते हैं, उन्हें इस कथन में सन्देह होने लगता है। इन सन्देहशील व्यक्तियों को सन्देह से ऊपर उठ कर तत्त्वज्ञान के धरातल पर पहुंचने के लिए जैनदर्शन के अनेकान्तवाद को सम्यक्तया समझना पड़ेगा।

अनेकान्तवाद

यह अनेकान्तवाद क्या है? इसका उत्तर देते हुए जैन दार्शनिकों का कहना है कि वस्तु में जो विभिन्न परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म, गुण और पर्याय आदि हैं उनको स्पष्ट करना अनेकान्त है।[2] यही जब सिद्धान्त का रूप ले लेता है तब उसे अनेकान्तवाद कहते हैं। वस्तु स्वभाव का नाम ही अनेकान्त है। इस वस्तु स्वरूप का विवेचन करने

---

१. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। तत्त्वार्थसूत्र ५/३०
सद्द्रव्यलक्षणम्। वही, ५/२९
गुणपर्ययवद् द्रव्यम्। वही, ५/३८
२. दे० न्याय दीपिका, ३.७६

वाले सिद्धान्त को अनेकान्तवाद नाम दिया गया है।[1]

इसे दूसरे शब्दों में किसी पदार्थ के स्वरूप को जानने का उपाय भी कहा जा सकता है। दार्शनिकों की भाषा में वस्तु को विभिन्न पहलुओं से देखने, जानने का यह विशिष्ट जैन दृष्टिकोण है। दार्शनिक क्षेत्र में इसे जैन विचार या मत के नाम से भी जाना जाता है। यह विचार जब आचार का रूप लेता है अथवा जब हम विचार को जीवन में क्रियात्मक रूप देते हैं तब वह साधना का विषय बन जाता है। यह साधना जब तन्मयतापूर्वक की जाती है तब ही योग साधना कहलाती है क्योंकि साध्य के प्रति इस तन्मयता को ही **पातञ्जलयोग सूत्र** में **योगश्चित्तवृत्ति निरोधः** कहा है[2] अर्थात् यह हमारी शक्ति जो बाहर बिखरी हुई है वहां से हटकर किसी एक ध्येय पर स्थिर होती है तो वही योग कहलाता है।

इसी को जैनदर्शन में **संवर** से अभिव्यक्त किया गया है।[3] जैसे योगदर्शन में चित्तवृत्तियों को बाहर से रोककर स्वरूपप्रदर्शन में प्रवृत होने का उल्लेख है[4] वैसे ही जैनदर्शन में इसके लिए **निर्जरा** शब्द का प्रयोग किया गया है, जो कि आत्मा में लगे हुए कर्ममल को दूर करने का साधन है।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन में योग के लिए प्रमुख रूप से तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है—आश्रव, संवर और निर्जरा।

जैन साधना में योग

जैन आगमों में अनेक स्थानों पर योग का महत्त्व प्रतिपादन किया गया है। **उत्तराध्ययनसूत्र** में योग की चर्चा करते हुए कहा गया हैं कि जैसे बैल वाहन (गाड़ी) में जुता हुआ सही दिशा में चलकर विकट जंगल से पार हो जाता है वैसे ही साधक योग का आश्रय लेकर भवसागर

---

१. एकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनम्। अनेकान्तः। समयसार-आत्मख्याति

२. दे० पा० यो०, १.२

३. आश्रवनिरोधः संवरः। तत्त्वार्थसूत्र, ६.१

४. तदाद्रष्टु स्वरूपे अवस्थानम्। पा० यो०, १.३

५. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्। तत्त्वार्थसूत्र १०.२

से पार हो जाता है[1] अर्थात् मोक्ष पद प्राप्त करता है। मोक्षपद को प्राप्त करने के लिए योग को उत्तम साधन माना है तथा ज्ञान-दर्शन और चारित्ररूप रत्नत्रय ही योग है।[2]

यह योग शास्त्रों का उपनिषद् है, मोक्ष प्रदाता है तथा समस्त विघ्न-बाधाओं को शमन करने वाला है। यह इसीलिए कल्याणकारी है।[3] यह इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति कराने वाला कल्पतरु एवं चिन्तामणि है। सब धर्मों में प्रधान यह योगसिद्धि स्वयं के अनुग्रह अथवा अध्यवसाय से मिलती है।[4]

साधना में मन का महत्व

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः[5] यह कथन बड़ा सार्थक है क्योंकि मन ही मानव के पास एक ऐसी वस्तु है जिसके बल पर वह ही कुछ से कुछ अधिक बन जाता है।[6] मन के म्लान होने पर[7] ही मनुष्य की हार और मन की प्रसन्नता में उसकी जीत निहित होती है।[8] किसी हिन्दी कवि ने भी कहा है कि 'मन के हारे हार है मन के जीते जीत।' अतः मन ही मानव है। चित्त, विज्ञान और हृदय ये सभी मन के पर्यायवाची हैं।[9]

---

१. वाहणं वहमाणस्स कंतारं अइवत्तई।
जोए वहमाणस्स संसारो अइवत्तई॥ उत्तरा० सू०, २७.२

२. ज्ञानदर्शनचारित्ररूप रत्नत्रयात्मकः।
योगो मुक्तिपद प्राप्ता उपायः प्रकीर्तितः॥ योगप्रदीप, १/१२३

३. शास्त्रस्योपनिषद्योगो योगो मोक्षस्य वर्तनी।
अपायशमनो योगो, योगकल्याणकारकम्॥ योगमाहात्म्य, द्वात्रिंशिका, गा० १

४. योगः कल्पतरु श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणि परः।
योगप्रधानं धर्माणां, योगः सिद्धेः स्वयं ग्रहः॥ योगबिन्दुः, श्लोक ३७

५. दे० मैत्रायणी-आरण्यक, ६.३४-६

६. मनो वै ब्रह्म। गोपथ ब्राह्मण, २.५.४

७. मानसेन हि दुःखेन शरीरमुपतप्यते। महाभारत, वनपर्व, २.१६

८. मनोऽस्य दैवं चक्षुः। छान्दोग्य-उपनिषद्, ८.१२.८

९. मनो वै दीदाय (मनः सर्वार्थप्रकाशकत्वाद् दीदाय दीप्तियुक्तं भवति)
मनसो हि न किंचन पूर्वमस्ति। ऐतरेय ब्राह्मण, ३.२

यद्यपि मन बड़ा चंचल[1] है फिर भी योगियों ने उसे अपने वश में करके अपने ही अनुरूप चलाया है। इसलिए मन का संयमी होना आवश्यक है। ध्यान योगसाधना में तो मन का वशीभूत होना और भी आवश्यक है। ध्यान का लक्षण ही है मन को विषयों से रहित करना— ध्यानं निर्विषयं मनः।[2]

मन के कारण ही इन्द्रियां चंचल होती हैं, जो आत्मज्ञान में बाधक हैं तथा एकोन्मुखता के मार्ग में भटकाव पैदा करती हैं। मन की अस्थिरता के कारण ही रागादि भावों की वृद्धि होती हैं तथा कर्मों का बन्ध होता है। अतः चंचल मन को स्थिर करना योग की पहली शर्त है क्योंकि मन ही समाधि, योग का हेतु तथा तप का निदान है और मन को स्थिर करने के लिए तप आवश्यक है। तप शिवशर्म अर्थात् मोक्ष का मूल कारण है।[3]

योगशास्त्र के अनुसार मन के चार भेद हैं[4]—

(१) विक्षिप्त मन,
(२) यातायात मन,
(३) श्लिष्ट मन और
(४) सुलीन मन

विक्षिप्त मन का स्वभाव चञ्चल होता है जबकि यातायात मन उसकी अपेक्षा कुछ कम चञ्चल होता है। इसलिए योग साधकों के लिए इन दो प्रकार के मन पर नियन्त्रण करना आवश्यक है।[5]

---

१. असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ गीता, ६.३५

२. दे० सांख्यसूत्र, ६.२५

३. योगस्य हेतुर्मनसः समाधिपरं, निदानं तपश्च योगः।
तपश्च मूलं शिवशर्ममनः समाधिं भज तत्कथंचित्॥ अध्यात्मकल्पद्रुम, ६.१५

४. इह विक्षिप्तं यातायातं श्लिष्टं तथा सुलीनं च।
चेतश्चतुःप्रकारं तज्ज्ञचमत्कारि भवेत्॥ योगशास्त्र, १२.२

५. विक्षिप्तं चलमिष्टं यातायातं च किमपि सानन्दम्।
प्रथमाभ्यासे द्वयमपि विकल्पविषयग्रहतत्स्यात्॥ वही, १२.३

श्लिष्ट मन की भूमिका यातायात मन के बाद प्रारम्भ होती है। इस मन के निरोध के अभ्यास से चित्तवृत्तियां शान्त हो जाती हैं तथा आन्तरिक शान्ति का अनुभव होने लगता है। सुलीन मन में आनन्द की अनुभूति के कारण चित्त एकाग्र होकर आत्मलीन हो जाता है। यही कारण है कि मन के संयम से साधक को परमानन्द की प्राप्ति होती है।[1] इसीलिए कहा गया है कि जिसने मन को वश में कर लिया है उसके लिए संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो वश में न की जा सके।[2] इस प्रकार मन की विजय, योग की सफलता की कुंजी है।

साधना में गुरु का महत्त्व

किसी भी कार्य की सफलता के लिए योग्य गुरु के मार्ग दर्शन की अत्यन्त आवश्यकता होती है और फिर योग साधना के साफल्य के लिए तो अनुभवी गुरु की प्राप्ति का तो कहना ही क्या है? क्योंकि बिना सद्गुरु के साधक के जीवन में विषयों तथा कषायों की चञ्चलता में वृद्धि होती रहती है तथा शास्त्राभ्यास एवं शुद्ध भावनाओं का भी ह्रास होता है।[3] अतः गुरु द्वारा साधक शास्त्र-वचनों का मर्म तथा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करता है, जिससे उसके आध्यात्मिक ज्ञान में वृद्धि होती हैं और आत्मविकास होता है। कहा भी है कि तत्त्वज्ञान अर्थात् ज्ञान की लब्धि दो प्रकार से होती हैं (१) पूर्व संस्कार से तथा (२) गुरु की उपासना से।[4]

१, श्लिष्टं स्थिरसानन्दं सुलीनमतिनिश्चलं परमानन्दम्।
तन्मात्रकविषयग्रहमुभयमपि बुधैस्तदाम्याम् ॥ वही, १२.४

२. ध्यानं मनः समायुक्तं मनस्तत्र चलाचलम्।
वशंयेन कृतं तस्य भवेद्वश्यं जगत् त्रयम् ॥ योगप्रदीप, ७९

३. तावद् गुरुवचः शास्त्रं तावत्तावच्चभावनाः।
कषायविषयैर्यावद् न मनस्तरली भजेत् ॥ योगसार, श्लोक ११९

४. तत्र प्रथमतत्त्वज्ञानैः संवादको गुरुर्भवति।
दर्शयिता त्वपरस्मिन् गुरुमेव भजेत् तस्मात् ॥ योगशास्त्र, १२.१५
तथा दे० मुनिसमदर्शी द्वारा सम्पादित-योगशास्त्र १२वें अ०, श्लोक १५ की व्याख्या

पूर्व संस्कार से उत्पन्न ज्ञान में भी गुरुसंवाद अर्थात् आत्मचर्चा निमित्तकारण होती है। संयम की वृद्धि, तत्त्वज्ञान आदि के लिए गुरु की सन्निधि आवश्यक है क्योंकि उनके सान्निध्य और उपदेश से योगसाधना में सफलता प्राप्त होती है।[1] गुरु-सेवा आदि धर्म-कृत्य बाधा रहित होकर करने से लोकोत्तरतत्त्व की सम्प्राप्ति होती है।[2] गुरु की भक्ति एवं सान्निध्य से साधक का मन ध्यान में इतना एकाग्र हो जाता है कि उस अवस्था में उसे तीर्थङ्कर के दर्शन का साक्षात् लाभ होता है और साधक को मोक्ष की भी प्राप्ति होती है।[3]

साधना में जप का महत्त्व

जैन योग साधना के अन्तर्गत आत्मोपलब्धि का उपाय निर्जरा को कहा गया है और निर्जरा का प्रमुख उपाय तपश्चरण है।[4] तप बारह प्रकार का है[5] जिसमें ध्यान भी एक तप है। ध्यान के अन्तर्गत किसी एक मत विशेष का जाप किया जाता है। मन्त्र, देवता अथवा जिनेन्द्रदेव की स्तुति से सम्बन्धित होता है और ऐसे मन्त्रों से जहां पाप, क्लेश और विषाद आदि दूर होते हैं, वहां मानसिक एकाग्रता की भी प्राप्ति होती है।[6]

---

१. जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन; पृ० ६२

२. एवं गुरुसेवादि च काले सद्योगविघ्नवर्जनया।
इत्यादिकृत्यकरणं लोकोत्तरतत्त्वसम्प्राप्ति ॥ षोडशक, ५.१६

३. गुरुर्भक्तिप्रभावेन तीर्थकृत् दर्शनं मतम्।
समापत्त्यादिभेदेन निर्वाणैकनिबन्धनम् ॥ योगदृष्टि समु०, श्लोक ६४

४. तपसा निर्जरा च। तत्त्वार्थसूत्र, ९.३

५. अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः बाह्यं तपः। तत्त्वार्थसूत्र, ९.१९
प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्य स्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ वही, ९.२०
तथा मि०-योगशास्त्र, ४.८९-९०

६. सन्मन्त्रजपेनाहो, पापारिः क्षीयतेतराम्।
मोहाक्षस्मर चौराद्यैः कषायैः सह दुर्धरैः ॥
मनः परीक्षहादीनां, जयः कर्मनिरोधनम्।
निर्जराकर्मणां मोक्षः, स्यात्सुखं स्वात्मजं सताम्।
नमस्कार स्वाध्याय, (संस्कृत) श्लोक १५०-१५१, पृ० १४

ऐसे मन्त्रों के जाप से मोह, इन्द्रिय लिप्सा, काम आदि कषायों का शमन, होता है और मनोजय, परीषहजय कर्मनिरोध, कर्मनिर्जरा, मोक्ष तथा शाश्वत आत्मसुख भी प्राप्त होता है।[1]

इससे सिद्ध होता है कि जैन योग साधना में मन्त्रजप का भी अत्यधिक महत्त्व है।

योगसाधना और योगबिन्दु

प्रकृत रचना आचार्य हरिभद्रसूरि की अतीव उत्तम योगपरक रचना है। जैसे कि स्वयं आचार्य ने सर्वप्रथम सभी योग शास्त्रों से अविरुद्ध एवं सभी परम्पराओं के योग ग्रंथों के साथ समन्वय करते हुए श्रेष्ठ योगमार्ग के दर्शक इस ग्रंथ को प्रस्तुत करने की अवधारणा अभिव्यक्त की है।[2] अनन्तर योग के अधिकारी का उल्लेख किया है। जो जीव चरमावर्त में रहता है अर्थात् जिसका काल मर्यादित हो गया है जिसने मिथ्यात्व ग्रंथि का भेद कर लिया है और जो शुक्लपक्षी है, वही योग साधना का अधिकारी है।[3] इसके विपरीत जो अचरावर्त में स्थित है, वे मोहकर्म की प्रबलता के कारण संसार की विषय वासना और काम भोगों में आसक्त हैं। वे योग मार्ग के अधिकारी नहीं है। आचार्य ने उन्हें भवाभिनन्दी की संज्ञा से सम्बोधित किया है।[4]

चारित्र के विषय में हरिभद्रसूरि ने पांच योग भूमिकाओं का वर्णन किया है। आत्मभावों का विकास करते हुए साधक चारित्र की तीन भूमिकाओं को पार करके चतुर्थ भूमि समता-साधना में प्रवेश करता है वहां क्षपक श्रेणी धारण करता है। इसी ग्रंथ में सूरि ने पांच अनुष्ठानों का भी वर्णन किया है, वे हैं—विषम्, गर, अननुष्ठान, तद्धेतु और अमृत अनुष्ठान। इसमें प्रथम के तीन अनुष्ठान असत् हैं और अन्तिम के दो सदनुष्ठान हैं और योगसाधना के अधिकारी व्यक्ति सदनुष्ठान में ही अवस्थित होता है।

---

१. वही, पृ० १४

२. सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन तत्त्वत:
सन्नीत्या स्थापकं चैव मध्यस्थांस्तद्विद: प्रति ॥ योगबिन्दु, श्लोक २

३. चरमे पुद्गलावर्ते यतो य: शुक्लपाक्षिक: ।
भिन्नग्रन्थिश्चारित्री च तस्यैव वदुदाहृतम् ॥ वही, श्लोक ७२

४. भवाभिनन्दिन: प्रायस्त्रिसंज्ञा एव दु:खिता ।
केचिद्धर्मकृतोऽपि स्युर्लोकपंक्तिकृतादरा ॥ वही, श्लोक ८६

परिच्छेद—द्वितीय

योगबिन्दु के रचयिता : आचार्य हरिभद्रसूरि

(क) जैन सन्त हरिभद्रसूरि : एक परिचय

भारतवर्ष ऋषियों, मुनियों और महान् सन्तों की जन्म एवं तपोभूमि है। ये सभी त्यागमार्ग अपनाकर गहन आत्मचिन्तन और आत्मस्वरूप प्राप्ति के विभिन्न साधनों पर एकान्त में मनोमन्थन करते थे। उससे जो उपलब्धि उन्हें होती थी उसे वे अपने तक ही सीमित नहीं रखते थे अपितु लोककल्याण के लिए उसे लिपिबद्ध कर दुनियां के समक्ष प्रस्तुत करते थे।

ऐसे महापुरुषों की उस देन के लिए यह भारत भूमि सदैव उनकी ऋणी रहेगी। इन महापुरुषों में जैन सन्तों एवं आचार्यों का विशेष स्थान है। जैन सन्तों की प्रवृत्ति सदैव अपनी संस्कृति के अनुरूप 'जीओ और जीने दो' 'अहिंसा परमो धर्मः' के उच्च आदर्शों को आत्म सात कर लोकहित में प्रयत्नशील रही है।

प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक इन जैन सन्तों और आचार्यों ने भारतीय वाङ्मय के सृजन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। सब प्रकार की पद-प्रतिष्ठा और स्वार्थ से मुक्त होकर इनकी लेखनी लोकहित में निरन्तर चलती रही है। ज्ञान-दर्शन और योगनिष्ठ इन आचार्यों ने अपने अनन्य काव्य सर्जन द्वारा जो भारतीय संस्कृति के भण्डार को अक्षय बनाया है, वह उनकी अक्षुण्य यशःकीर्ति से सदैव गौरान्वित रहेगा। वे परम दिव्य, असीम आनन्द, मुक्तिपथ के समुद्बोधक, सर्वतो गरीयान और वरीयान् तत्त्व के पुरोधा और पुरस्कर्ता थे।

जैन आचार्यों ने प्रायः साहित्य की समस्त विधाओं पर अचूक लेखनी चलायी है और अपनी अद्वितीय साहित्यिक सर्जना से सरस्वती के

भण्डार को मण्डित किया है, इन आचार्यों में प्रमुख हैं—आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वाति, समन्तभद्र, जिनसेन, सिद्धसेन, हरिभद्रसूरि, अकलंक, विद्यानन्द, शीलांकाचार्य, हेमचन्द्र, अभयदेव, जिनप्रभ, प्रभाचन्द्र एवं यशोविजय आदि। इन्हीं के महान् उपकार से इस राष्ट्र की संस्कृति अजर, अमर, अमल और धवल बनी हुई है। इन्हीं पुण्यात्माओं तथा तपःपूत शब्द और भावों के अनन्य शिल्पी महान् साधकों में एक थे—हरिभद्रसूरि।

जैनधर्म-दर्शन के क्षेत्र में एक समस्या प्रारम्भ से यह रही है कि एक ही नाम के अनेक आचार्य हुए जिन्होंने अपनी प्रतिभा से निष्पन्न शास्त्रों से सरस्वती के भण्डार को अक्षुण्य बनाया है। हरिभद्रसूरि के विषय में भी कुछ ऐसा ही है। इस नाम के एक परम्परा मे एकाधिक आचार्य हुए हैं। अतः यह सिद्ध करना एक जिज्ञासु के लिए कठिन हो जाता है कि अमुक-अमुक रचनाओं के लेखक कौन से हरिभद्र हैं ? फिर भी जिन हरिभद्रसूरि की हम यहां चर्चा करेंगे, वे प्रख्यात प्रतिभा के धनी हरिभद्रसूरि **समराइच्चकहा** और **धूर्ताख्यान** जैसे कथा ग्रथों और **अनेकान्तजयपताका, शास्त्रावार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय** तथा **योगबिन्दु** आदि अनेक दार्शनिक ग्रंथों के रचयिता हैं।

भारतीय वाङ्मय में हरिभद्रसूरि का साहित्यिक योगदान अतीव दिव्य, उत्तम और अनुपमेय है। प्राचीन साहित्यकार विशेषकर सन्तों की यह प्रवृत्ति रही है कि वे आत्मश्लाघा से सदैव दूर रहते थे। अपने सद्बोधन तक में भी वे आत्मकथा का उल्लेख करने में संकोच करते थे। हरिभद्रसूरि भी इसके अपवाद नहीं हैं। इसी कारण उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुसरण करके अपने विषय में कहीं भी कुछ नहीं लिखा।

ऐसी परिस्थिति में किसी भी साहित्यकार के विषय में कुछ लिखने के लिए हम जैसों के समक्ष दो ही उपाय शेष रह जाते हैं और वे हैं—आभ्यन्तर और बाह्यपक्ष।

आभ्यन्तर से अभिप्राय उस प्रकार की सामग्री से है जिसका उल्लेख ग्रंथकार ने स्वयं अपनी रचनाओं में किया हो, और बाह्य पक्ष से अर्थ उससे लिया जाता है जो उनके परवर्ती आचार्यों अथवा कवियों

द्वारा उनका गुणकीर्तन आदि किया गया हो अथवा उनकी रचनाओं की मूल सामग्री का अपनी कृतियों में यथोचित सदुपयोग किया गया हो परन्तु काव्य के क्षेत्र में ऐसा नहीं मिलता कि आचार्य ने अपनी पूर्व परम्परा का यत्किञ्चित् उल्लेख भी न किया हो। जो भी हो आन्तरिक पक्ष की अपेक्षा हरिभद्रसूरि के विषय में बाह्य पक्ष ही अधिक प्रबल रूप में मिलता है। जिन परवर्ती रचनाकारों ने अपनी कृतियों में उनका उल्लेख किया है अथवा उनकी प्रशस्ति गायी है, उनमें हैं—

१. दशवैकालिक निर्युक्ति टीका[1]
२. उपदेशपद की प्रशस्ति[2]
३. पंचसूत्र टीका[3]
४. अनेकान्तजयपताका का अन्तिम अंश[4]
५. ललितविस्तरा[5]
६. आवश्यकसूत्र टीका प्रशस्ति[6]

उपर्युक्त ग्रंथ प्रशस्तियों में से अन्तिम (आवश्यकसूत्र टीका) प्रशस्ति ही अधिक यहां उपयोगी है जिसके आधार पर आचार्य हरिभद्र-सूरि के जीवन पर निम्नलिखित प्रकाश पड़ता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि श्वेताम्बर सम्प्रदाय विद्याधर गच्छ के सन्त

---

१. महत्तरा याकिन्या धर्मपुत्रेण चिन्तिता
आचार्य हरिभद्रेण टीकेयं शिष्यबोधिनी ॥ तथा
दे०—हरि०प्रा० क० सा० आ० परि०, पृ० ४७ पर उद्धृत फुटनोट नं० २
२. आइणिमयहरियाए रइता एते उधम्म पुत्तेण हरिभद्दायारिएण।
वही, फुट नोट नं० ३
३. विवृत्तं च याकिनी महत्तरासुनूश्रीहरिभद्राचार्यः। वही, फुट नोट नं० ४
४. कृति धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोराचार्यहरिभद्रस्य। वही, फुट नोट नं० ५
५. कृति धर्मतो याकिनीमहत्तरासुनोराचार्यहरिभद्रस्य। हरि०चरि०, पृ० ७
६. कृतिः सितम्बराचार्यजिनभट्टनिगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्य-जिनदत्तशिष्यसाधर्मयतो आइणीमहत्तरासूनोरल्प मतेराचार्यहरिभद्रस्य।
(पिटर्सन) थर्ड रिपोर्ट, पृ० २०२
तथा दे०—हरि०प्रा० क० सा०आ०परि०, पृ० ४८, पर उद्धृत फुट नो० नं० १

थे। गच्छाधिपति आचार्य का नाम जिनभट्ट और दीक्षा गुरु का नाम जिनदत्त था। इनके धर्म परिवर्तन में जो कारण बनीं, उसका नाम साध्वी याकिनी महत्तरा था। इन साध्वी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए हरिभद्रसूरि ने इनको अपनी धर्म माता लिखा है जिसका उल्लेख उनके ग्रंथों में मिलता है।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी आचार्य हरिभद्रसूरि भारतीय दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् थे। विशेषकर आपकी गति काव्यशास्त्र, ज्योतिष एवं दर्शन साहित्य में थी। जैन जगत् में आप तार्किक दार्शनिक और सर्व-दर्शन समन्वयकार के रूप में जाने जाते हैं। इनके दर्शनपरक ग्रंथों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि आपने बौद्धदर्शन का विशिष्ट अध्ययन किया था। इसका पुष्ट प्रमाण है—दिङ्नाग के **न्यायप्रवेश** पर टीका का लिखा जाना। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आप बौद्ध दर्शन के भी मर्मज्ञ विद्वान् और समीक्षक थे।

पूर्वोक्त प्रशस्तियों से इनके जीवन के विषय में जो तथ्य प्राप्त होते हैं, उनके आधार पर कहा जा सकता है कि—

१. हरिभद्रसूरि, जिनभट्ट की परम्परा में आचार्य जिनदत्त के शिष्य और उनके उत्तराधिकारी थे।
२. साध्वी याकिनी महत्तरा के उपदेश से आप जैनधर्म से प्रभावित होकर उसमें दीक्षित हुए थे।
३. इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की थी।

भले ही आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने विषय में कुछ नहीं लिखा तो क्या हुआ, उनके शिष्य और समकालीन आचार्य उनके पाण्डित्य के विषय में मौन साधकर थोड़े ही बैठे रहे, बल्कि उन्होंने हरिभद्रसूरि के विषय में जो कुछ भी लिखा है, वह निःसन्देह यथार्थ से परे नहीं है। ऐतिहासिक तथ्य, पौराणिक दन्त कथाएं, प्रशंसात्मक विवरण क्या किसी के भी व्यक्तित्व को अविश्वसनीय बना सकते, नहीं। जिन कतिपय आचार्यों ने हरिभद्रसूरि के व्यक्तित्व के विषय में अपनी रचनाओं में जिस-जिस प्रकार से उल्लेख किया है, उनमें प्रमुख हैं—

१. हरिभद्रसूरि के 'उपदेशपद' पर श्रीमुनिचन्द्रसूरि द्वारा कृत टीका प्रशस्ति (वि० सं० ११७४)
२. जिनदत्त का गणधर सार्धशतक (वि०सं० ११६८)

३. सुमति गणीकृत वृत्ति गणधर सार्धशतक (वि०सं० ११६८)
४. प्रभाचन्द्र का 'प्रभावक चरित' (वि०सं० १३३४)
५. राजशेखरसूरिकृत (प्रबन्ध कोष) अपर नाम चतुर्विंशति प्रबन्ध (वि० सं० १४०५)
६. भद्रेश्वर की कहावली (वि०सं० १४९७) में लिखित ताड़-पत्रीय पोथी (खण्ड-२, पत्र ३०० पर, पाटन के संघवी के० पाडे के जैन भण्डार से प्राप्त)।[1]

१. हरिभद्रसूरि का जन्म स्थल

भद्रेश्वर की कहावली के आधार पर हरिभद्रसूरि का जन्म स्थान 'पिवंगुइएबंभपुणीए' नाम की ब्रह्मपुरी नगरी थी[2] जबकि दूसरे ग्रंथों में हरिभद्रसूरि का जन्म स्थान चितौड़ बतलाया गया है।[3] इन दोनों में भिन्नता होने पर भी वस्तुतः इसमें विशेष विरोध ज्ञात नहीं होता। 'पिवंगुइए' ऐसा मूल नाम शुद्धरूप में उल्लिखित हो अथवा फिर कुछ विकृत रूप में प्राप्त हुआ हो, यह कहना कठिन है, किन्तु उसके साथ जो 'बंभपुणी' का उल्लेख है, वह तो 'ब्रह्मपुरी' का ही प्राकृत रूप है। इस तरह यह ब्रह्मपुरी कोई छोटा देहात या कस्बा अथवा कोई उपनगर हो सकता है फिर भी वह चित्तौड़ के आस-पास ही रहा होगा। इसीलिए उत्तर कालीन ग्रंथों में अधिक प्रख्यात चित्तौड़ का नाम निर्देश तो रह गया और 'ब्रह्मपुरी' गौण बन गया अथवा अधिक प्रचलित स्थान का नाम ही बाद में ग्रहण कर लिया गया होगा।[4]

२. हरिभद्रसूरि के माता-पिता

हरिभद्रसूरि के माता पिता का नामोल्लेख केवल '**कहावली**' में ही उपलब्ध होता है। उसमें माता का नाम गंगा और पिता का नाम शंकर

---

१. पिवंगुइए बंभपुणीए पाटन के संघवी के पाडे के जैन भण्डार की वि० सं० १४९७ में लिखित ताड़ पत्रीय पोथी, पत्र ३००। तथा मि० हरि० प्रा० क०सा० आ०परि० पृ० ४८
२. समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि, पृ० ६ पर पाद टिप्पण-11
३. वही
४. वही

भट्ट बतलाया गया है।[1] 'भट्ट' शब्द सूचित करता है कि वह जाति से ब्राह्मण थे। गणधरसार्धशतक की सुमति गणीकृत वृत्ति (रचना सं० १२९५) में तो हरिभद्रसूरि का ब्राह्मण के रूप में स्पष्ट निर्देश है ही।[2] जबकि प्रभावकचरित्र में इन्हें राजा का पुरोहित बतलाया गया हैं।[3]

३. हरिभद्रसूरि का विद्याभ्यास

हरिभद्रसूरि ने विद्याभ्यास कहां और किसके पास किया ? इसका भी कोई उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु ऐसा लगता है कि वे जन्म से ब्राह्मण थे और ब्राह्मण परम्परा में यज्ञोपवीत के समय से ही विद्याभ्यास प्रारम्भ हो जाता है। उनका पाण्डित्यपूर्ण साहित्य सर्जन से भी ऐसा प्रतीत होता है कि जिन्होंने अपने विद्याभ्यास का प्रारम्भ प्राचीन ब्राह्मण परम्परा के अनुसार संस्कृत भाषा से ही किया होगा और व्याकरण, दर्शन, साहित्य तथा धर्मशास्त्र आदि संस्कृत प्रधान विद्याओं के गहन ग्रंथों का सूक्ष्मतया अध्ययन एवं पारायण किया होगा। विविध विद्याओं के गहन अध्ययन एवं यौवन सुलभ चांचल्य के मद ने सम्भवतः उन्हें अभिमानी बना दिया था क्योंकि उनका दृढ़ संकल्प था कि जिस बात या विद्याओं को मैं न समझ सकूंगा, मैं उस ज्ञान की प्राप्ति हेतु उसका शिष्य बन जाऊंगा। इस संकल्प ने एक दिन सचमुच हरिभद्रसूरि का जीवन ही बदल दिया। उनका अभिमान चूर-चूर हो गया। वे एक दूसरी ही दिशा की ओर बढ़ चले।[4]

४. धर्म परिवर्तन

विधि की लीला बड़ी विचित्र है। एक समय हरिभद्र चित्तौड़ के मार्ग पर चले जा रहे थे। तभी उपाश्रय में से एक साध्वी द्वारा मधुर

---

१. संकरो नाम भट्टो, तस्य गंगा नाम भट्टिणी, तीसे हरिभद्दा नाम पंडित-ओ पुत्तो। कहावली, पत्र ३००

२. एवं सो पंडित्ताव्वमुव्वहमाणो हरिभद्दो नाम माहणो। धर्मसंग्रहणी की प्रस्तावना में उद्धृत. पृ० ५ अ

३. अतितरलमतिः पुरोहितोऽभून्नृपविदितो हरिभद्र नाम वित्तः। प्रभावकचरित, शृङ्ग ९, श्लोक ८

४. विशेष अध्यय के लिए दे० समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० १०

स्वर में उच्चरित निम्नलिखित गाथा को उन्होंने सुना—

चक्किदुगं हरिपणगं पणगं चक्कीणं केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव दुचक्की केसी अचक्की अ ॥[1]

गाथा प्राकृत भाषा में थी और वह भी थी संक्षिप्त एवं संकेत पूर्ण। अतः उसका अर्थ हरिभद्र की समझ में कैसे आ सकता था, परन्तु हरिभद्र स्वभाव से जिज्ञासु प्रकृति के थे। अतः गाथा का अर्थ जानने के लिए साध्वी महाराज के चरण कमलों में पहुँचे और उस गाथा का अर्थ बतलाने की प्रार्थना की।

साध्वी को हरिभद्र की विनयशीलता और बुद्धि-वैभव को परखने में देर नहीं लगी। उन्होंने अपने अन्तर्मन में अपने सामने भावी जिनशासन प्रभावक को खड़ा हुआ देखा। वे प्रार्थी से बोली कि तुम्हें हमारे गुरुवर्य जिनभट्ट के पास जाना होगा। हरिभद्र भी अवसरवादी थे। अतः तत्क्षण आचार्यश्री के पास पहुंच गए। आचार्यश्री भी धर्मदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् और व्यवहारकुशल थे।

प्रथम साक्षात्कार में ही आचार्य प्रवर ने हरिभद्र को पकड़ लिया, गाथा का अर्थ बतलाया, जिसे सुनते ही हरिभद्र अपने कृत अध्ययन को भूल से गए। उन्हें जो अपनी विद्वत्ता का गर्व था, वह चूर-चूर हो गया। उनके ज्ञानावरणीयकर्म का अन्तराय नष्ट हो गया और उन्होंने तुरन्त अपने को आचार्यश्री के चरणों में समर्पित कर दिया। इस तरह वे आचार्यश्री के प्रियपात्र बन गए।

५. आचार्य पद

तदनन्तर मुनिश्रीहरिभद्र ने जैनागमों एवं कर्म सिद्धान्त ग्रंथों का गहन अध्ययन एवं मनन किया। अदृष्ट कर्म का गम्भीर रहस्य, जीव के भेदाभेद एवं उनकी गति-अगति चौदह गुणस्थानों की प्रक्रिया, अनेकान्त-वाद, नय-प्रमाण एवं सप्तभंगी आदि विषयों का जो अन्य सम्प्रदाय के ग्रंथों में नाम मात्र भी उल्लेख नहीं था। उन्होंने उसका ज्ञान प्राप्त किया, जिससे उनकी आत्मा में वैराग्य और अति संवेग की तीव्र भावना जाग्रित होती गई। उनकी तार्किकता, प्रामाणिकता, निर्दोषता और ज्ञान

१. आवश्यक निर्युक्ति गाथा ४२१

को श्रेष्ठता शुद्ध से विशुद्धतर होती गई, उनका कठोर परिश्रम, दृढ़निष्ठा और गुरुभक्ति ने अल्प समय में ही उन्हें समग्र जैन सिद्धान्तों का सूक्ष्म ज्ञाता बना दिया। उनकी संघ-सेवा और अनुपम योग्यता तथा पवित्र मुनि जीवन में विशुद्ध आस्था ने उन्हें अल्प समय में ही आचार्य बना दिया।[1]

(अ) याकिनी महत्तरा सूनु हरिभद्रसूरि

हरिभद्रसूरि के धर्म परिवर्तन में साध्वी याकिनी महत्तरा का महान् संयोग था। अतः आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी आपको अपनी धर्म माता के रूप में स्वीकृत किया था और वे अपने को 'याकिनी महत्तरा सूनु, कहकर गौरव का अनुभव भी करते थे।[2]

यद्यपि हरिभद्रसूरि के इस धर्म परिवर्तन के प्रसंग का कहीं उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी अनेक विद्वानों ने हरिभद्र से सम्बन्धित ग्रंथों का सम्पादन करते समय इसका उल्लेख किया है। उनमें डा० याकोबी का नाम प्रमुख है। इन्होंने लिखा है कि 'आचार्य हरिभद्रसूरि को जैनधर्म का इतना गम्भीर ज्ञान होने पर भी अन्यान्य दर्शनों का इतना गहन और तत्त्वग्राही तलस्पर्शी ज्ञान था, जो उस काल में एक ब्राह्मण को ही परम्परागत शिक्षा दीक्षा के रूप में प्राप्त होना स्वाभाविक था, अन्य को नहीं।'

हरिभद्रसूरि ने स्वयं ही **धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनुः** ऐसे विशेषण का प्रयोग न किया होता, तो उनके जीवन में घटित यह असाधारण क्रान्ति की सूचना उत्तरकाल में जिज्ञासुओं का मनस्तोष न कर पाती और दूसरे यह मुख्य परम्परा से प्राप्त न होकर शायद एक मात्र दन्त कथा के रूप में विश्वास व अविश्वास की छाया से तिरोहित ही रह जाती।

---

१. दे० हरि०प्रा० क०सा० आ० परि०, पृ० ४६

२. समाप्ता चेयं शिष्यहितानामावश्यक टीका। कृति सिताम्बराचार्यजिनभट्ट-निगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनी महत्तरासूनोरल्पमतेराचार्यहरिभद्रस्य। आ०टीका प्रशस्ति तथा विशेष के लिए दे० समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि, पृ० १२

(आ) भवविरह सूरि हरिभद्र

हरिभद्र के याकिनी महत्तरा सूनुः उपनाम के साथ-साथ एक और दूसरा विशेषण भी प्रसिद्ध है। वह है—'भवविरह'। स्वयं हरिभद्रसूरि ने अपनी कई रचनाओं में अपने को इस पद से उपलक्षित किया है।[1] इनमें 'योगबिन्दु'[2], 'योगशतक'[3], 'योगदृष्टि समुच्चय'[4] तथा 'धर्मबिन्दु'[5] की अन्तिम गाथा प्रमाण रूप में दी जा सकती है।

इस 'भवविरह' के पीछे इनका कौनसा अभिप्राय विशेष रहा, इसका उन्होंने कहीं भी उल्लेख नहीं किया है परन्तु उनके जीवन दर्शन का समवेक्षण करने से कुछ-कुछ ज्ञात होता है कि इसका श्रेय सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रकृष्टतम रचना कहावली को है[6] जिसमें पद-पद पर उक्त भवविरह से अपने को इंगित किया है।

भवविरह शब्द के साथ विद्वानों ने मुख्यतया जिन तीन घटनाओं को जोड़ा है, वे यों हैं—

(१) धर्म स्वीकार का प्रसंग
(२) शिष्यों के वियोग का प्रसंग
(३) याचकों को दिए जाने वाले आर्शीवाद और उनके द्वारा किए जाने वाले जय-जयकार का प्रसंग

---

१. पण्डितकल्याणविजय ने धर्मसंग्रहणी की प्रस्तावना में, पृ० ६ से २१ पर जिन ग्रन्थों की प्रशस्तियों में 'भवविरह' या 'विरह' शब्द का प्रयोग है, सभी प्रशस्तियां उद्धृत की हैं। उनमें अष्टक, ललितविस्तरा, अनेकान्तजयपताका पंचवस्तुटीका, शास्त्रवार्तासमुच्चय, षोडषक, संसारदावानल, उपदेशपद, पंचाशक, सम्बोध प्रकरण, योगबिन्दु आदि हैं

२. भवान्ध्यविहरात् तेन जनस्ताद् योगलोचनः। योगबिन्दु श्लोक ५२७

३. ऐसा चिय भवविरहो सिद्धीए सया अविरहो य। योगशतक गा० १०१

४. मात्सर्यविरहेणोच्चैः श्रेयोविघ्नप्रशान्तये। योगदृ०समु० श्लो २२८

५. स तत्र दुःखविरहादत्यन्तसुखसंगतः। धर्मबिन्दु, अध्याय ८, श्लोक ४८

६. हरिभद्दो भणइ भयवं पिउमे भवविरहो। कहावली पत्र ३००

७. चिरजीवउ भवविरहसूरित्ति। वही, पत्र ३०१ अ

(१) धर्म स्वीकार का प्रसंग

याकिनी महत्तरा जब हरिभद्रसूरि को अपने गुरु के पास ले गई तब उन्होंने उन्हें प्राकृत गाथा का अर्थ बतलाया। इसके बाद हरिभद्र ने सूरिवर से पूछा कि धर्म क्या है ? और उसका फल क्या है ? इस पर आचार्यश्री ने उन्हें 'सकाम और निष्काम' धर्म के दो भेद बतलाए। सकाम धर्म की आराधना का फल स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति है जबकि निष्काम धर्माराधना से 'भवाविरह' अर्थात् जन्मजरा और मरणादि से छुटकारा मिल जाता है। हरिभद्र ने भवविरह को ही श्रेयस्कर मानकर उसे ही अंगीकार कर लिया।[1] इस प्रकार हरिभद्र मोक्ष लाभ के उद्देश्य से श्रमणत्व में दीक्षित हुए और 'भवविरह' उनका विशेषण बन गया।

(२) शिष्यों के वियोग का प्रसंग

इस विषय में 'शास्त्रवार्ता समुच्चय' का सम्पादन करते हुए मुनि जयसुन्दर विजय ने जिस घटना का उल्लेख किया है। उसे यहां ज्यों का त्यों देना कर्त्तव्य समझता हूं। जो इस प्रकार है—

हरिभद्रसूरि के दो भागिनेय पुत्र थे—हंस और परमहंस[3]। वे दोनों ही अत्यन्त मेधावी और विनयशील थे। दोनों ने ही हरिभद्रसूरि के पास दीक्षित होकर अनन्य भक्ति और कठोर परिश्रम से शास्त्राध्ययन कर प्रशंसनीय पाण्डित्य प्राप्त कर लिया था। इसके फलस्वरूप इनके मन में जैन धर्म के उत्कर्ष के लिए प्रबल भावना जागृत हो गई।

इन दोनों ने जैन धर्म की प्रभावना के लिए बौद्ध धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव पर अंकुश लगाने की सोची। गुरु से दोनों ने एक बौद्ध पाठशाला में जाकर छद्मवेश में अध्ययन करने की अनुमति मांगी। हरिभद्रसूरि ने इसे संकट पूर्ण जानकर उन्हें इससे दूर रहने की सलाह दी, परन्तु

---

१. (क) जाइणिमयहरियाए रइया ए ए उ धम्मपुत्रेण।
हरिभद्दायरियणं भवविरहं इच्छमाणणं॥ उपदेशपद प्र०टी०, १०३९
(ख) हरि०प्रा० क० सा० आ०परि०, पृ० ५०

२. शास्त्रवा० समु०, प्रस्तावना, पृ० ६

३. पं० सुखलाल ने इनके नाम जिनभद्र और वीरभद्र लिखे हैं
दे० समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० १२

निडर एवं प्रबल उत्साही किसी के रोके भला कभी रुके भी हैं। होनहार प्रबल होती है। अन्ततः गुरुवर्य को स्वीकृति देनी ही पड़ी।

बौद्ध मठ में दोनों को बौद्ध वेशभूषा में रहना तो पड़ता था, किन्तु ये लगन के पक्के थे। अतः साथियों के साथ बौद्धदर्शन का अध्ययन तो वे करते ही थे साथ ही अपने मन के प्रतिकूल जान पड़ने वाले सहपाठियों के मुंह बन्द करने के लिए वे कभी-कभी जैन मत से उनका खण्डन भी कर देते थे। वे एक और भी महत्त्वपूर्ण कार्य करते थे। वह यह था कि वे इस विषय को साथ के साथ भोजपत्रों पर अंकित करते जाते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि एक दिन इनके जैन होने का भेद खुल गया। तब बौद्धाचार्य और उसके प्रबल समर्थक इन पर क्रुद्ध ही नहीं हुए बल्कि इन्हें धोखे से मारने की योजना भी उन्होंने बना ली। इधर इनको भी इसका पता चल गया जिससे ये दोनों अवसर पाकर वहां से भाग निकले, फिर भी बौद्धों ने इनका पीछा करके इन्हें रास्ते में घेर लिया।

बौद्धों ने इनके साथ संघर्ष किया जिसमें इनमें से एक हंस मारा गया किन्तु परमहंस जो किसी तरह बच निकला था अपने भोजपत्रों सहित हरिभद्रसूरि के पास जा पहुंचा। वहां गुरुचरणों में भोजपत्र रखकर बौद्धों को क्रूरताभरी आप बीती सुनाते-सुनाते श्रम जन्य पीड़ा और भ्रातृवियोग के दुःख को न सहन कर पाने से वह भी अकालमृत्यु को प्राप्त हो गया।

इससे हरिभद्रसूरि के मन में बौद्धों के प्रति प्रतिशोध की प्रबल भावना भड़क उठी और उन्होंने राज्य सभा में जाकर बौद्धों से शास्त्रार्थ करने की घोषणा की। शर्त यह रखी कि पराजित होने वाले को उबलते हुए तेल के कड़ाहे में कूदना होगा। राजा की अध्यक्षता में शास्त्रार्थ शुरु हुआ। आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने अकाट्य तर्कों से एक-एक कर १४४४ बौद्ध विद्वानों को पराजित कर डाला। पूर्व शर्त के अनुसार पराजितों को उबलते हुए तेल के कड़ाहे में गिरना था कि इस विषय की सूचना किसी तरह आचार्य हरिभद्रसूरि के गुरुदेव को मिल गयी। उन्होंने अपने प्रभाव का प्रयोग कर इस अनर्थ को रुकवा दिया किन्तु शर्त के अनुसार कुछ एक विद्वानों की दृष्टि में यह नर बलि दी

गई थी ।[1]

इस घटना के निदान स्वरूप गुरु जी ने आचार्य हरिभद्रसूरि को निम्न तीन गाथाएं लिखकर भेजी थी—

१. गुणसेण अग्गिसम्मा सीहाणंदा य तह पिआपुत्ता ।
सिहि जालिणि माइसुआ घण-घण सिरिओ य पइभज्जा ॥१॥

२. जयविजया य सहोअर धरणो लच्छी य तहप्पई भज्जा ।
सेणविसेणापित्तिय उत्ता जम्मम्मि सत्तमए ॥२॥

३. गुणचंद वाणमंतर समराइच्चगिरिसेण पाणो य ।
एगस्सतओ मुक्खो णतो अण्णस्स संसारो ॥३॥[2]

इन गाथाओं को पढ़ते ही हरिभद्रसूरि का प्रतिशोधात्मक क्रोध शान्त हो गया और इन्हीं गाथाओं को आधार बनाकर सम्भवतः हरिभद्रसूरि ने **समराइच्चकहा** की रचना की और जितने बौद्ध भिक्षु स्वाहा हुए थे, उनके पश्चाताप स्वरूप उतने ही प्रकरणग्रंथ लिखने की उन्होंने प्रतिज्ञा की थी ।[3]

इस तरह उन्होंने शिष्यों के विरह से उत्पन्न दुःख से शान्तिलाभ प्राप्त किया और इसका स्मरण सूचक 'भवविरह' पद अपने उपनाम के रूप में सुरक्षित रखा ।

(३) याजकों को दिए जाने वाले आशीर्वाद और उनके द्वारा किए जाने वाले जय-जय कार का प्रसंग

जब कोई हरिभद्रसूरि के दर्शनार्थ आकर उन्हें प्रणाम करता था तब उसे हरिभद्रसूरि प्रत्युत्तर में आशीर्वाद स्वरूप जैसे आज कल **'धर्मलाभ'** कहा जाता है, वैसे ही 'भवविरह' कहकर आशीर्वाद देते थे । इस पर आशीर्वाद लेने वाला भक्त उन्हें **भवविरह सूरि 'बहुत जीए'** ऐसा कहकर सम्बोधित करते थे ।[4]

---

१. दे० हरि० प्रा० क०सा०, आ०परि०, पृ० ५१
२. समराइच्चकहा, प्रस्तावना, गा० २३-२५
३. हरि० प्रा० क०सा० आ० परि०, पृ० ५१
४. चिरं जीवउ भव विरह सूरित्ति । कहावली पत्र ३०१ अ

विचरण क्षेत्र

वैसे तो जैनसाधु का विचरण क्षेत्र समस्त भारतवर्ष होता है फिर भी कुछ परिस्थिति एवं कार्यवश सभी जैन साधु सर्वत्र विहार नहीं कर पाते। ऐसा ही हरिभद्रसूरि के विषय में भी ज्ञात होता है। मुख्य रूप से हरिभद्रसूरि राजस्थान और गुजरात में ही परिभ्रमण करते रहे किन्तु उनकी कृति 'समराइच्चकहा' में उत्तर भारत के नगरों और जनपदों के नाम मिलते हैं[1] जिससे ऐसा भी प्रतीत होता हैं कि उन्होंने उत्तर भारत की भूमि को अपने सद्धर्मामृत से सिञ्चित किया था।

पोरवाल वंश की स्थापना

हरिभद्रसूरि ने मेवाड़ में पोरवाल वंश की स्थापना करके उन्हें जैन परम्परा में दीक्षित किया था। ऐसी अनुश्रुति जातियों के इतिहास लिखने वालों ने लिखी है।[2]

(ख) हरिभद्रसूरि का समय

यद्यपि आचार्य हरिभद्रसूरि ने स्पष्ट रूप से अपने विषय में कहीं भी कुछ नहीं लिखा है फिर भी जो कुछ संक्षिप्त सूचना उनकी कृतियों में और उनके समकालीन विद्वान् लेखकों की रचनाओं में उपलब्ध होती है, उसी के आधार पर आधुनिक विद्वानों ने सूरि के समय को निश्चित करने का प्रयास किया है। अनेक अमूल्य ग्रंथ रत्नों की रचना करके भी यत्किञ्चित् प्रामाणिक ही न सही, झूठ-मूठ की भी कुछ सूचना न देने के कारण हरिभद्रसूरि के समय के विषय में आज भी विद्वानों में मतभेद पाया जाना स्वाभाविक है।

इस मतभेद के कारण कुछ विद्वान् उन्हें छठी शताब्दी में आविर्भूत हुआ मानते हैं तो कुछ उन्हें आठवीं शताब्दी का और कुछ उनका अस्तित्व इसके बाद स्वीकार करते हैं। इस प्रकार हरिभद्रसूरि के समय के सम्बन्ध में निम्न तीन मान्यताएं प्रसिद्ध हैं —

---

१. समराइच्चकहा, पृ० ८४५, ५०१, ६१८

२. दे० धर्मसंग्रहणी, प्रस्तावना, पृ० ७

१. परम्परागत मान्यता

इसके अनुसार हरिभद्रसूरि का स्वर्गारोहण वि०सं० ५८५ अर्थात् ई० सन् ५२७ में हुआ था।[1]

२. मुनि जिनविजय जी मान्यता

मुनि जिनविजय ने अन्तः और बाह्य प्रमाणों को आधार बनाकर ई० सन् ७०० से ७७० तक आचार्य हरिभद्रसूरि का समय निर्धारण किया है।[2]

३. प्रोफेसर के० वी० आभ्यंकर की मान्यता है कि आचार्य हरिभद्रसूरि वि० सं० ८०० से लेकर ९५० के मध्य में इस भूधरा पर विद्यमान थे।[3]

प्रथम मान्यता के अनुसार 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' के भूमिकाकार 'मुनि जयसुन्दरविजय' ने बड़े ही युक्ति पूर्वक हरिभद्रसूरि का समय छठी शताब्दी माना है।[4] उन्होंने अन्य विद्वानों के मतों का सतर्क खण्डन कर यथोचित प्रमाणों से स्वपक्ष की पुष्टि की है जबकि इसके ठीक विपरीत 'मुनि जिनविजय' ने अपने लेख में हरिभद्रसूरि का समय 'आठवीं शताब्दी' माना है और इसके प्रमाण में उन्होंने हरिभद्रसूरि द्वारा अपने ग्रंथों में उल्लिखित जैनेतर विद्वानों की नामावली उनके समय के क्रम से दी है। इस नामावली में जिन आचार्यों के नाम आए हैं, उनमें—

१. धर्मकीर्ति (ई०सं० ६०० से ६५० ई० तक)
२. भर्तृहरि (ई०सं० ६०० से ६५० ई० तक)

---

१. (क) पंचसए पणसीए विक्कम कालाउ झति अत्थमिओ।
हरिभद्रसूरिसरो भवियाण दिसऊ कल्लाणं। मेरुतुंगविचारश्रेणी
(ख) पंचसएपणसीएविक्कमभूपालझति अत्थमिओ।
हरिभद्दसूरिसरो धम्मरओ देउ मुक्खसुहं। प्रद्युम्न विचार, गा० ५३२

२. हरिभद्रस्य समयनिर्णयः, पृ० १७

३. दे० विंशतिविंशिका की प्रस्तावना, तथा दे० शास्त्री, हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ०४३

४. दे० शास्त्रवार्तासमुच्चय, भूमिका, पृ० १३

३. कुमारिल भट्ट (ई०सं० ६२० से ७०० ई० तक)
४. शुभगुप्त (ई०सं० ६४० से ७०० ई० तक) और
५. शान्ति रक्षित (ई०सं० ७०५ से ७३२ तक)[1] प्रमुख हैं

उपर्युक्त तर्क से नि.सन्देह यह सिद्ध होता है कि हरिभद्रसूरि अवश्य ही आठवीं शताब्दी में आविर्भूत हुए होंगे।

कुछ दूसरे विद्वान्[2] इसके समर्थन के लिए **कुवलयमालाकहा** के रचयिता 'उद्योतनसूरि' द्वारा प्रदत्त गाथा[3] को प्रस्तुत करते हैं जिसमें हरिभद्रसूरि को उद्योतनसूरि ने अपना गुरु माना है। उद्योतनसूरि ने **कुवलयमालाकहा** को शक सम्वत् ७०० अर्थात् (ई०सं० ७७८) में समाप्त किया था।[4]

इससे ज्ञात होता है कि हरिभद्रसूरि ई० सन् के पूर्व अवश्य रहे होंगे[5] किन्तु मुनि जयसुन्दरविजय ने कहा है कि 'मुनि जिनविजय को इन पद्यों का अर्थ समझने में भ्रान्ति हुई है, क्योंकि जो गाथा मुनि जिनविजय ने पहले प्रस्तुत की है उसमें उन्होंने एक पंक्ति और पहले की देकर कहा है कि **कुवलयमालाकहा**कार 'उद्योतनसूरि के गुरु 'वीरभद्र' थे तथा वीरभद्र के गुरु थे—'हरिभद्रसूरि'[6] अर्थात् यह सिद्ध हुआ कि हरिभद्रसूरि, उद्योतनसूरि के गुरु के गुरु थे।

दूसरी ओर दूसरी गाथा का अर्थ करते हुए स्वयं मुनि जयसुन्दर-विजय ने लिखा है कि मुनि जिनविजय ने तो **'सो सिद्धन्तेण गुरु—'**

---

१. मुनिजिनविजय संस्कृत लेख—आचार्य हरिभद्रस्य समयनिर्णयः
२. दे० समराइच्चकहाः एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १
३. जो इच्छई भवविरहं को नु बंदए सुयणो।
समयसयसत्थ गुरुणो समरमियंका कहा जस्स ॥ कुवलयमालाकहा, अ० ६, पृ० ५
४. कुवलयमालाकहा, अनुच्छेद ४३०, पृ० २८२
५. दे० अर्ली चौहान डानस्टीज, पृ० २२२
६. आयरियवीरभद्दो महावरो कप्परूक्खोव्व।
सोसिद्धन्तेण गुरुजुत्तिसत्थेहिं जस्स हरिभद्दो।
बहुगथं सत्थवित्थरपत्थारियपयड सव्वथो ॥ शास्त्रवार्ता समुच्चय, भूमिका, पृ० १० पर उद्धृत

गाथा में आए 'तत्' पद के 'सो' से वीरभद्र का ग्रहण किया है, उसी पद्य के अगले पाद में 'जस्स' पद से 'मुनि जिनविजय' ने **कुवलयमालाकहा-कार** का ग्रहण किया है अर्थात् हरिभद्रसूरि, उद्योतनसूरि के गुरु थे, यह सिद्ध किया है।[1]

परन्तु व्याकरण के नियमानुसार 'तत्' पद से जिसका ग्रहण होगा, जस्स(यस्य) पद से भी उसी का ग्रहण होने से जस्स पद से यहाँ 'वीरभद्र' को ही लिया जाना चाहिए, नहीं तो विरोध की स्थिति उत्पन्न होगी, जो अनुचित है। अतएव व्याकरण के अनुसार इस गाथा का अर्थ होगा कि तर्कशास्त्र के विषय में हरिभद्र, वीरभद्र के गुरु थे, न कि उद्योतन-सूरि के। इस तरह हरिभद्रसूरि **कुवलयमालाकहा** कार के गुरु के गुरु थे। समर्थन में मुनि जयसुन्दरविजय ने **कुवलयमालाकहा** कार के ही एक अन्य पद्य को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है[2]। इस पद्य में उद्योतन-सूरि ने हरिभद्रसूरि का स्मरण किया है किन्तु उनको अपना गुरु होने को कोई सूचना नहीं दी। इससे सिद्ध होता है कि हरिभद्रसूरि **कुवलय-मालाकहाकार** उद्योतनसूरि के गुरु नहीं थे।[3]

पाश्चात्य जर्मन विद्वान् हर्मन जेकोबी का मत

कुछ विद्वान् जिनमें हर्मन जेकोबी प्रमुख है उन्होंने **उपमिति-भवप्रपञ्चकथाकार** श्रीसिद्धर्षि के गुरु के रूप में आचार्य हरिभद्रसूरि को माना है। इसके प्रमाण में उपमितिभवप्रपञ्चकथा के ये प्रशस्ति पद्य प्रस्तुत किए गए हैं—

आचार्य हरिभद्रो मे धर्मबोधकरो गुरुः,
प्रस्तावे भावतो हन्त स एवाद्ये निवेदितः :
अनागतं परिज्ञाय चैत्यवन्दनसंश्रया,
मदर्थैव कृता येन वृत्तिललितविस्तरा ।:[4]

---

१. दे० वही, पृ० १०

२. जो इच्छइ भवविरहं को वंदए सुजणो।
समयसयसत्थगुरुणो समरमियकाकहा जस्स ॥ कुवलयमा०, पृ० ४

३. शास्त्रवा०, मू०, पृ० ११

४. वही, पृ० ११ पर उद्धृत।

किन्तु मुनि जयसुन्दरविजय ने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि—उपमितिभवप्रपञ्चकथा के रचयिता ने 'उपमिति—' की समाप्ति की जो सूचना दी है[1] उससे उसका समाप्ति समय वि०सं० की ११वीं शताब्दी सिद्ध होता है।

यहां हमें मुनि जयसुन्दरविजय के कथन पर भी विशेष ध्यान देना होगा जैसे सिद्धर्षि को आचार्य हरिभद्रसूरि की **ललितविस्तरा** से बोध प्राप्त हुआ था। इस वाक्य से सिद्धर्षि अपना गुरु हरिभद्रसूरि को मानते हैं, जो स्वाभाविक-सा लगता है कारण कि प्रकट में भी एक व्यक्ति के अनेक गुरु आचार्य पाए जाते हैं। गुरु से प्रेरणा मिलना ही पर्याप्त है, जो किसी से भी प्राप्त हो सकती है। मुनि जयसुन्दर कहते हैं कि 'सिद्धर्षि' को आचार्य हरिभद्रसूरि की कृति 'ललितविस्तरा' से बोध प्राप्त हुआ था। इस कारण हरिभद्रसूरि, सिद्धर्षि के साक्षात् गुरु न होकर शास्त्रगुरु थे। अतः आचार्य हरिभद्रसूरि का समय छठी शताब्दी में ही मानना युक्तियुक्त है। इसके प्रमाण में मुनि जयसुन्दरविजय कहते हैं कि हरिभद्रसूरि ने '**लघुक्षेत्रसमासवृत्ति**' नामक अपनी रचना के अन्त में अपने समय का स्पष्ट उल्लेख किया है। वहाँ पर जो गाथा है उसमें सम्वत् तिथि, मास, वार और नक्षत्र आदि का स्पष्ट निर्देश किया गया है।[2]

आचार्य हरिभद्रसूरि के छठी शताब्दी में आविर्भूत होने का एक और प्रमाण है, वह है—श्री मेरुतुंगसूरि द्वारा रचित '**प्रबन्ध चिन्तामणि**' नामक ग्रंथ, जिसमें मेरुतुंगसूरि ने एक गाथा उद्धृत की है।[3] यह गाथा अन्य ग्रंथों—**विचार श्रेणी** आदि में भी उपलब्ध होती है।

१. संवत्सरशतनवके द्विषष्टिसहिते तिलङ्घते चास्याः।
ज्येष्ठे सित पञ्चम्यां पुनर्वसो गुरुदिने समाप्तिरभूत् ॥ वही

२. लघुक्षेत्र समासस्य वृत्तिरेषा समासतः।
रचिताइ बुधबोधार्थं श्रीहरिभद्रसूरिभि : ॥ १ ॥
पञ्चाशितिकवर्षे विक्रमतो व्रजति शुक्लपञ्चम्याम्।
शुक्रस्य शुक्रवारे पुष्ये शस्ये च नक्षत्रे ॥ २ ॥ लघुक्षेत्रसमासवृत्ति

३. पंचसए पणसीए विक्कम कालाउ झत्ति अत्थमिओ।
हरिभद्रसूरिसूरो भवियाण दिसउ कल्लाणं ॥ शा०वा०समु०, भूमिका, पृ० ८ पर उद्धृत फुट नोट

इससे पता चलता है कि हरिभद्रसूरि ने वि०सं० ५८५ में स्वर्गलाभ किया था। अतएव आचार्य हरिभद्रसूरि का समय छठी शताब्दी का उत्तरार्ध निश्चित होता है।

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री का मत

आधुनिक विद्वान् डा० नेमिचन्द्र शास्त्री हरिभद्रसूरि के समय की पूर्व सीमा ई०सं ७०० के आस-पास मानते हैं।[1] इसकी पुष्टि में वे कहते हैं कि **विचारश्रेणी** और **प्रबन्ध चिन्तामणि** में आगत गाथा '**पंचसए**—' का अर्थ एच०ए० शाह ने जिस प्रकार से किया है उसके अनुसार यहां वि०सं० के स्थान पर गुप्त सम्वत् का ग्रहण होना चाहिए।[2] इससे गुप्त सम्वत् ५८५ शक् सम्वत् ७०७ में और वि०सं० ८४३ में तथा ई०स० ७८५ में अन्तर्भूत होता है और यही हरिभद्रसूरि का स्वर्गारोहणकाल निश्चित होता है।

यतिवृषभ की **तिलोयपण्णति** (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) के अनुसार महावीर के निर्वाण के ४६१ वर्ष बाद शकारि नरेन्द्र विक्रमादित्य उत्पन्न हुए थे। इस वंश का राज्यकाल का प्रमाण २४२ वर्ष है और गुप्तों के राज्यकाल का प्रमाण २५५ वर्ष है। इसके अनुसार १८५-१८६ सन् के लगभग गुप्त सम्वत् का आरम्भ हुआ और इस गुप्त सम्वत् में ५८५ वर्ष जोड़ दिये जाए तब ई० सन् ७७०-७७१ के लगभग हरिभद्रसूरि का निर्वाण समय बैठता है जिसकी पुष्टि मुनि जिनविजय के लेख से भी हो जाती है।[3]

आदिशंकराचार्य से पूर्ववर्ती हरिभद्रसूरि

प्रोफेसर आम्यंकर हरिभद्रसूरि के ऊपर शंकरचार्य का प्रभाव बतलाकर उन्हें शंकराचार्य का पश्चात्वर्ती मानते हैं[4] किन्तु हरिभद्रसूरि के दर्शन विषयक ग्रंथों को देखने और उनके द्वारा प्रदत्त पूर्ववर्ती दार्शनिकों

१. हरि०प्रा० क० सा० आ० परि०, पृ० ४३

२. वही

३. विशेष अध्ययन के लिए दे० अनेकान्तजयपताका, भाग-२, प्रस्तावना, तथा हरि०प्रा० क०सा० परि०, पृ० ४३ पर फुट नोट

४. दे० विंशतिविंशिका, प्रस्तावना, तथा हरि०प्रा० क०सा० आ०परि०, पृ० ४५ फुट नोट नं० १

के उल्लेखों से यह मत असत्य सिद्ध हो जाता है। यदि शंकराचार्य हरिभद्रसूरि के पूर्ववर्ती होते तब हरिभद्रसूरि उनका उल्लेख अपनी किसी न किसी रचना में अवश्य करते, जैसा कि उन्होंने धर्मकीर्ति आदि का उल्लेख किया है। अतः हरिभद्रसूरि निस्सन्देह शंकराचार्य के पूर्ववर्ती थे।

डा० महेन्द्रकुमार न्यायचार्य ने जयन्त की **न्यायमंजरी** का समय ई० ८०० से लगभग मानकर हरिभद्रसूरि का समय ८०० के बाद स्वीकार किया है। अपने इस कथन की पुष्टि में प्रमाण स्वरूप वे हरिभद्रसूरि द्वारा रचित **षड्दर्शसमुच्चय** में उपलब्ध जयन्तभट्ट की **न्यायमंजरी** के कुछ पद्य[1] उद्धृत करते हैं। परन्तु प्रकृत में यह स्वीकार करना असम्भव है कारण कि एक तो यह तिथि यदि मान भी ली जाए तब हरिभद्रसूरि, उद्योतनसूरि के गुरु के रूप में स्वीकार नहीं किये जा सकेंगे। अतः डा० नेमिचन्द्रशास्त्री का कथन ठीक ही जान पड़ता है और जैसा कि वे स्वयं कहते भी हैं कि सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि हरिभद्रसूरि और जयन्तभट्ट इन दोनों ने किसी एक ही पूर्ववर्ती आचार्य की रचना से उक्त पद्य उद्धृत किए हैं।[2]

हरिभद्रसूरि के समय निर्णय में विद्वानों ने मल्लवादी को भी घसीट लिया है। इसका एक मात्र कारण है कि सटीक **नयचक्र** के रचयिता मल्लवादी का निर्देश हरिभद्रसूरि ने **अनेकान्तजयपताका** की टीका में किया है। डा० शास्त्री मानते हैं कि हरिभद्रसूरि सम्भवतः मल्लवादी के समसामयिक विद्वान् थे और जिनका समय ८२७ ई० सन् के आस-पास माना जाना चाहिए।[3]

इस दृष्टि से **कुवलयमालाकहाकार** उद्योतनसूरि के शिष्यत्व को यदि ध्यान में रखते हैं तो हरिभद्रसूरि का समय ई० सं० ७३० से ८३०

---

१. गभीरगर्जितारंभनिर्भिन्नगिरिगह्वरा।
रोलम्बगवलव्यालतमालमालमलिनत्विषः॥
त्वंगत्तडिल्लतासंगपिशंगीतुंगविग्रहा।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवं प्रायाः पयोमुचः॥ षड्दर्शनसमुच्चय, श्लोक ३०, तथा न्यायमंजरी, पृ० १२९

२. दे० हरि० प्रा० क० सा० आ०परि०, पृ० ४५-४६

३. वही, पृ० ४६

के मध्य अर्थात् ९वीं शदी में चला जाता है, जो कुछ विद्वानों को सम्भवतः स्वीकार्य नहीं होगा।[२]

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि हरिभद्रसूरि के महान् एवं घटना प्रधान जीवन तथा उनके अनुपम साहित्यिक अवदान की विपुलता को दृष्टिगत करने से उनकी अधिकतम आयु का अनुमान १०० वर्ष के लगभग लगाया जा सकता है।[३] इससे उन्हें मल्लवादी के समकालीन और उद्योतनसूरि के गुरु मानने में भी कोई आपत्ति नही रह जाती।

यदि हरिभद्रसूरि द्वारा निर्देशित दार्शनिकों का समय सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से लेकर ८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक माना जाए तब विद्वानों का बहुमत भी इसी के पक्ष में जाता है कि आचार्य हरिभद्रसूरि ७वीं शदी के आरम्भ और आठवीं शदी के अन्त तक इस नश्वर भूतल पर विद्यमान थे। पं० सुखलाल संघवी एवं श्रीहीरालाल कापड़िया ने भी हरिभद्रसूरि का यही समय (८वीं शदी) माना है।[३]

इसके अतिरिक्त पण्डित प्रवर सुखलाल संघवी के साथ डा० हीरालाल जैन, डा० ए०एन० उपाध्ये[४], प्रोफेसर दलसुख भाई मालवणिया[५] और डा० बिमलप्रकाश जैन[६] प्रभृति आधुनिक विद्वान् भी आचार्य हरिभद्रसूरि का समय निश्चित रूप से आठवीं शताब्दी ही मानते हैं और यही प्रामाणिक भी लगता है।

(ग) हरिभद्रसूरि का व्यक्तित्व

आचार्य हरिभद्रसूरि बहुमुखी प्रतिभा के धनी एवं श्रेष्ठ साधक थे। उनका व्यक्तित्व बहु आयामी था। उनके हृदय में नवनीत-सी कोमलता थी और वाणी प्रचुर माधुर्य से ओतप्रोत थी। आपका व्यवहार

---

१. वही, पृ० ४७

२. वही,

३. दे० समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि, पृ० १०
तथा श्रीहरिभद्रसूरि, पृ० ३४६

४. दे० षड्दर्शनसमुच्चय, प्रधान सम्पादकीय, पृ० ७

५. वही. प्रस्तावना, पृ० २०

६. दे० जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय, प्रस्तावना, पृ० २४

फूलों से भी अधिक मधुर, मन दया का सागर, वक्तव्य विद्वत्तापूर्ण एवं निष्पक्ष था। वे अपूर्व काव्यसर्जन शक्ति से सम्पन्न थे। उनका भाषा एवं भावों पर पूर्ण अधिकार था। वे भारतीय दर्शनों के मर्मज्ञ अधिकारी वेत्ता, समीक्षक एवं स्वयं एक चलती फिरती लायब्रेरी थे। उनकी स्मृति अत्यन्त जागरूक थी। मेधावी साधक और अनेक महान् गुणों के पुञ्ज आचार्य हरिभद्रसूरि का व्यक्तित्व स्वच्छ दर्पण था। अनेक व्यक्तित्व एवं गुणों का वर्णन वचनातीत हैं फिर भी उनके जीवन सागर की जिन कतिपय विशेषताओं को विद्वानों ने उजागर किया है, उन्हीं को यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है।

भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि सन्त

सन्त वही होता है जो स्व और पर का हित साधक हो—**परोपकाराय सतां विभूतयः**। प्रमाद से दूर निर्माण के कार्य में सतत प्रयत्नशील रहना, बाधाओं व मुसीबतों के आगे घुटने न टेकना, अपने पथ अथवा मंजिल की ओर बेधड़क बढ़ते चले जाना यही सन्त के विशेष गुण हैं। वस्तुत: ऊर्ध्वगामी होना सत्त्व का एकमात्र स्वभाव भी है। मंजिल पर पहुंचने के लिए उसे परस्पर का सहयोग आवश्यक होता है, इसीलिए जैनदर्शन में भी **परस्परोपग्रहो जीवानाम्** की मंगल भावना भायी गयी है। अभिप्राय यह है कि सत्त्व का उद्देश्य परस्पर में एक दूसरे जीवों अथवा प्राणियों का उपकार करना ही है।

हरिभद्रसूरि के जीवन में यह सब कुछ घटित हुआ। उन्होंने स्व-हित के साथ-साथ परहित साधन भी निरन्तर किया। अनेक प्राणियों को कल्याणमार्ग में लगाया तथा अनेक ग्रंथ रत्नों को देकर भारतीय संस्कृति के भण्डार को अक्षय बना दिया। उनके ग्रंथों का अध्ययन अध्यापन कर सत्त्व आज भी लाभान्वित हो रहे हैं।

समाज के यथार्थ सेवक

सत्त्व कहीं किसी के घर में अपने कर्मोदय के वश जन्मता है और कहीं विशेष स्थान पर पहुंच कर वह जहां समाज से बहुत कुछ ग्रहण करता है, वहीं समाज को कुछ देता भी है। उसे बदलने का, उसकी उन्नति करने के प्रयत्न भी करने पड़ते है। हरिभद्रसूरि ने

भी समाजहित एवं राष्ट्रहित में अनेक पद यात्राएं कीं और अपने ज्ञान-बल के आधार पर धर्मोपदेश देकर उन्मार्ग से सन्मार्ग पर आरुढ़ किया। समाज में प्रचलित कुरीतियों, अनैतिक विश्वासों एवं परम्पराओं में परिवर्तन कराकर उदात्त भावना की प्रेरणा से उसे आध्यात्मोन्मुखी बनाने का सफल प्रयत्न किया ओर स्वात्मविकास करके विमुक्तिरसास्वादन भी किया।

गुरु भक्त हरिभद्र

जैनदर्शन में वीतरागी देव, गुरु एवं उनके द्वारा प्ररूपित शास्त्र-आगम को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है, फिर इसके प्रति भक्तिभावना का तो कहना ही क्या ? इनका प्रभाव एवं महिमा अचिन्त्य है। आचार्य हरिभद्रसूरि जैसे जैनदर्शन में आए हो नहीं कि उसके अगम्य प्रभाव की झलक उनके अपने गुरु के प्रति अनन्य भक्ति में मिलने लगती है। आपकी कृतियाँ और उनमें आगत अप्रत्यक्ष गुरुमहिमा इसका प्रबल प्रमाण हैं। आप में न केवल अपने पूज्य और आराध्य के प्रति ही बहुमान पाया जाता है बल्कि दूसरे सम्प्रदाय के महापुरुषों के प्रति भी उससे कहीं अधिक मान-सम्मान एवं पूज्यत्व की भावना उनमें व्याप्त थी। तभी सम्भवत: वे निष्पक्षरूप से इतने गहनतम दर्शन एवं कथा विषयक साहित्य के सफल रचयिता हुए।

एक सफल टीकाकार हरिभद्रसूरि

आचार्य हरिभद्रसूरि उच्चकोटि के टीकाकार थे। इसका कारण आपका संस्कृत, प्राकृत एवं तत्कालीन प्रचलित अधिकतम भाषाओं पर असाधारण अधिकार का होना था। विशेषकर संस्कृत और प्राकृत भाषा तो उनकी निजी सम्पत्ति थी, जिनमें अनुपम ज्ञान से परिपूर्ण उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियां आज उपलब्ध हैं। इनमें आगमों पर उनके द्वारा किए गए भाष्य एवं टीका ग्रंथों का विशेष महत्त्व है। इन्हीं में उपलब्ध संकेतों एवं ज्ञान स्रोतों से हरिभद्रसूरि के व्यक्तित्व का महनीय परिचय मिलता है।

उनके निखिल साहित्य का परिशीलन करने पर हम पाते हैं कि हरिभद्रसूरि ने जो उदात्त दृष्टि असाम्प्रदायिकवृत्ति और निर्भय विनम्रता अपनी कृतियों में प्रदर्शित की है वैसी उनके पूर्ववर्ती अथवा उत्तरवर्ती

किसी भी जैन अथवा जैनेतर विद्वान् में शायद ही दृष्टिगोचर हो।

हरिभद्रसूरि ने साहित्य, दर्शन और योग साधना के क्षेत्र में जो योगदान दिया है, उसमें उपलब्ध कतिपय विशेषताओं का दिग्दर्शन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है।

कथा साहित्य में हरिभद्रसूरि का स्थान

इसमें संदेह नहीं कि हरिभद्रसूरि कथाकार के साथ ही साथ उच्च-कोटि के मर्म ज्ञाता भी थे। जितनी चिन्तन मनन शीलता और गम्भीरता उनमें विद्यमान थी, उतनी अन्य साहित्यकारों में शायद ही दृष्टिगत हो। धार्मिक कथाओं के रचयिता होने पर भी जीवन की विभिन्न समस्याओं को सुलझाना और संघर्ष के घात-प्रतिघात प्रस्तुत करना इनकी अपनी विशेषता है। कौतुहल और जिज्ञासा का सन्तुलन कथाओं में अन्त तक बना रहता है। कथा जीवन के विविध पहलुओं को अपने में समेटे हुए पाठक का मनोरंजन करती हुई आगे बढ़ती हैं। प्रेम और लौकिक जीवन की विभिन्न समस्याएं **समराइच्चकहा** में उठाई गई हैं, जो पठनीय और भजनीय है।

हरिभद्रसूरि ने मानव जीवन की समस्याओं को उठाकर उन्हें यों ही नहीं छोड़ दिया, बल्कि उनके समाधान भी दिए हैं। संक्षेप में **समराइच्चकहा** के प्रत्येक भव की कथा शिल्प, वर्ण्य विषय, पात्रों का चरित्र-चित्रण, संस्कृति का निरूपण एवं विशिष्ट सन्देश आदि दृष्टियों से बेजोड़ है। **समराइच्चकहा** की भाषा-शैली अत्यन्त परिष्कृत है, इसके द्वारा प्राकृत कथा क्षेत्र को नयी दिशा प्राप्त हुई है।

यहां इतना ही निर्देश करना पर्याप्त होगा कि **समराइच्चकहा** ने धर्मकथाशैली को ऐसी प्रौढ़ता प्रदान की, जिससे यह शैली उत्तरवर्ती लेखकों के लिए भी आदर्श बन गई। इससे सिद्ध होता है कि हरिभद्रसूरि का कथा साहित्य में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

धूर्ताख्यान तो अपने ढंग का अद्भुत् कथा काव्य है। इस कृति द्वारा भारतीय साहित्य में हरिभद्रसूरि शैली की स्थापना की गयी। इसमें लेखक ने मनोरंजन और कुतूहल के साथ-साथ जीवन को स्वस्थ बनाने के लिए व्यंग्य शैली का अनुपम प्रयोग किया है। संक्षेप में यही कथा

साहित्य विषयक हरिभद्रसूरि की विशेषताएं हैं।

अब हम दर्शन और योग के क्षेत्र में हरिभद्रसूरि के विशिष्ट योग-दान की कुछ विशेषताओं का अध्ययन करते हैं—

समत्व दृष्टि और औदार्य गुण

आध्यात्मिकता का परम लक्ष्य समभाव और निष्पक्षता है। हरिभद्रसूरि ने जिसे अपने दार्शनिक ग्रंथों में बड़ी उदारता से साधा है। **लोकतत्त्वनिर्णय** ग्रन्थ[1] में जो कुछ आचार्य हरिभद्रसूरि ने कहा है वह उनकी निष्पक्षता, तटस्थता और गुणग्राहकता का द्योतक है।

भारतीय दार्शनिकों में हरिभद्रसूरि ही एक मात्र ऐसे मनीषि आचार्य हैं जिन्होंने अपने ग्रंथ **षड्दर्शनसमुच्चय** की रचना में केवल उन-उन दर्शनों के मान्य देवों और तत्त्वों को यथार्थ रूप से निरूपित करने का प्रयास किया है, किसी के खण्डन करने की दृष्टि से उनको नहीं लिखा। आपका अनुकरण करने वाले आचार्य राजशेखर प्रभृति विद्वान् अपनी रचनाओं में वैसी उदारता नहीं दिखला सके[2]।

चार्वाक कोई दर्शन नहीं है—ऐसा विधान तो राजशेखर करते ही हैं[3] परन्तु साथ ही अन्त में पूर्व प्रचलित ढंग से चार्वाक दर्शन का खण्डन भी करते हैं[4]। जो परम्परागत होने पर भी लेखक की दृष्टि में कुछ न्यूनता सूचित करता है।

हरिभद्रसूरि की दृष्टि इस विषय में बड़ी उदात्त रही है। उन्होंने

---

१. बन्धुर्न नः स भगवान् रिपवोऽपि नान्ये,
साक्षान्न दृष्टचर एकतमोऽपि चैषाम् ॥
श्रुत्वा वचः सुचरितं च पृथग् विशेषम्,
वीरं गुणातिशयं लोलतयाश्रिताः स्मः ॥ लोकतत्त्वनि० १.३२
पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥ वही १.३८

२. दे० (संघवी) समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० ४३

३. नास्तिकस्तु न दर्शनम् । राजशेखर, षड्०समु०. श्लोक ४

४. वही, श्लोक ६५ से ७५

अपने प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रंथ **षड्दर्शनसमुच्चय** में चार्वाक दर्शन को समान स्थान देकर अपना समत्व गुण स्थापित किया है। उनका मानना है कि न्याय और वैशेषिक दर्शन भिन्न नहीं है। अतः की गई प्रतिज्ञा के अनुरूप षड्दर्शनों का पूर्ति करने के लिए वे चार्वाक को भी एक दर्शन मान कर उसे बराबरी का स्थान देते हैं।[1]

आस्तिक एवं नास्तिक पद लोक तथा शास्त्र में विख्यात रहा है। यद्यपि पाणिनी ने परलोक आत्मा पुनर्जन्म जैसे अदृष्ट तत्व न मानने वाले को काशिकावृत्ति में नास्तिक और मानने वाले को आस्तिक बतलाया है[2] जिन्होंने कालान्तर में साम्प्रदायिकता को धारण कर लिया। एक ने वेद को मुख्य मान कर वेद को प्रमाण मानने वाले को आस्तिक और प्रमाण न मानने वाले को नास्तिक की मान्यता दे दी, जबकि दूसरा इसका विरोधी था। वह परलोक आत्मा, पुनर्जन्म तो मानता था किन्तु वेदविहित क्रियाकाण्ड में विश्वास नहीं रखता था। आगे चल कर इस चर्चा ने ऐसा भयंकर रूप धारण कर लिया कि वेद-निन्दक का बहिष्कार करने की घोषणा मनुस्मृतिकार ने कर दी।[3]

दूसरी मान्यता वालों ने कहा कि जो हमारे शास्त्रों को न माने वह मिथ्यादृष्टि है। इस प्रकार आस्तिक नास्तिक पद का अर्थ तात्त्विक मान्यता से हटकर ग्रंथ और पुरस्कर्ताओं की मान्यता में रूपान्तरित हो गया फिर भी हरिभद्रसूरि इस साम्प्रदायिकवृत्ति के वशीभूत नहीं हुए, और वेद माने या न माने, जैनशास्त्र माने या न माने, परन्तु यदि वह

---

१. नैयायिक मतादन्ये भेदं वैशेषिकैः सह।
न मन्यन्ते मते तेषां पंचैवास्तिकवादिनः॥
षड्दर्शनसंख्या तु न पूर्यते तन्मते किल।
लोकायतमतक्षेपे कथ्यते तेन तन्मतम्॥ षड्दर्शनसमु०, श्लोक ७७-७८

२. अस्ति-नास्ति-दिष्टं मतिः। पाणिनी ४. ४. ६०
न च मतिसत्तामात्रे प्रत्यय इष्यते। कस्तर्हि !
परलोकोऽस्तीति यस्य मतिरस्ति स आस्तिकः। तद्विपरीतो नास्तिकः।
काशिका

३. दे० मनुस्मृति, २.११

आत्मा, परलोक, पुनर्जन्म आदि को मानता है, तो उनकी दृष्टि में उसे आस्तिक ही कहना चाहिए। उन्होंने कहा कि वैदिक या अवैदिक सभी आत्मवादी दर्शन आस्तिक हैं।[1] इसे हरिभद्रसूरि की साम्प्रदायातीत समत्वदृष्टि की विशेषता और उनके महान् व्यक्तित्व की उदात्तता ही कहा जाएगा।

तुलनात्मक दृष्टि

हरिभद्रसूरि ने परम्परागत प्रचलित खण्डन-मण्डन की परिपाटी में तुलनात्मक दृष्टि को जो और जैसा स्थान दिया है वह और वैसा स्थान उनके पूर्ववर्ती, समकालीन या उत्तरवर्ती किसी भी अन्य आचार्य के ग्रंथ में शायद ही प्राप्त हो सके। यथार्थ के अधिकाधिक समीप पहुंचा जा सके, इस हेतु से उन्होंने परमातावलम्बियों के मन्तव्य को हृदय में पहले अधिक गहरा उतारने का प्रयत्न किया है और अपने मन्तव्य के साथ उनके मन्तव्य का परिभाषा भेद अथवा निरूपणभेद होने पर भी किस तरह साम्य रखता है, यह उन्होंने स्व-पर मत की तुलना द्वारा अनेक स्थानों पर बतलाया है। परमत की समालोचना करते समय कदाचित् उससे अन्याय न हो जाए, वैसी पापभीरुवृत्ति उन्होंने दिखलाई, वैसी वृत्ति शायद ही किसी विद्वान् ने दिखलाई हो। यहां उनकी इस तुलनात्मक दृष्टि के कुछ उदाहरण प्रस्तुत है—

हरिभद्रसूरि ने भूतवादी चार्वाक की समीक्षा करके उसके भूत स्व-भाववाद का निरसन किया है और परलोक एवं सुख-दुःख के वैषम्य का स्पष्टी-करण करने के लिए कर्मवाद की स्थापना की। इसी प्रकार चित्त-शक्ति या चित्तवासना को कर्म मानने वाले मीमांसक और बौद्धमत का निराकरण करके जैन दृष्टि से कर्म का स्वरूप क्या है ? यह स्पष्ट किया है। इस अन्य चर्चा में उन्हें ऐसा लगा कि जैन परम्परा कर्म का उभयविध स्वरूप मानती है। चेतन पर पड़ने वाले भौतिक परिस्थितियों के प्रभाव को, और भौतिक परिस्थितियों में पड़ने वाले चेतन संस्कार के प्रभाव को मानने के कारण, वह सूक्ष्म भौतिकवाद को द्रव्य और कर्म

---

१. एवमास्तिकवादानां कृत् संक्षेपकीर्तनम्।
षड्दर्शनसमुच्चय, श्लोक ७७

तथा जीवगत संस्कार विशेष का भावकर्म कहती है।

हरिभद्रसूरि ने देखा कि जैन परम्परा बाह्य भौतिक तत्त्व तथा आन्तरिक चेतन शक्ति इन दोनों के परस्पर प्रभाव वाले संयोग को मानकर उसके आधार पर कर्मवाद और पुनर्जन्म का चक्र घटाती है, तो चार्वाक मत अपने ढंग से भौतिक द्रव्य का स्वभाव मानता है, जबकि मीमांसक तथा बौद्ध अभौतिक तत्त्व का तद्गत स्वभाव मानते हैं। अतः हरिभद्र ने इन दोनों पक्षों में आए हुए एक-एक पहलु को परस्पर के पूरक के रूप में सत्य मानकर कह दिया कि जैन कर्मवाद में चार्वाक[1] और मीमांसक या बौद्ध मन्तव्यों का समन्वय हुआ है।[2]

हरिभद्रसूरि मानों मानव मानस की गहनता नापते हुए इस तरह कहते हैं कि लोग जिन शास्त्रों एवं विधि-निषेधों के प्रति आदर भाव रखते हैं। वे शास्त्र एवं वे विधि-निषेध रूप उनके मत यदि ईश्वर प्रणीत हों तो वे सन्तुष्ट हो सकते हैं, और वैसी वृत्ति मिथ्या भी नहीं है। अतएव इस वृत्ति का पोषण होता रहे तथा तर्क और बौद्धिक समीक्षा की कसौटी पर सत्य साबित हो, ऐसा सार निकालना चाहिए। यह सार अपने प्रयत्न से विशुद्धि के शिखर पर पहुंचे हुए व्यक्ति को आदर्श मानकर उसके उपदेशों में कर्तृत्व की भावना रखता है।

हरिभद्रसूरि की कर्तृत्व विषयक तुलना इससे भी की जाती है जैसे कि वह स्वयं कहते हैं—जीव मात्र तात्त्विक दृष्टि से शुद्ध होने के कारण परमात्मा या उसका अंश है और वह अपने अच्छे बुरे भावों का कर्त्ता भी है। इस दृष्टि से देखें तो जीव ईश्वर है और वही कर्त्ता है। इस दृष्टि से देखें तो जीव ईश्वर है और वह कर्त्ता है। इस तरह कर्तृत्ववाद की सर्वसाधारण उत्कण्ठा को उन्होंने तुलना द्वारा विधायक रूप

---

१. कर्मणो भौतिकत्वेन यद्वै तदपि साम्प्रतम्।
आत्मनो व्यतिरिक्तं तत् चित्तभावं यतो मतम्॥ शास्त्रवार्ता समु० श्लोक ९५

२. शक्तिरूपं तदन्ये तु सूरयः सम्प्रचक्षते।
अन्ये तु वासनारूपं विचित्रफलदं मतम्॥ वही, श्लोक ९६

दिया है।[1]

शान्तरक्षित की भांति हरिभद्रसूरि ने भी सांख्य मत के प्रकृति-कारणवाद की पर्यालोचना में भी दोनों की भूमिका में भेद देखा जाता है। शान्तरक्षित ने प्रकृतिपरीक्षा में सांख्य की दलीलों का क्रमशः निराकरण किया है परन्तु अन्त में वह प्रकृतिवाद से कोई उपादेय स्वरूप अपनी दृष्टि से नहीं बतलाते, जबकि हरिभद्रसूरि बतलाते हैं। प्रकृतिवाद का खण्डन करते समय हरिभद्रसूरि के मन को मानों ऐसा प्रतीत हुआ कि इस प्रकृतिवाद में कुछ रहस्य है और उसको बतलाना चाहिए। ऐसे ही विचार के कारण उन्होंने कहा कि जैन परम्परा भी अपनी दृष्टि से प्रकृतिवाद मानती है।[2]

बहुमानवृत्ति

सामान्य रूप से दार्शनिक परम्परा में सभी बड़े-बड़े विद्वान् अपने से भिन्न परम्परा के प्रति पहले से ही लाघव बुद्धि और कभी-कभी अवगणना बुद्धि से युक्त होते हैं। हरिभद्रसूरि अपने ढंग से परमत को समालोचना तो करते हैं परन्तु उस समालोचना में उस-उस मत के पुरस्कर्ताओं या आचार्यों को थोड़ी-सी भी लाघव दृष्टि से नहीं देखते बल्कि स्वदर्शन के पुरस्कर्ताओं और आचार्यों के समान ही उन्हें भी बहुमान देते हैं।

---

१. ततश्चेश्वरकर्तृत्ववादोऽयं युज्यते परम्।
सम्यग्न्यायविरोधेन यथाऽऽहुः शुद्धबुद्धयः॥
ईश्वरः परमात्मैव तदुक्तं व्रतसेवनात्।
यतो भक्तिस्ततस्तस्याः कर्ता स्याद् गुणाभावतः॥
तदनासेवनादेव यत्संसारोऽपि तत्त्वतः।
तेन तस्यापि कर्तृत्वं कल्प्यमानं न दुष्यति॥
कर्ताऽयमिति तद्वाक्ये यतः केषांचिदादरः।
अतस्तदानुगुण्येन तस्य कर्तृत्वदेशना।
परमैश्वर्ययुक्तत्वान्मत आत्मैव चेश्वरः।
स च कर्तेति निर्दोषः कर्तृवादो व्यवस्थितः॥ शास्त्रवार्ता समुच्चय, श्लोक २०३-७

२. प्रकृतिश्चापि सन्न्यायात् कर्मप्रकृतिमेव हि। वही, श्लोक २३२

आचार्य हरिभद्रसूरि ने जिस सांख्यदर्शन का युक्तियुक्त खण्डन किया है, उसी सांख्यमत के आद्य द्रष्टा के रूप में सर्वत्र विश्रुत और बहुमान्य महर्षि कपिल को उद्दिष्ट करके उन्होंने जो कुछ कहा है जैसे कि--मेरी दृष्टि से प्रकृतिवाद भी सत्य है क्योंकि उसके प्रणेता 'कपिल' दिव्य लोकोत्तर महामुनि है।[1] इस तरह साम्प्रदायिक खण्डन-के क्षेत्र में किसी विद्वान् ने अपने प्रतिवादी का इतने आदर के साथ निर्देश किया है तो वह हैं एकमात्र हरिभद्रसूरि ही।

ऐसे ही क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद इन तीन बौद्धवादों की समीक्षा करने पर भी हरिभद्रसूरि इन वादों के प्रेरक दृष्टि बिन्दुओं का अपेक्षा विशेष मे न्यायोचित स्थान देते हैं और महात्मा बुद्ध के प्रति आदरभाव व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि 'बुद्ध जैसे महामुनि एवं अर्हत का देशना अर्थहीन नहीं हो सकता।'।[2]

स्वपरम्परा को नवीन दृष्टिदाता

सामान्य दार्शनिक विद्वान् अपनी समग्र विचार शक्ति एवं पाण्डित्यबल पर परम्परा की समालोचना में लगा देते हैं और अपनी परम्परा को कहने जैसा सत्य स्फुरित होता हो, तब भो वे परम्परा के रोष का भाजन बनने का साहस नहीं दिखलाते और उस विषय में जैसा चलता है वैसा ही चलते रहने देने की वृत्ति रखकर अपनी परम्परा को ऊपर उठाने का अथवा उसकी दुर्बलता को दिखलाने का शायद ही प्रत्यन करते हैं किन्तु हरिभद्रसूरि इस विषय में सर्वथा निराले हैं। उन्होंने परवादियों के अथवा पर-परम्पराओं के साथ के व्यवहार में जैसी तटस्थ वृत्ति और निर्भयता दिखलाई है, वैसी ही तटस्थवृत्ति और निर्भयता स्वपरम्परा के प्रति भी कई मुद्दों को उपस्थित करने में दिखलाई है।

प्राकृत भाषा में लिखित योगविंशिका और योगशतक मुख्य रूप से जैन परम्परा की आचार-विचार प्रणालिका का अवलम्बन लेकर लिखे

---

१. एवं प्रकृतिवादोऽपि विज्ञेयः सत्य एव हि।
कपिलोक्त तत्त्वश्चैव दिव्यो हि स महामुनिः॥ शास्त्रावार्ता समु० श्लोक २३७

२. न चैतदपि न न्यायं यतो बुद्धो महामुनेः।
सुवैद्यवद्विनाकार्यं द्रव्यासत्यं न भाषते॥ वही, श्लोक ४६६

गए हैं, परन्तु ऐसा लगता है कि इन कृतियों के द्वारा जैन परम्परा के रूढ़ मानस को विशेष उदार बनाने का उनका आशय रहा होगा। इसी से उन्होंने जैन परम्परा में प्रचलित रूढ़ियों को यह भी सुना दिया है कि बहुजन सम्मत होना सच्चे धर्म का लक्षण नहीं है बल्कि सच्चा धर्म तो किसी एक मनुष्य की विवेकदृष्टि में होता है। ऐसा कहकर उन्होंने लोक संज्ञा अथवा **महाजनो येन गतः स पन्थः** का प्रतिवाद किया है।[1] उनकी यह आध्यात्मिक निर्भयता स्वपरम्परा को नई देन है।

निवृत्ति की दिशा में विशेष रूप से उन्मुख समाज में बहुत बार ऐसे आवश्यक धर्म की उपेक्षा होने लगती है। हरिभद्रसूरि ने शायद यह बात तत्कालीन समाज में देखी और उन्हें लगा कि आध्यात्मिक माने जाने वाले निवृत्तिपरक लोकोत्तर धर्म के नाम पर लौकिक धर्मों का उच्छेद कभी वाञ्छनीय नहीं है। इसी कारण उन्होंने देव, गुरु व अतिथि आदि की पूजा सत्कार के साथ दीन जनों को दान देने का भी विधान किया है।[2]

जैन परम्परा का धार्मिक आचार अहिंसा की नींव पर आधारित है परन्तु हिंसा-विरमण आदि पद अधिकांशतः निवृत्ति के सूचक होने से उनका भावात्मक पहलु उपेक्षित रहा है। हरिभद्रसूरि ने देखा कि हिंसा, असत्य निवृत्ति आदि अणुव्रत केवल निवृत्ति से ही पूर्ण नहीं होते किन्तु उनका एक प्रवर्तक पक्ष भी है। इससे उन्होंने जैन परम्परा में प्रचलित अहिंसा, अपरिग्रह जैसे व्रतों की भावना को पूर्ण रूप से व्यक्त करने के लिए मैत्री, करुणा, माध्यस्थ और उपेक्षा इन चार भावनाओं को **योगशतक** में गूंथकर[3] निवृत्ति धर्म का परस्पर उपकार करने वाला आध्यात्मिक रसायन तो तैयार किया ही साथ में जैनधर्म में नवीनता

---

१. मूत्तूण लोगसन्नं उडढूण य साहूसमयसब्भावं।
सम्मं पयट्टियव्वं बुहेण मइनिउणबुद्धीए॥ योगविंशि० गा० १६

२. पढमस्स लोगधम्मे परपीडा वज्जणाइ ओहेणं।
गुरुदेवातिथिपूयाई दीणदाणाइ अहिगिच्च॥ योगशतक, गा० २५

३. दे० वही, गाथा ७८-७९
बौद्ध दर्शन में इन्हीं चार को ब्रह्म विहार अथवा अप्रामाण्य कहा है। जो एक योग्य साधक को परमावश्यक हैं। दे० अप्रमाणानि चत्वारि, मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षा च। अभि० को० भा०, ८, २९, पृ० ४५२

का भी पोषण किया है।

भेदभाव मिटाने में कुशल एवं समन्वयकार हरिभद्र

सामान्यतः बड़े-बड़े और असाधारण विद्वान् भी जब चर्चा में उतरते हैं तब उनमें विजिगीषा तथा स्वपरम्परा को श्रेष्ठ रूप में स्थापित करने की भावना ही मुख्य रहती है, जिससे सम्प्रदाय-सम्प्रदाय के बीच तथा एक ही सम्प्रदाय का विविध शाखाओं में बहुत बड़ा मानसिक अन्तर पड़ जाता है। वैसे अन्तर के कारण विरोधी पक्ष में ग्रहण करने योग्य उदात्त बातों को भी शायद ही कोई ग्रहण कर सकता हो किन्तु इसके फलस्वरूप परिभाषाओं की शुष्क व्याख्या और शाब्दिक धोखा-धड़ी एवं विकल्प जाल के आवरण में सत्य की सांस घुट जाती है।

विरोधी समझे जाने वाले भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के बीच अन्तर को कम करने का योगीगम्य मार्ग हरिभद्रसूरि ने विकसित किया है। सब कोई एक दूसरे से विचार एवं आचार उन्मुक्त मन से ग्रहण कर सकें, ऐसा द्वार खोल दिया है जो सचमुच ही निराला है। हरिभद्रसूरि ने अपने **योगबिन्दु** ग्रंथ में मध्यस्थ योगज्ञ को लक्ष्य करके कहा कि **योगबिन्दु** सभी योग शास्त्रों का अविरोधी अथवा विसंवाद रहित स्थापन करने वाला एक प्रकरण ग्रंथ है।[1]

श्री अरविन्द ने 'शब्दब्रह्माऽतिवर्तते' की जो बात कही है[2] उसी को बहुत पहले ही हरिभद्रसूरि ने 'सामर्थ्य योग' शब्द से सूचित किया है।[3]

हरिभद्रसूरि स्वभाव से ही समन्वयवादी थे। इसी से वे मिथ्याभिनिवेश या कुतर्कवाद का भी पुरस्कार नहीं करते और **योगदृष्टिसमुच्चय** में कुतर्क, विवाद और मिथ्याभिनिवेश के ऊपर जो मार्मिक चर्चा की

---

१. सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन तत्त्वतः।
सन्नीत्या स्थापकं चैव मध्यस्थांस्तद्विदः प्रति ॥ योगबिन्दु, श्लोक २

२. (अरविन्द) सिंथेसिस आफ योग, अ० ४

३. शास्त्रसन्दर्शितोपायस्तदतिक्रान्तगोचरः।
शक्त्युद्रेकाद्विशेषेण सामर्थ्याख्योऽयमुत्तमः ॥ योगदृष्टिसमु०, श्लोक ५

है[1] वह भारतीय योगपरक ग्रंथों में शायद ही उपलब्ध हो।

हरिभद्रसूरि ने पंथ-पंथ और परम्परा-परम्परा के बीच होने वाले सर्वज्ञ विषयक विवाद को दूर करने का सरल और बुद्धिगम्य मार्ग बतलाया है। हरिभद्रसूरि कहते हैं कि सर्वज्ञत्व के विषय में चर्चा करने वाले हम तो हैं—अवाग्दर्शी या चर्मचक्षु, तब फिर अतीन्द्रिय सर्वज्ञत्व का विशेष स्वरूप हम कैसे जान सकते हैं।[2] अतः उसका सामान्य स्वरूप ही जानकर हम योगमार्ग में आगे बढ़ सकते हैं।

यहां यह प्रश्न उठता है कि ऐसा मान लेने पर तो सुगत, कपिल अर्हत् आदि सभी सर्वज्ञ हैं फिर उनमें यह पन्थ और उपदेश भेद क्यों हैं। इसका हरिभद्रसूरि ने तीन प्रकार से समाधान किया है—

(क) उनके मतानुसार भिन्न-भिन्न सर्वज्ञ के रूप में माने जाने वाले महान् पुरुषों का जो भिन्न-भिन्न उपदेश हैं, वह शिष्य अथवा अधिकारी भेद के कारण है[3]।

(ख) दूसरा यह कि वैसे तो महापुरुषों के उपदेशों का तात्त्विक दृष्टि से एक ही तात्पर्य होता है, परन्तु श्रोताजन अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उसे भिन्न-भिन्न रूप में ग्रहण करते हैं। फलतः देशना एक होने पर भी ग्रहण कर्त्ता की अपेक्षा से वह अनेक जैसी लगती है।[4]

---

१. न तत्त्वतो भिन्नमताः सर्वज्ञा बहवो यतः।
मोहस्तदधिमुक्तीनां तद्भेदाश्रयणं ततः। योगदृष्टिसमु०, श्लोक १०२

२. तदभिप्रायमज्ञात्वा न ततोऽर्वाग्दृशां सताम्।
युज्यते तत्प्रतिक्षेपो महानर्थकरः परः॥
निशानाथप्रतिक्षेपो तथाऽन्धानामसंगतः।
तद्भेदपरिकल्पश्च तथैवावग्दृशामयम्॥ योगदृष्टिसमु०, श्लोक १३९-१४०

३. इष्टपूर्तानि कर्माणि लोके चित्राभिसन्धितः।
नानाफलानि सर्वाणि द्रष्टव्यानि विचक्षणैः॥
चित्रा तु देशनैतेषां स्याद्विनेयानुगुण्यतः।
यस्मादेते महात्मानो भवव्याधिभिषग्वराः॥ वही, ११५ और १३४

४. दे० योगदृष्टि समु०, श्लोक १३६

(ग) तीसरा यह कि देश-काल अवस्था आदि परिस्थिति भेद को लेकर महापुरुष भिन्न-भिन्न दृष्टियों से अथवा अपेक्षा विशेष से भिन्न-भिन्न उपदेश देते हैं किन्तु मूल में वह एक ही होता है।[1] यही हरिभद्रसूरि की समन्वयवृत्ति है।

विश्वसर्जन के कारण के रूप में 'क्या मानना' इस विषय में अनेक प्रवाद पुरातन काल से प्रचलित हैं। काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत-चैतन्य और पुरुष (ब्रह्म) आदि तत्त्वों में से कोई एक को, तो कोई दूसरे को कारण मानता है। ये प्रवाद **श्वेताश्वतर उपनिषद** में तो निर्दिष्ट हैं ही[2] किन्तु साथ ही **महाभारत**[3] आदि में भी इनका निर्देश है। सिद्धसेन दिवाकर ने इन प्रवादों का समन्वय करके सबकी गणना सामग्री के रूप में कारण कोटि में की है[4] परन्तु ये सभी चर्चाएं सृष्टि के कार्य को लक्ष्य में रखकर हुई हैं जिन्हें हरिभद्रसूरि ने **योगबिन्दु** में स्थान तो दिया है और वह भी साधना की दृष्टि से ही। उन्होंने अन्त में सामग्री कारणवाद को स्वीकार करके कहा है कि ये सभी वाद एकान्तिक हैं, परन्तु साधना की फल सिद्धि में काल, स्वभाव, नियति, दैव, पुरुषार्थ आदि सभी तत्त्वों की अपेक्षा विशेष से अपना स्थान है।[5] इस तरह उन्होंने इन सभी आपेक्षिक दृष्टियों का विस्तार से स्पष्टीकरण किया है।

दार्शनिक परम्परा में विश्व के स्रष्टा, संहर्ता के रूप में ईश्वर की चर्चा आती है, कोई वैसे ईश्वर को कर्म निरपेक्ष कर्त्ता मानता है, तो कोई दूसरा कर्मसापेक्ष कर्त्ता मानता है।[6] कोई ऐसा भी दर्शन है जो

---

१. वही, श्लोक १३८

२. श्वेताश्वतर उपनिषद् , १.२

३. दे० महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २५, २८, ३२, ३३ एवं ३५ तथा मिला०-गणधरवाद, प्रस्तावना, पृ० ११३-११७

४. दे० सन्मतितर्क-काण्ड ३, गा० ५३ और टीका के टिप्पण आदि

५. दे० शास्त्रवा० समु०, श्लोक १६४-९२, तथा योगबिन्दु, श्लोक १९७-२७५

६. ननुमहदेतदिन्द्रजालं यन्निरपेक्षः कारणमिति तथात्वेकर्मवैफल्यं सर्वकार्याणां समसमयसमुत्पादश्चेति दोषद्वयं प्रादुष्यात्। मैवमन्येथाः। सर्वदर्शनसंग्रह (नकुलीशपाशुपतदर्शन) पृ० ६५

तमिमं परमेश्वरः कर्मादिनिरपेक्षः. कारणमिति पक्षं वैषम्यनैघृण्यदोषदूषितत्वात् प्रतिक्षिपन्तः केचन् माहेश्वराः शैवागमसिद्धान्ततत्वं यथावदीक्षमाणाः कर्मादिसापेक्षः परमेश्वरः कारणमिति पक्षं कक्षीकुर्वाणः पक्षान्तरमुपक्षिपन्ति। वही, (शैवदर्शन), पृ० ६६

स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में ईश्वर को मानता ही नहीं।[1]

योग परम्परा में जब ईश्वर का विचार उपस्थित होता है तो वह सृष्टि के कर्त्ता-धर्त्ता के रूप में नहीं, बल्कि साधना में अनुग्राहक के रूप में आता है। कई साधक ऐसी अनन्यभक्ति से साधना करने के लिए प्रेरित होते हैं जिससे स्वतन्त्र ईश्वर का अनुग्रह ही उनकी भक्ति में कारण दृष्टिगोचर है। इस बात को लेकर हरिभद्रसूरि ने अपना दृष्टिकोण उपस्थित करते हुए कहा है कि महेश का अनुग्रह मानें तो भी साधक पात्र में अनुग्रह प्राप्त करने की योग्यता माननी ही पड़ेगी। वैसी योग्यता के बिना महेश का अनुग्रह भी फलप्रद नहीं हो सकता।[2] इससे सिद्ध होता है कि पात्र योग्यता मुख्य है। जब साधक में योग्यता आती है तभी वह अनुग्रह का अधिकारी भी बनता है।

इसके अभाव में ईश्वर के अनुग्रह को मानने पर या तो सभी को अनुग्रह का पात्र मानना पड़ेगा, या फिर किसी को भी नहीं। अब योग्यता को आधार मानने पर प्रश्न होता है कि ईश्वर कोई अनादि मुक्त, स्वतन्त्र व्यक्ति है या स्वप्रयत्न बल से परिपूर्ण हुआ कोई अनादि व्यक्ति विशेष ? हरिभद्रसूरि कहते हैं कि अनादि मुक्त ऐसे कर्त्ता ईश्वर की सिद्धि तर्क से होना सम्भव नहीं है[3] फिर भी प्रयत्न सिद्ध आत्मा को परमात्मा मानने में किसी आध्यात्मिक को आपत्ति नहीं हो सकती। अतः प्रयत्न सिद्ध वीतराग की अनन्यभक्ति द्वारा जो गुणविकास किया जाता है, उसे कोई ईश्वर का अनुग्रह माने तो इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं है।[4]

आचार्य हरिभद्रसूरि ने गुरुओं एवं देवों के प्रति भक्तिभावना के अतिरिक्त दूसरे एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक कर्त्तव्य के प्रति भी उद्बोधन

---

१. दे० भारतीय तत्त्वविद्या, पृ० १०९-१११

२. विशेषं चास्य मन्यन्ते ईश्वरानुग्रहादिति।
प्रधानपरिणामात् तु तथाऽन्ये तत्त्ववादिनः ॥ योगबिन्दु, श्लोक २९५

३. अनादिशुद्ध इत्यादिर्यश्च भेदोऽस्य कल्प्यते ।
तत्तत्तन्त्रानुसारेण मन्ये सोऽपि निरर्थकः ॥ योगबिन्दु, श्लोक ३०३

४. गुणप्रकर्षरूपो यत् सर्वैर्वन्द्यस्तथेष्यते ।
देवतातिशयः कश्चित्स्तवादेः फलदस्तथा ॥ वही, श्लोक २९८

किया है। वह है रोगी, अनाथ अथवा निर्धन आदि निस्सहाय वर्ग की सहायता करना, परन्तु वह सहायता ऐसी नहीं होनी चाहिए कि जिससे अपने आश्रित जनों की उपेक्षा होने लगे।[1]

आध्यात्मिक अथवा लोकोत्तर धर्म के साथ ऐसे अनेकविध लौकिक कर्त्तव्यों को संकलित करके हरिभद्रसूरि ने जैन परम्परानुसार वर्णित प्रवर्त्तक धर्म का महत्त्व जिस विशुद्धता और युक्ति युक्त ढंग से प्रस्तुत किया है वह निवृत्ति प्रधान जैन परम्परा में टूटती कड़ी का सन्धान करती है।

इसके अतिरिक्त हरिभद्रसूरि के ग्रंथों में वर्णित अध्यात्म प्रवाह, लोकमंगल की सतत कामना, धर्म श्रद्धा का परिवर्धन, कुशल उपदेशात्मकता आदि अनेक विशेषताएं उनके व्यक्तित्व की परिचायक हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि के व्यक्तित्व में जहां अनेक विशेषताएं हैं, वहां मानव सुलभ कुछ दुर्बलताएं भी हैं जो उनके ग्रंथों में देखी जा सकती हैं जैसे धूर्ताख्यान में व्यंग्य प्रक्रिया।

यह सत्य है कि सभी सम्प्रदाय के पुराणों में कुछ-कुछ अद्भुत और आश्चर्य जनक बातें पायी जाती हैं। मनुष्य का यह स्वभाव है कि उसे अपने सम्प्रदाय की बातें तो अच्छी लगती हैं और दूसरे सम्प्रदाय की बाते खटकती हैं। हरिभद्रसूरि इस दुर्बलता से कहां तक बच सके हैं यह तो विद्वान् ही समझ सकते हैं।

उन्होंने इन्हीं मानवीय प्रवृत्ति के कारण वैदिक पुराणों की असंगत अस्वाभाविक मान्यताओं पर बड़ा ही तीक्ष्ण प्रहार कर उनके निराकरण करने का प्रयास किया है जो कहां तक औचित्य रखता है। इसका निर्णय विद्वान् पाठक स्वयं करेंगे।

(घ) हरिभद्रसूरि का कृतित्व

जैन योगी, प्रख्यात तार्किक, विचक्षण प्रतिभा के जाने-माने विद्वान् आचार्य हरिभद्रसूरि एक ऐसे सांध्यकाल में आविर्भूत हुए थे जबकि

---

१. चारिसंजीवनीचारन्याय एष सतां मतः।
नान्यथाऽत्रेष्टसिद्धिः स्याद् विशेषणादिकर्मणाम् ॥ वही; श्लोक ११९

मध्यममार्गी बौद्धों का प्रभाव दिनों-दिन बढ़ता ही जा रहा था। मात्र जैनदर्शन की ही नहीं बल्कि अन्य बौद्धेतर भारतीय सभी दर्शनों के अस्तित्व को भी भय उत्पन्न हो गया था। भारत में चारों ओर भारतीय वाङ्मय के एक से एक मर्मज्ञ विद्वानों का जन्म इसी युग में ही हुआ, फिर भी इस शास्त्रार्थ प्रधान युग में वही टिक पाता था, राजदरबार में उसी का बोल-बाला होता था, जो अपने अकाट्य तर्कों एवं प्रबल प्रमाणों से एक दूसरे के मतों एवं सिद्धान्तों का खण्डन कर देता था।

विद्वानों को राजप्रश्रय भी दिया जाता था किन्तु कुछ ऐसे स्वाभिमानी विद्वान् भी थे, जो राजप्रश्रय से परे होते हुए भी राजगुरु पद से विभूषित थे। आचार्य हरिभद्रसूरि अपने कार्य में ही मस्त रहने वाले आचार्य थे। उनका एक मात्र लक्ष्य जैन धर्म-दर्शन की प्रभावना करना था। वे कभी भी इससे पीछे नहीं हटे। जब भी आगे बढ़े तो झंझावात की तरह और जब भी कहीं रुके तो वहीं चट्टान की तरह निर्भय अडिग खडे रहे। आप जैसे आचार्यों के आविर्भाव के कारण ही आदिकाल से आज तक जैन धर्म-दर्शन जीवन्त बना हुआ है।

सूरि ने अपने गौरवशाली एवं सीमित जीवनकाल में जैन धर्म की ध्वजा फहराते हुए अनेक महनीय कार्य किए, विशेष कर उन्होंने भारतीय वाङ्मय को जो कुछ भी दिया है, वह हैं उनकी अमर रचनाएं। यहां हम उक्त कृतियों का वर्गीकरण करते हुए संक्षिप्त अध्ययन करेंगे।

वाङ्मय को चाहे वह न्याय दर्शन की विधा ही क्यों न हो अथवा साहित्य यानि काव्य-शास्त्र अथवा ज्योतिष-शास्त्र उनकी निर्द्वन्द्व लेखनी बेधड़क योग, स्तुति, कथा आदि उस समय में प्रचलित समस्त साहित्यिक विधाओं पर चलती गयी। यहां तक कि जैन आचार-दर्शन प्रधान आगम ग्रंथों पर कहीं टीकाएं, तो कहीं भाष्य लिखने से भी वे नहीं चूकें। पण्डित प्रवर सुखलाल संघवी के मतानुसार उनके द्वारा कृत वर्गीकरण को किञ्चित् परिवर्तन के साथ यहां ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर रहा हूं—

(क) दार्शनिक ग्रन्थ

(१) अनेकान्त जयपताका (स्वोपज्ञ टीका सहित)

(२) अनेकान्तवाद प्रवेश
(३) द्विजवदनचपेटा
(४) धर्मसंग्रहणी (प्राकृत)
(५) लोकतत्त्वनिर्णय
(६) शास्त्रवार्तासमुच्चय (स्वोपज्ञ टीका सहित)
(७) षड्दर्शनसमुच्चय
(८) सर्वज्ञसिद्धि (स्वोपज्ञ टीका सहित)
(९) दरिसणसत्तरि (प्राकृत)
(१०) चैत्यवन्दनसूत्रवृत्ति

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी स्वतन्त्र रचनाएं आपने लिखी हैं जो आज अनुपलब्ध हैं किन्तु उनका सन्दर्भ मिलता है। वे हैं—

(१) अनेकान्तसिद्धि
(२) आत्मसिद्धि
(३) स्याद्वाद कुचोद्यपरिहार

आपने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों की दर्शन परक कृतियों पर वृत्ति अथवा टीकाएं भी लिखी हैं। इनमें दो ही ग्रंथ विशेष मिलते हैं। वे हैं—

(१) न्यायावतारवृत्ति
(२) न्यायप्रवेशटीका

(ख) **कथा साहित्य**

इसमें आचार्य द्वारा लिखी हुई दो ही रचनाएं मिलती हैं वे हैं—

(१) समराइच्चकहा और
(२) धूर्ताख्यान

ये दोनों ही रचनाएं प्राकृत भाषा में लिखीं गई हैं।

(ग) **योग साहित्य**

आचार्य ने योग परक विपुल साहित्य लिखा है। इनमें—

(१) योगबिन्दु

(२) योगदृष्टिसमुच्चय (स्वोपज्ञ टीका युक्त)
(३) योगशतक (प्राकृत)
(४) योगविंशिका (प्राकृत)
(५) षोडषप्रकरण (प्राकृत) आदि ग्रंथ विशेष हैं।

(घ) ज्योतिष परक रचनाएं

(१) लग्न शुद्धि
(२) लग्न कुण्डलिया (प्राकृत)

(ङ) स्तुति साहित्य

(१) वीरस्तव
(२) संसारदावानल स्तुति[1]

(च) आगमिक प्रकरण आचार एवं उपदेशात्मक रचनाएं[2]

(१) अष्टकप्रकरण
(२) उपदेशपद (प्राकृत)
(३) धर्मबिन्दु
(४) पंचवस्तु (स्वोपज्ञ संस्कृत टीका सहित) प्राकृत
(५) पंचाशक (प्राकृत)
(६) बीसविंशिकाएं (प्राकृत)
(७) श्रावकधर्मविधिप्रकरण (प्राकृत)
(८) सम्बोधप्रकरण (प्राकृत)
(९) हिंसाष्टक (स्वोपज्ञ अवचूरि सहित)

इसके अतिरिक्त आचार्यवर ने व्याख्या एवं वृत्ति ग्रंथ भी लिखे हैं, वे तीन हैं—

(१) पंचसुत्त व्याख्या
(२) लघुक्षेत्रसमास या जम्बूक्षेत्रसमासवृत्ति
(३) श्रावकप्रज्ञप्तिवृत्ति

---

१. दे० समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि, पृ० १०६
२. वही, पृ० १०८

कुछ ऐसी भी रचनाएं या वृत्तिग्रंथ हैं जो आज अप्राप्त हैं, इसमें हैं—

(१) भावनासिद्धि (स्वतन्त्र रचना)
(२) वर्गकेवलिसूत्रवृत्ति

आगम टीकाएं अथवा वृत्तियां

(१) टीका ग्रंथ—(क) दशवैकालिकटीका
(ख) नन्द्यध्ययनटीका

(२) वृत्ति-विवृत्ति ग्रंथ—(ग) अनुयोगद्वारविवृत्ति
(घ) आवश्यकसूत्रवृत्ति
(ङ) चैत्यवन्दनसूत्रवृत्ति अथवा ललित विस्तार
(च) जीवाभिगमसूत्रलघुवृत्ति

व्याख्या प्रधान ग्रन्थ

(१) प्रज्ञापनाप्रदेशव्याख्या

इसके साथ ही आचार्यश्री के कुछ टीका-वृत्ति ग्रंथ प्राप्त भी नहीं होते, इनमें हैं—

(१) आवश्यकसूत्रबृहट्टीका
(२) पिण्डनियुक्तिवृत्ति

आचार्य हरिभद्रसूरि के नाम से उपलब्ध कतिपय अन्य ग्रंथ भी हैं जिनकी संख्या २६ है—[1]

(१) अनेकान्तप्रघट्ट
(२) अर्हच्चूडामणि
(३) कथाकोश
(४) कर्मस्तववृत्ति
(५) चैत्यवन्दनभाष्य
(६) ज्ञानपंचक विवरण
(१४) पंच नियंठी
(१५) पंच लिंगी
(१६) बृहन्मिथ्यात्व मंथन
(१७) प्रतिष्ठाकल्प
(१८) वोटिकप्रतिबोध
(१९) यतिदिनकृत्य

१. परिशिष्ट, पृ० १०६

(७) दर्शसनप्तातिका
(८) धर्मलाभसिद्धि
(९) धर्मसार
(१०) नाणापंचगवक्खाण
(११) ज्ञानचित्तप्रकरण
(१२) न्यायविनिश्चय
(१३) परलोकसिद्धि
(२०) यशोधरचरित्र
(२१) वीरांगदकथा
(२२) संग्रहणीवृत्ति
(२३) सपचासत्तरि
(२४) संस्कृत आत्मानुशासन
(२५) व्यवहारकल्प
(२६) वेदबाह्यता निराकरण

इसके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे ग्रंथों एवं टीका ग्रंथों का उल्लेख डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने अपनी रचना **हरिभद्रसूरि के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन** में किया है जिनका रचना हरिभद्रसूरि द्वारा की गई है। इन ग्रंथों में निम्नलिखित विशेष हैं—

(१) तत्त्वार्थसूत्र लघुवृत्ति (अपूर्ण)
(२) ध्यानशतक (जिनभद्र गणि रचित टीका सहित)
(३) भावार्थमात्र वेदिनी
(४) श्रावकधर्मतन्त्र
(५) ओघनिर्युक्ति
(६) जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति
(७) जम्बुद्वीपसंग्गहणी
(८) उपएसपगरण
(९) देवेन्द्र नरेन्द्रप्रकरण
(१०) क्षेत्रसमासवृत्ति
(११) जम्बूद्वीपवृत्ति
(१२) श्रावकप्रज्ञप्तिसूत्रवृत्ति
(१३) तत्त्वतरंगिनी
(१४) दिनशुद्धि
(१५) मुनिपतिचरित्र
(१६) संकितपच्चीसी
(१७) संबोधसत्तरी
(१८) सासयजिनकित्तण
(१९) लोकबिन्दु
(२०) वार्टिकप्रतिषेध इत्यादि[1]

संघर्षशील आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा केवल उपर्युक्त ग्रंथ ही लिखे अथवा रचे गए हों, सो ऐसी भी बात नहीं है। इसके अतिरिक्त भी कुछ आचार्यों के मत में अपनी प्रतिज्ञा अनुसार हरिभद्रसूरि ने १४००, १४४० या १४४४ ग्रंथों की रचना की थी[2] जबकि कुछ आधुनिक विद्वान् आचार्यश्री द्वारा लिखित कृतियों की संख्या १८५ और ७५ तक

---

१. दे० हरिभद्रसूरि के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ५३

२. दे० वही, पृ० ५० तथा शास्त्रवार्ता समु०, भूमिका

मानते हैं।[1] जो कुछ भी हो निस्सन्देह अतिशयोक्ति को परे कर आचार्य हरिभद्र ने जैसे कि उपर्युक्त तालिका भी कहती है, ७५ग्रन्थरत्नों की तो अवश्य ही रचना की होगी। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री आचार्यश्री के ज्ञान पुञ्जतेज के फलस्वरूप उनके द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या कम से कम १०० मानते हैं।[2] जो यथोचित जान पड़ती है।

जैसे उषाकाल में उदित लालिमायुक्त सूर्य, दोपहर में अपने उत्तम प्रतापमयी यौवन से देदीप्यमान होता है और अन्त में ढलते हुए सांध्यकाल में पुनः वह प्रशान्त लालिमामय दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही ललित लालिमामयी बाल्यकाल से युक्त, यौवन में ज्ञान गरिमा से गौरवान्वित और अपने पश्चिम जीवन में शिष्यों के वियोग से हताश किन्तु अपने गुरुवर्य की आज्ञारूपी आशा को किरण से अध्यात्म प्रशान्त चित्तधारी आचार्य हरिभद्रसूरि की साधनामयी चारित्रिक झलक ही नहीं बल्कि आचार प्रधान जैनधर्म की प्रभावना का चरमोत्कर्ष क्या दर्शन, क्या योग, क्या काव्य अथवा कथा साहित्य उनकी समस्त रचानाओं में यत्र-तत्र देखने को मिलता है।

जहां एक ओर वे जैनदर्शन के कृष्ण पक्ष में कुछ देर से उदित चन्द्रवत उदीयमान नक्षत्र हैं तो दूसरी ओर वहीं उसी पक्ष की शरद-कालीन लम्बी रात्रि की समाप्ति के साथ ही अस्त होने वाले दिनकर के प्रकाश में भी चमचमाते हुए उसी चन्द्र की तरह अपने लम्बे आयुष्य के काल में अधिकतम साहित्य की अनोखी देनरूपी यशः-कीर्ति से आज भी देदीप्यमान हैं।

यहां अब हम उनकी तपःपूत चिन्तन एवं साधनामयी प्रमुख कृतियों का विवरण के साथ उनकी विषय वस्तु एवं लेखन शैली और उनका प्राप्ताप्राप्त भाष्य तथा टीका आदि का संक्षेप में अध्ययन करेंगे।

(क) आचार्य हरिभद्र की दार्शनिक स्वतन्त्र रचनाएं

(१) अनेकान्तजयपताका

यह हरिभद्रसूरि की प्रसिद्ध दार्शनिक कृति है जिसका सर्वप्रथम

१. (हीरालाल) हरिभद्रसूरि (विषय सूची), पृ० १६-२२
२. दे० हरि प्रा० कथा सा० आ० परि०, पृ० ५०

उल्लेख **गुर्वावली** में मिलता है।[1] इस ग्रन्थ का आधार सूरि ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की कृति **सन्मति तर्क** या **सन्मति प्रकरण** के तीसरे और छठे काण्ड को बनाया है।

जैसा कि ग्रंथ के शीर्षक से यह बिल्कुल ही स्पष्ट है कि आचार्य ने इस रचना में जैनदर्शन की आधारशिलाभूत सिद्धान्त 'अनेकान्तवाद' को विषय वस्तु के रूप में ग्रहण किया है। ग्रंथ के पारायण करने से यह भी ज्ञात होता है कि यह रचना विशेष आचार्य के जीवन की प्रौढावस्था में लिखी गयी थी।

ग्रंथ की शैली एवं भाषा तत्कालीन प्रचलित परिस्थितियों के अनुरूप सरस, सरल एवं सुबोध्य संस्कृत है। प्रस्तुत ग्रंथ में छः अधिकार हैं, जिनमें क्रमशः सदसदरूपवस्तु - नित्यानित्यवस्तु-सामान्य-विशेषवाद, अभिलाख्यानभिलाख्य, योगाचारमतवाद, एवं मुक्तिवाद आदि विषयों पर क्रमशः प्रकाश डाला गया है।

इन विषयों के आधार पर यह कहना गलत न होगा कि आचार्य हरिभद्रसूरि ने उक्त ग्रंथ में बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों को तर्क की कसौटी पर कसकर जैनदर्शन की दृष्टि से उनका सम्यक् खण्डन एवं प्रतिपादन के फलस्वरूप लिखा है। स्वयं आचार्य ने इस पर व्याख्या भी लिखी है। उदाहरणों का बहुल प्रयोग मिलता है। यह ८२५०२ श्लोक प्रमाण है।

आचार्यश्री ने बाद में इस पर **अनेकान्तजय पताकोद्योतदीपिका** नामक टीका भी लिखी है, जिस पर बाद के आचार्य मुनिचन्द्र सूरि ने 'वृत्ति टिप्पण' लिखा है। यह हरिभद्रसूरि की बहुत ही प्रसिद्ध कृति है।[2]

(२) **अनेकान्तवादप्रवेश**

यह कृति संस्कृत भाषा में निबद्ध गद्यात्मक शैली में लिखी गई है। इसमें ६२०२ गाथाएं हैं। इसकी रचना का एक मात्र उद्देश्य जैनधर्म के

---

१. हरिभद्रसूरि रचिता श्रीमदनेकान्तजयपताकाख्याः।
ग्रन्थनगाविबुधानामप्यधुना दुर्गमा येऽत्र ॥ गुर्विली, ६८

२. यह कृति टीका साहित्य वृत्ति टिप्पण के साथ सन् १९५० और १९५७ में दो खण्डों में गायकवाड पौर्वात्य ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुई है।

आधारभूत सिद्धान्त अनेकान्तवाद को और अधिक सरल तथा स्पष्ट करना है। इसे अनेकान्त जयपताका की 'स्वोपज्ञवृत्ति भी कहा जा सकता है'[1] फिर भी यह अपने में परिपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ में जिन विषयों पर चर्चा की गई है—वे हैं—(१) सदसदवाद, (२) नित्यानित्यवाद, (३) सामान्यविशेषवाद, (४) अभिलाप्यानभिलाप्यवाद और (५) मोक्षवाद।

(३) अनेकान्तसिद्धि

संस्कृत भाषा में निबद्ध यह अनेकान्तसिद्धि नामक कृति अनुपलब्ध है। इसका उल्लेख मात्र **अनेकान्तजयपताका** की व्याख्या में उपलब्ध होता है। इसकी विषय वस्तु इसके शीर्षक से ही स्पष्ट है।

(४) द्विजवदनचपेटा[2]

विवादास्पद इस कृति का शीर्षक ही बड़ा रोचक है। इसका अर्थ है—'ब्राह्मण के मुख पर तमाचा'। अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत ग्रंथ में वैदिक ब्राह्मणीय कर्मकाण्ड में आगत बाह्याडम्बर पर तेज प्रहार किया गया है। इसी कारण इसका अपरनाम 'वेदांकुश' भी मिलता है।[3]

कतिपय विद्वानों का मत है कि इस ग्रंथ की रचना हेमचन्द्रसूरि ने की थी जबकि कुछ विद्वान् इसे धर्मकीर्ति द्वारा लिखी हुई बतलाते हैं।[4] परन्तु डा० नेमिचन्द्र शास्त्री के मत में इसके रचयिता हरिभद्रसूरि ही हैं।[5]

(५) धर्मसंग्रहणी[6]

प्रस्तुत कृति प्राकृत भाषा में बनाये गए १६३६ श्लोकों का संग्रह है। द्रव्यानुयोग से सम्बन्धित है। शैली तर्क प्रधान है। प्रारम्भिक

---

१. दे० हरिभद्रसूरि, पृ० ६६
२. दे० हरि० प्रा० क० सा० आ परि०, पृ० ५३
३. दे० हरिभद्रसूरि, पृ० ६६
४. दे० वही
५. दे० हरि० प्रा० क० सा० आ० परि०, पृ० ५३
६. दे० हरिप्रा० क० सा०, आ० परि०, पृ० ५३

२० गाथाओं में धर्म का स्वरूप है। जीव विषय चार्वाक दर्शन का खण्डन कर इसमें जैन दृष्टि से जीव के स्वरूप का सम्यक् विवेचन किया गया है। छः निक्षेपों का वर्णन, ज्ञान के भेद, सम्यक्त्व के अष्ट-अंग विवेचन, पंच महाव्रत, सर्वज्ञोपलब्धि और मुक्ति में सुख इत्यादि इसके प्रतिपाद्य विषय हैं। इसके अतिरिक्त इस विशिष्ट ग्रंथ में प्रसंगवश अनेकान्तदृष्टि से, कर्तृत्ववाद, नित्यानित्यवाद, क्षणिकवाद, अज्ञानवाद, सामान्य एवं समवाय तथा बाह्यार्थवाद का खण्डन भी किया गया है।

इसकी एक विशेषता यह भी है कि इसमें अनेक लेखकों के नाम दिए गए हैं। इसी कारण यह कृति महत्वपूर्ण होते हुए भी इसका लेखक अन्य कोई अज्ञात कवि ही माना जाता है[1] जबकि डा० शास्त्री जी इसे हरिभद्रसूरि की ही रचना मानते हैं।[2]

(७) लोकतत्वनिर्णय

प्रस्तुत कृति पद्यात्मक है। इसकी भाषा संस्कृत है। इसमें कुल १४४ श्लोक हैं। इसका अपर नाम **नृतत्वनिर्णय** भी मिलता है। सन् १९०५ में इसका सर्वप्रथम सम्पादन एवं प्रकाशन किया गया था। इस पर गुजराती एवं इटालियन अनुवाद भी मिलता है।[3] **षड्दर्शन समुच्चय** की टीका 'तर्क रहस्य' में इसके दो श्लोक उद्धृत मिलते हैं।[4] इसमें यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि उपर्युक्त कृति १५वीं शदी में विद्वानों में प्रचुर प्रशंसा की पात्र बन चुकी थी।

१९२१ में प्रकाशित 'लोकतत्व निर्णय' के संस्करण को तीन भागों में बांटा गया है। इसके प्रारम्भ में जैनेतर देवों के नामों के साथ सृष्टि के स्वरूप एवं उसकी उत्पत्ति पर प्राप्त विविध मतमतान्तर पर चर्चा की गई है। अन्य भागों में आत्मा एवं कर्म, नियतिवाद एवं स्वभाववाद पर भी क्रमशः जैन एवं वैदिक धर्मानुसार खण्डन मण्डन के साथ विस्तार से वर्णन किया गया है।

---

१. दे० हरिभद्रसूरि, पृ० ९९
२. दे० हरि० प्रा० क० सा० आ० परि०, पृ० ५३
३. दे० हरिभद्रसूरि, पृ० ११३ एवं हरि० प्रा० का० सा० आ० आ० परि०, पृ० ५६
४. दे० षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० ११ पर उद्धृत श्लोक १-३२, ३८

(७) **षड्दर्शनसमुच्चय**

हरिभद्रसूरि की इस दार्शनिक कृति में क्रमशः बौद्ध, नैयायिक, सांख्य वैशेषिक एवं जैमिनीय (मीमांसा दर्शन) तथा जैन एवं चार्वाक दर्शन का प्रारम्भ में विशिष्ट परिचय के साथ उनके मुख्य-मुख्य तत्वों को लेकर जैन दृष्टि से खण्डन-मण्डन किया गया है।

इस पर सुयोग्य विद्वान् आचार्य गुणरत्न ने 'तर्क रहस्य टीका' लिखी है जिसमें गृहीत समस्त दर्शन के तत्वों को और अधिक स्पष्ट रूप से समझाया गया है। इसी कारण आज भी **षड्दर्शन समुच्चय** दर्शन के छात्रों में अधिक लोकप्रिय है और बड़ी रुचि के साथ अध्ययन की जाती है।

इस पर दूसरी टीका सोमतिलकसूरि की तथा एक अवचूरि भी प्राप्त होती है किन्तु अवचूरि के लेखक का नाम अज्ञात है। वर्तमान में षड्दर्शन समुच्चय पर गुजराती अनुवाद तो मिलता ही है, साथ ही भारतीय ज्ञान पीठ वाराणसी से इसका सटीक हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन भी किया जा चुका है, जिससे इसकी उपयोगिता का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है।

(८) **शास्त्रवार्तासमुच्चय**

हरिभद्रसूरि की दार्शनिक जगत् में यशः ध्वज का दूसरा मेरुदण्ड शास्त्रवार्तासमुच्चय रहा है। संस्कृत भाषा में निबद्ध इस कृति में ७०० श्लोक हैं जिन पर स्वयं आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'दिक्प्रदा' नाम की विस्तृत टीका भी लिखी है। इससे यह ग्रंथ और अधिक सुगम एवं सुवाच्य बन गया है, फिर भी आज के जिज्ञासुओं को यह अगम्य ही प्रतीत होता है। इसी कारण आधुनिक विद्वान् यशोविजय उपाध्याय ने इस पर सरल संस्कृत में ही **स्याद्वाद कल्पलता** नामक एक और अन्य टीका लिखी है। पाठक को 'शास्त्रवार्ता समुच्चय' समझाने के लिए यह टीका वास्तव में 'कल्पलता' ही है।

शास्त्रवार्तासमुच्चय का विषय भूतचतुष्टयवाद, काल, स्वभाव, नियति एवं कर्मवाद का अन्यान्य दर्शनों के पक्षों का मण्डन और जैन सिद्धान्तानुसार उनकी समीक्षा करना है। न्याय-वैशेषिक सम्मत ईश्वर-

कर्तृत्व, सांख्य सम्मत प्रकृति-पुरुषवाद, बौद्धों के क्षणिकवाद में बाधक स्मरण आदि की अनुपपत्ति दिखाकर बाह्यार्थवाद का निराकरण भी किया गया है और अन्त में स्याद्वाद का स्वरूप मण्डन करते हुए वेदान्तदर्शन के अद्वैतसिद्धान्त का विस्तार से खण्डन किया गया है। इसके साथ ही मोक्ष मार्ग की भी मामांसा दृष्टव्य है। सर्वज्ञत्व, स्त्रीमुक्ति तथा शब्द एवं अर्थ का परस्पर सम्बन्ध आदि पर चर्चा भी प्रस्तुत ग्रंथ का विषय है। वर्तमान में इसका सटीक हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध होता है।

(६) सर्वज्ञसिद्धि

इस रचना में आचार्यश्री ने सर्वज्ञ को अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने इसके निरुक्ति परक अर्थ पर प्रकाश डालते हुए सर्वज्ञवादी दर्शनों की मान्यता को पूर्व पक्ष में प्रस्तुत किया है और फिर जैन मतानुसार उनका खण्डन भी किया है। इसमें नामकरण का आधार कुछ विद्वान् बौद्धाचार्यशान्तिरक्षित अथवा रत्नकीर्ति द्वारा रचित 'सर्वज्ञसिद्धि कारिका' और 'सर्वज्ञसिद्धि संक्षेप' को बतलाते हैं[1] जबकि प्रकृत में ऐसा है नहीं, क्योंकि जैनों का समस्त आचार-विचार आगम ग्रंथों में उपलब्ध है जो सर्वज्ञप्रणीत है। इसी कारण जैनदर्शन में सर्वज्ञत्व पर खुलकर विस्तार से चिन्तन एवं मनन किया गया है।

सर्वज्ञसिद्धि गद्य-पद्यात्मक रचना है। इसके अन्त में 'विरह' पद का उल्लेख है। अनेकान्तजयपताका नामक ग्रंथ में इसका दो बार उल्लेख मिलने से विद्वानों का मत है कि यह कृति अनेकान्तजयपताका से पहले ही लिखी जा चुकी थी। जो भी हो किन्तु निस्सन्देह संस्कृत में रचित प्रस्तुत ग्रंथ बड़ा ही उपादेय एवं मननीय है।

(१०) अष्टक प्रकरण

इस ग्रंथ में ऋग्वेद एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण को आधार बनाकर लिखे हुए बत्तीस अष्टक मिलते हैं। यह आचार्यश्री की प्रसिद्ध रचना संस्कृत में निबद्ध है। छठे अष्टक को छोड़कर बाकी प्रत्येक अष्टक में आठ-आठ पद्य हैं। पद्यों की कुल संख्या २५५ है। इस पर जिनेश्वरसूरि की टीका भी मिलती है। जिसका सारांश गुजराती में १६वीं शदी में बम्बई से

१. दे० हरिभद्रसूरि, पृ० १७७

छपा है। इसके अतिरिक्त यह रचना १६१८ ई० में यशोविजयगणि कृत टीका 'ज्ञानसार' के साथ भी प्रकाशित हुई है।[1]

विषय वस्तु की दृष्टि से इसमें महादेव, स्नान, पूजा, अग्निकारिका भिक्षा, प्रत्याख्यान, ज्ञान, वैराग्य, तपवाद, धर्मवाद, एकान्त, नित्यानित्य, एकान्त पक्ष का खण्डन-मण्डन, मांस भक्षण, मद्यपान, मैथुन आदि के दूषणों पर प्रकाश डाला गया है। पाप-पुण्य, भावशुद्धि एवं दान उनका फल, तीर्थकृत देशना, केवलज्ञान और मोक्ष के स्वरूप पर निष्पक्ष प्रकाश डाला गया है। इसमें महाभारत, मनुस्मृति, न्यायावतार आदि से श्लोक भी उद्धृत किए गए हैं। परवर्ती आचार्यों ने अष्टक के श्लोकों का प्रचुर प्रयोग किया है।

(११) उपदेशपद

'उपदेशपद' नामक सूरि की रचना आर्या छन्द में निबद्ध प्राकृत भाषामय है। इसमें १०३६ पद्य हैं। इस पर दो टीकाएं भी मिलती हैं उनके नाम हैं—

१. वर्धमानसूरि की वि० सं० १०५३ में लिखित संस्कृतटीका और
२. मुनिचन्द्रसूरि कृत 'सुखसम्बोध' संस्कृतटीका

इसके कुछ भाग का गुजराती अनुवाद भी उपलब्ध होता है। इस पर पार्श्विलगणि की प्रशस्ति और इसके प्रथमादर्श को आम्रदेव ने लिखा है।

११५३ वि० सं० की इसकी हस्तलिखित प्रति जैसलमेर के भण्डार में आज भी उपलब्ध है।[2]

(१२) धर्मबिन्दु

संस्कृत भाषा में निबद्ध प्रस्तुत रचना धर्मबिन्दु का एक अपना पृथक् ही महत्त्व है, वह है, इसका धर्मकीर्ति बौद्धाचार्य के हेतुबिन्दु के आधार पर लिखा जाना।

---

१. वही, पृ० ७२ तथा पाद टिप्पण
२. विस्तृत अध्ययन के लिए दे० हरिभद्रसूरि, पृ० ८५

यह आठ अध्यायों में विभक्त गद्यात्मक कृति है। इसकी शैली सूत्रात्मक है फिर भी इसमें गाम्भीर्य झलकता है। जैन दृष्टि से धर्म का यथार्थ स्वरूप जैसे—श्रावकव्रत, उनके अतिचार, शिक्षाव्रत, दीक्षा, दीक्षाधिकारी और सिद्धों के स्वरूप का प्रतिपादन करना इसका विषय हैं। दीक्षार्थी के १६ गुणों के प्रतिपादन में संवादात्मकशैली इसमें अनुपम बन पड़ी है।

धर्मबिन्दु पर मुनिचन्द्रसूरि ने ३००० श्लोक प्रमाण विस्तृत संस्कृत टीका लिखी है जो समूल ताड़पत्रों पर प्रकाशित है। इसका समय ११८१ वि० सं० जाना जाता है।[1] इसका इटालियन व गुजराती अनुवाद भी मिलता है।

(१३) पंचवत्थुग[2]

पंचवत्थुग यह पद इसको प्राकृत भाषा में रचा गया सिद्ध करता आचार्य हरिभद्रसूरि ने इस पर स्वयं संस्कृत में टीका लिखी है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन १९२७ में हुआ था। इसमें कुल १७१४ गाथाएं पायी जाती हैं किन्तु टीका के अन्तर्गत ४०४० पद्य मिलते हैं। इस रचना पर सम्भवः बौद्ध ग्रंथ **अंगुत्तरनिकाय** की शैली का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

यह निम्नलिखित पांच भागों में विभक्त हैं—

१. दीक्षा विधि
२. जैन श्रवणदिनचर्या
३. उपस्थान
४. श्रमणों के उपकरण और
५. तपश्चर्या, अनुज्ञा एवं सल्लेखना

इसके अतिरिक्त पंच स्थावर जीव, धर्म के अंग, तप और उसके भेदाभेदों पर प्रकाश डाला गया है। आचार्य यशोविजय जी द्वारा इसे

१. दे० हरिभद्रसूरि, पृ० १०६
२. वही, पृ० ११८-१२०

आधार बना कर एक नवानतम रचना का निर्माण किया गया है जिसका नाम है—**मार्ग परिशुद्धि**। लगता है कि यह नामकरण यशोविजय ने ५वीं शदी के बौद्धाचार्य बुद्धघोष की कृति **विसुद्धिमग्ग** (विशुद्धिमार्ग) को पढ़ने के बाद उपर्युक्त एवं महत्त्वपूर्ण समझ कर रखा है।

पंचवत्थुग का गुजराती अनुवाद भी आज उपलब्ध होता है।

(१४) **पंचासग**[1]

पद्यात्मक आर्या छन्द में निबद्ध प्रस्तुत कृति को आचार्य ने प्राकृत-भाषा में रचा है। इसे १९ भागों में बांटा गया है। १५वें अध्याय में ४४ और अवशिष्ट अध्यायों में ५०-५० श्लोक पाए जाते हैं, जिस कारण लगता है कि इसी को देखकर उपर्युक्त रचना का नाम पंचासग वा पचाशक रखा गया जो संस्कृत पंचशतक का प्राकृत रूप है।

इस पर अभयदेवसूरि ने शिष्यहिता नामक टीका लिखी है। जो १९१२ में प्रकाशित हुई। सबसे पहले **पंचासग** पर श्रीवीरगणि के शिष्य के भी शिष्य यशोदेव ने वि० सं० ११७२ में चूर्णि लिखी थी, जिसका उल्लेख **जिनरत्नकोश** में मिलता है। १९५२ में यह उपोद्घात एवं परिशिष्ट के साथ प्रकाशित भी हुई है। इसके अतिरिक्त इस पर अज्ञात टीकाकार की टीका और पृथक्-पृथक् पंचासंगों पर विभिन्न आचार्यों का गुजराती अनुवाद भी मिलता है।

पंचासंगों में जिस विषय का प्रतिपादन किया गया है वह है—श्रावक और साधुओं के विविध विधि-विधान आदि।

(१५) **बीस विंशिकाएं**[2]

बीस अध्यायों वाली आचार्य हरिभद्रसूरि की यह रचना भी प्राकृतभाषा में लिखी गई है। **बीस-विंशिकाएं** इस शीर्षक से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक अध्याय में २०-२० गाथाएं हैं। विद्वानों के अनुसार इसकी १४वीं विंशिका पूरी नहीं मिलती।

---

१. दे० हरिभद्रसूरि, पृ० १२१-१२६
२. दे० हरिभद्रसूरि, पृ० १४१-१४८

बीस विंशिकाओं का प्रथम सम्पादन १९२७ में हुआ। अनन्तर १९३२ में प्रोफेसर आभ्यंकर ने अंग्रेजी टिप्पण, संस्कृत प्रस्तावना, छाया एवं परिशिष्ट के साथ इसको सम्पादित किया था।[1]

यशोविजयगणि ने इस पर 'विवरण टीका' लिखी है तथा कुछ विंशिकाओं का उल्लेख अपनी रचना **अध्यात्मसार** में भी किया है। इसकी कुछ-कुछ विंशिकाओं पर गुजराती अनुवाद और पं० सुखलाल संघवी का हिन्दी सार तथा आनन्दसागरसूरि का विवरण भी प्राप्त होता है।[2]

आचार्यश्री की इस रचना में कुलनीति, सद्धर्म, दान, पूजाविधि, श्रावक-धर्म, यतिधर्म, शिक्षा, भिक्षा, आलोचना, प्रायश्चित, योगविधान, केवलज्ञान एवं सिद्धसुख आदि विविध विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इस ग्रंथ की एक विशेषता यह है कि इन विंशिकाओं का उल्लेख अथवा साम्य अनेक जैन-जैनेतर ग्रंथों में मिलता है। इनमें से कुछ के नाम हैं—योगबिन्दु, पंचाशक, आवश्यकनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, दशवैकालिकानिर्युक्ति और समरादित्यकथा इत्यादि।[3]

इनमें अनेक विंशिकाओं के विषय का प्रतिपादन किया गया है। इसके साथ ही **श्वेताश्वतर उपनिषद्** और **तैत्तिरीय ब्राह्मण** में कुछ विंशिकाओं का साम्य भी दृष्टिगोचर होता है।

(१६) संसारदावानल[4]

यह आचार्यश्री द्वारा रचित तीर्थंकरों की स्तुतिपरक कृति अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसका अपरनाम **संसारदावास्तुति**[5] भी मिलता है। यह स्तुति ग्रंथ पं० सुखलाल संघवी के अनुसार संस्कृत-प्राकृत में निबद्ध है किन्तु डा० नेमिचन्द्र शास्त्री इसकी भाषा संस्कृत मानते हैं।

इस स्तोत्र का पारायण स्त्रियां अपने प्रतिक्रमण करते समय करती

---

१. दे० वही, पृ० १४१ का पाद टिप्पण
२. दे० वही, पृ० १४७-१४८
३. दे० हरि० प्रा० क० सा० आ० परि०, पृ० ५३
४. वही,
५. दे० हरिभद्रसूरि, पृ० १६४

हैं। शुभतिलकलोले ने इस पर एक नया स्तोत्र रचा है। जो **प्रथम जिनस्तवन** के नाम से प्रकाशित है।[1] ज्ञानविमलसूरि ने इस पर संस्कृत टीका लिखी है।[2] एक अन्य अज्ञात लेखक की टीका का भी उल्लेख मिलता है। हिन्दी, गुजराती अनुवाद भी इसका प्रकाशित हुआ है।[3]

(१७) **श्रावकधर्म**

प्राकृत में इसका **सावगधम्म** हो जाता है। कुछ आचार्यों के अनुसार इसका **श्रावकधर्म** या **श्रावकधर्मतन्त्र** नाम भी है, किन्तु कुछ हस्तलिखित प्रतियों में इसका नाम **श्रावकविधिप्रकरण** दिया गया है।[4] जो भी हो, निस्सन्देह उपर्युक्त रचना में श्रावकों के धर्म पर सम्यक्तया विचार किया गया है। इनमें प्रमुख रूप से सम्यक्त्व, द्वादशव्रत, सल्लेखना आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

संघवी इसकी भाषा प्राकृत मानते हैं जबकि डा० शास्त्री इसे संस्कृत में रचित बतलाते हैं।[5] इसमें १२० पद्य हैं। मानदेवसूरि ने इस पर टीका लिखी है। इस रचना की अपनी एक विशेषता है और वह है इसका अकारादि क्रम में निबद्ध होना। गुजराती अनुवाद एवं संस्कृत छाया के साथ प्रकाशित इस ग्रंथ का नाम **श्रावकविधिप्रकरण** भी है।[6]

(१८) **श्रावकधर्मसमास**[7]

इसका दूसरा नाम **श्रावकधर्मप्रज्ञप्ति** भी है। इस ग्रंथ में ४०३ पद्य हैं जिनमे श्रावकों के व्रतों, अतिचारों तथा पन्द्रह कर्मादानों का सरल निरूपण किया गया हैं। १९०६ में सर्वप्रथम इसका गुजराती में भाषान्तर किया गया था और वि० सं० १८६१ में केशवलाल प्रेमचन्द

१. वही, पृ० १६५ पर पाद टिप्पण-४
२. वही, पृ० १६६-६७
३. वही, पृ० १७९
४. दे० हरि० प्रा० क० सा० आ० परि०, पृ० ५३
५. हरिभद्रसूरि, पृ० १७९ पर पाद टिप्पण
६. दे० वही, पृ० १८०
७. विस्तृत अध्ययन के लिए दे० वही, पृ० १५३

मोदी ने इसका सम्पादन किया था।

अभयदेवसूरि ने इस ग्रंथ का एक पद्य **पंचासग** की टीका में उद्धृत किया है जिससे इसके लेखन की प्राथमिकता सिद्ध होती है। लावण्यविजय ने भी अपनी कृति **द्रव्यसप्तति** की (वि० सं० १७४४) स्वोपज्ञ टीका में **श्रावकधर्मसमास** के १४४ पद्यों को उद्धृत किया है।

जेठालाल शास्त्री ने इसका टीका सहित गुजराती में वि. सं० १५४८ में सम्पादन एवं भाषान्तर किया है जो प्रकाशित है। कुछ विद्वानों ने इस रचना को हरिभद्रसूरि द्वारा रचित होना स्वीकृत नहीं किया क्योंकि इसकी कुछ हस्तलिखित प्रतियों के अन्त में **श्रीउमास्वाती वाचककृता सावयपण्णती सम्मता**[1] लिखा मिलता है[1] किन्तु आधुनिक विद्वानों की खोज एवं पुष्ट प्रमाणों से तथा **तत्त्वार्थसूत्र** एवं **श्रावकधर्मसमास** दोनों के विषय एवं शैली में भिन्नता होने से अब यह रचना आचार्य हरिभद्रसूरिकृत ही मानी जाती है।

(१९) **हिंसाष्टक**[2]

आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा लिखी गई प्रस्तुत कृति का स्वोपज्ञ अवचूरि के साथ सन् १९२४ में प्रकाशन हुआ था। आठ श्लोक प्रमाण इस ग्रंथ का विषय हिंसा का सम्यक् प्रतिपादन करना है। आचार्यश्री ने इसमें संसारियों को हिंसा से दूर रहने की प्रबल प्रेरणा दी है।

दशवैकालिक की टीका में इसका उल्लेख मिलता है। **हिंसाष्टक** में सुन्दोपसुन्द, **अनुयोगद्वारवृत्ति** का उल्लेख किया गया है। साथ ही इसमें हेमचन्द्रसूरि का भी जिक्र किया गया है जो सम्भवतः हरिभद्र से पूर्ववर्ती कोई आचार्य ही रहे होंगे।

(२०) **स्याद्वादकुचोद्यपरिहार**

यद्यपि यह रचना अप्राप्त है[3] फिर भी हरिभद्रसूरि की दृष्टि में स्याद्वाद और अनेकान्तवाद दोनों में कोई भिन्नता नहीं है। इसी जैन-

---

१. दे० हरिभद्रसूरि, पृ० १८०

२. वही, पृ० १८३-१८५

३. दे० समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि, पृ० १०९

दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त पर तत्कालीन जैनेत्तर विद्वानों की अनुचित कुशंकाओं के परिमार्जन स्वरूप उपर्युक्त कृति को रचा गया है क्योंकि कृति के शीर्षक से भी यही भाव झलकता है।

यह कृति संस्कृत में है, जिसकी रचना सम्भवत: सूरि ने **अनेकान्तजयपताका** से पहले ही की हो, क्योंकि जिस आक्षेप का खण्डन **स्याद्वादकुचोद्यपरिहार** में किया गया है उसका उल्लेख आचार्य ने **अनेकान्तजयपताका** की स्वोपज्ञ टीका में भी किया है।[1]

(२१) सम्बोधप्रकरण

सम्बोध प्रकरण का दूसरा नाम **तत्त्वप्रकाशक** भी मिलता है।[2] पद्यात्मक शैली में रचे गए इस ग्रंथ में १६१० श्लोक हैं। भाषा संस्कृत है किन्तु स्व० पण्डित सुखलाल संघवी इसकी भाषा प्राकृत बतलाते हैं।[3]

इसमें १२ अध्याय हैं। विषयानुरूप अध्यायों का नामकरण किया गया हैं यथा—देव का स्वरूप, कुगुरु का स्वरूप, पार्श्वस्थ आदि का स्वरूप, गुरु का स्वरूप, सम्यक्त्व का निरूपण, श्राद्ध, प्रतिमा एवं व्रत, संज्ञा, लेश्या, ध्यान, मिथ्यात्व और आलोचना आदि।

(ख) अप्राप्त एवं उल्लिखित ग्रंथ

आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा लिखे गए कुछ ऐसे ग्रंथ भी हैं जिनका उल्लेख उनके ही अन्य ग्रंथों में या टीकाओं में मिलता है। जैसे—

१. अनेकान्त प्रघट्ट[4]
२. अनेकान्त सिद्धि[5]
३. अर्हत् श्रीचूडामणि[6]

---

१. इति श्रीसम्बोधप्रकरणं तत्त्वप्रकाशकनामश्वेताम्बराचार्यश्रीहरिभद्रसूरिभि: याकिनीमहत्तराशिष्यणी मनोहारी या प्रबोधनार्थमिति ज्ञेय:। श्रीहरिभद्रसूरि, पृ०, १७५

२. दे० सम० हरि०, पृ० १०६

३. विस्तृत अध्ययन के लिए दे० श्रीहरिभद्रसूरि, पृ० ६७-७०

४. वही, पृ० ८१

५. दे० अनेकान्तजयपताका, खण्ड-२, व्या०, पृ० २१८

६. दे० समरा० क० सा० अ०, पृ० ७

४. आत्मानुशासन[1] और
५. आत्मसिद्धि[2] इत्यादि

(२२) **दरिसणसत्तरि**

इस रचना का दूसरा नाम **सम्मत्तसत्तरि** भी है।[3] इस कारण इस रचना का वर्ण्यविषय मुख्यतः सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन का यथार्थ निरूपण करना है, जो आत्मा का एक स्वाभाविक गुण है।

यह प्राकृत में निबद्ध पद्यात्मक कृति है। इस पर अनेक टीकाएं मिलती हैं। इनमें रुद्रपल्लीय गच्छ के संघतिलकसूरि द्वारा रचित संस्कृत टीका जो ७७११ श्लोक प्रमाण है, मुख्य है। इसका वि० सं० १४२२ दिया गया है। टीकाकार ने इसका नाम **तत्त्वकौमुदी** रखा है।[4]

दूसरे, इस पर गुणनिधानसूरि के शिष्य द्वारा लिखी गई 'अवचूरि' भी प्राप्त होती है। दूसरी टीका जो ३५७ श्लोक प्रमाण है, मुनिचन्द्रसूरि के शिष्य शिवमण्डनगणि ने लिखी है।

दरिसणसत्तरि सम्मत्तसत्तरि नामक यह ग्रंथ टीका सहित १९१३ में प्रकाशित हुआ है। कुछ विद्वान् इसका **श्रावकधर्मप्रकरण** नाम भी बतलाते हैं[5] जो कि सर्वथा गलत है क्योंकि दोनों के विषय की भिन्नता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

(२३) **षोडशकप्रकरण**

हरिभद्रसूरि की यह कृति संस्कृत भाषा में निबद्ध है। इसमें आर्य छन्द का प्रयोग है। इसको सोलह भागों अथवा अधिकारों में वर्गीकृत किया गया है। सोलहवें में ७० पद्य हैं जबकि शेष पन्द्रह अधिकारों में १६ पद्य हैं। सम्भवतः इसी आधार पर इसका नामकरण किया हुआ लगता है।

---

१. दे० धूर्ताख्यान, प्रस्तावना, पृ० १२-१३
२. विस्तृत अध्ययन के लिए दे० हरि० प्रा० सा० आ० परि०, पृ० १६१
३. दे० श्रीहरिभद्रसूरि, पृ० ९२
४. वही, पृ० ९३
५. वही, पृ० ९४

इसके प्रत्येक अधिकार का नाम एवं विषय अलग-अलग है, जो निम्न प्रकार है—(१) धर्म, (२) सद्धर्म देशना, (३) धर्म लक्षण, (४) धर्मेच्छुलिंग, (५) लोकोत्तरतत्त्व प्राप्ति, (६) जिनमन्दिर, (७) जिनबिम्ब, (८) प्रतिष्ठाविधि, (९) पूजास्वरूप, (१०) पूजाकल्प, (११) श्रुतज्ञान, (१२) दीक्षाधिकार, (१३) गुरुविनय, (१४) योगभेद, (१५) ध्येय स्वरूप और (१६) समरस।

इस रचना का उद्देश्य ऐसे साधक का उद्धार करना है जो किसी प्रकार ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। उसे इसके अध्ययन एवं मनन से बोध प्राप्त हो सकता है।[1]

षोडशक के ऊपर यशोभद्रसूरि ने १५०० श्लोक प्रमाण संस्कृत में ही एक विवरण लिखा है और न्यायाचार्य यशोविजयगणि ने इस पर १२०० श्लोक प्रमाण वाली विस्तृत व्याख्या भी लिखी है। इसके प्रथम षोडशकों का गुजराती भाषान्तर भी हुआ है जो कि सम्पादित एवं प्रकाशित है।[2]

(२४) **चैत्यवन्दनसूत्रवृत्ति**

चैत्य से यहां अभिप्राय 'जैन आराध्य वीतरागी तीर्थंकर' लिया गया है। इसी कारण इसे **प्रणिपात**, **शक्रस्तव** और **नमोत्थुणं** आदि नामों से भी जाना जाता है। प्रकृत ग्रन्थ विवृत्ति सहित प्राप्त होता हैं और जैसे कि इसका नाम **चैत्यवन्दनसूत्रवृत्ति** है भी। इसी को स्वयं आचार्य हरिभद्रसूरि ने वृत्ति के आधार पर **ललितविस्तरा** भी कहा है। इसकी प्रेरणा आचार्यश्री को सम्भवतः बौद्ध नववैपुल्यसूत्र **ललितविस्तर** से मिली है।

यह मंगलसूत्र ग्रन्थ प्राकृत भाषा में निबद्ध है और इसकी विवृत्ति संस्कृत में है, जो ३३ पद्यमयोसूत्र श्रावकों के दैनिक साधना में सुपाठ्य है। मूलतः ग्रन्थ की विषय वस्तु वन्दना है फिर भी प्रणिपात, अहिंसा. कायोत्सर्ग, लोगस्तव, श्रुतस्तव, सिद्धान्त, वैयावृत्य तथा प्रार्थनासूत्र

---

१. दे० षोडशक प्रकरण (आगमोद्धारक उपक्रम) ऋ० के० श्वे० संस्था प्रकाशन)

२. दे० वही (जैन पुस्तक प्रचारक संस्था प्रकाशन, १९४८)

आदि इसके प्रमुख विषय हैं।

आचार्यश्री ने विवृत्ति के माध्यम से प्रत्येक पद की व्याख्या करते हुए समस्त दर्शनों की आचारविचार पद्धतियों का स्वरूप प्रस्तुत कर जैनदर्शनानुसार स्वीकृत मान्यताओं को जीवन में अपनाने की और उन्हें उतारने की प्रबल प्रेरणा दी है।

मुनिचन्द्रसूरि ने **ललितविस्तरा** पर २१५५ श्लोक प्रमाण पञ्जिका नामक टीका लिखी है: साथ ही श्रीमानतुंगविजय ने इसका हिन्दी अनुवाद भी किया हैं जो कि अब सटीक पञ्जिका के साथ १९६३ मे प्रकाशित भी किया गया है।[1]

(ग) कथा परक साहित्य

कथापरक रचनाओं में आचार्यश्री की दो ही रचनाएं मिलती हैं। वे हैं—(१) समराइच्चकहा और (२) धूर्ताख्यान

(२५) समराइच्चकहा

आचार्यश्री हरिभद्रसूरि द्वारा प्राकृत भाषा में निबद्ध समराइच्च-कहा>समरादित्यकथा सूरि की ही नहीं, और न केवल जैन साहित्य की ही अपितु सम्पूर्ण भारतीय कथा साहित्य की सर्वोत्तम कृति है। इसके लिखने में आचार्य प्रवर का चाहे कोई भी मूल कारण रहा हो किन्तु निस्सन्देह जैसा कि विद्वानों का अभिमत है कि यह ग्रंथ सूरि ने प्रतिशोध की भावना के प्रतिफल स्वरूप लिखा था।

यह रचना आचार्यश्री हरिभद्रसूरि की कृतियों में सर्वाधिक प्राचीन एवं सर्वप्रथम ग्रंथ विशेष है। इसमें महाराजा समरादित्य के पूर्व के नौ जन्मों का वर्णन कथा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सम्पूर्ण ग्रंथ नौ भवों में विभक्त है। इसके पढ़ते ही पाठकों को बाण की कादम्बरी सहज ही स्मरण हो जाती है।

इसमें जन्म कथाओं के आधार से मानव के संस्कार सात्त्विक गुण, परस्पर में एक दूसरे के प्रति रागद्वेषमयी भावना का स्फुरण, बदले की प्रबल भावना, बध-बन्धन आदि, कुगुरुपूजन एवं उपासना, क्षेत्रादि के

१. चैत्यवन्दनसूत्रवृत्ति पञ्जिका टीका (चैत्यवन्दनसूत्रवृत्ति)

देवों का प्रभाव, श्रमणधर्माचरण और कुमार्ग के दुष्परिणामों आदि अनेक विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इससे सत्त्व का हेयोपादेय-विवेकबोध की ओर अग्रसर होने की प्रबल प्रेरणा दी गई है।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ में भारतीय संस्कृति, सामाजिक रीतिरिवाज एवं परम्पराओं का स्वरूप, नवीन चेतना का विकास, तत्कालीन प्रचलित शिल्प, वर्ण्य प्रथा, कृषि, स्थापत्यकला और राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का वर्णन प्रसंगवश आ पड़ा है। देश-विदेश के सम्बन्ध, व्यापार, व्यापारमार्ग, उस समय के तपस्वी, साधु सन्तों के आचार-विचार एवं उनकी साधना की विविध प्रक्रियाओं एवं धारणाओं की सूचना का **समराइच्चकहा** अपने में एक प्रामाणिक दस्तावेज है।[1] सम्पूर्ण ग्रन्थ पर जैनधर्म-दर्शन की छाप स्पष्ट झलकती है। इसका शोध परक अध्ययन भी किया जा चुका है जो उपलब्ध है।

(२६) धूर्ताख्यान

धूर्ताख्यान भारतीय वाङ्मय का अनुपम व्यंग्य प्रधान कथा ग्रन्थ है। कथानक अत्यन्त सरल एवं सरस है। हरिभद्रसूरि ने सीधी आक्रमणात्मक शैली में पांच धूर्तों के माध्यम से रामायण, महाभारत एवं पुराणों में उपलब्ध अप्राकृतिक, अवैज्ञानिक, अबौद्धिक, असम्भव तथा अकाल्पनिक मान्यताओं एवं प्रवृत्तियों पर तीव्र प्रहार किया है।[2] जिसे प्राणी के लिए तर्क की कसौटी पर कस कर नहीं समझाया जा सकता, तब उसका हल एक मात्र कथा और कथोपकथन ही रह जाता है जिनका कि आचार्यश्री ने **धूर्ताख्यान** में भरपूर लाभ उठाया है।

वीतरागी सन्त होते हुए भी उनके नारी जाति के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धाभाव थे। वे उसके विवेक चातुर्य से अत्यन्त प्रभावित थे। आश्चर्य नहीं, कि आख्यान के बहाने हरिभद्रसूरि ने नारी के धूमिल चारित्र को उजागर कर उसके आदर्श एवं सम्मान को और अधिक उन्नत बनाया है। इसकी झलक **धूर्ताख्यान** में आगत प्रासंगिक कथा से स्पष्ट मिल

१. समराइच्चकहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ८
२. दे० हरि० प्रा० क० सा० आ० परि०, पृ० १७०

जाती है।[1]

भारतीय वाङ्मय में प्रचलित अनेक रूढ़ियों का धूर्ताख्यान में पर्दाफास किया गया है। यहां अन्धविश्वास पर करारी चोट की गई है, जिससे लेखक की वाक्विदग्धता और अनोखी कल्पना की सूझ-बूझ एवं निष्पक्षता स्पष्ट परिलक्षित होती है। सूरि निस्सन्देह हास्य प्रधान एवं व्यंग्य पूर्ण शैली के लिखने में सिद्धहस्त थे।

प्रस्तुत ग्रंथ की रचना करने में सूरि का उद्देश्य एकमात्र स्वच्छ समाज का निर्माण करना था और उसे कुवासनाओं, कुरीतियों के भंवर से बाहिर निकलना भी था। धूर्ताख्यान में प्रसंगवश जिन विषयों पर प्रकाश डाला गया है। उनमें प्रमुख हैं—

(१) सृष्टि उत्पत्तिवाद,
(२) सृष्टि प्रलयवाद,
(३) त्रिदेव स्वरूप एवं उनकी मिथ्या मान्यताएं
(४) रूढ़िवादिता,
(५) अस्वाभाविक कतिपय मान्यताएं
(६) ऋषियों से सम्बन्धित असंगत कल्पनाएं एवं अमानवीय तत्त्व इत्यादि।[2]

(घ) योग सम्बन्धी रचनाएं

आचार्य हरिभद्रसूरि की भारतीय वाङ्मय को तीसरी महान् देन योग परक ग्रन्थ रत्नों की रचना है, जिससे योगदर्शन साहित्य के क्षेत्र में पतञ्जलि के बाद आपका ही नाम लिया जाता है। योग पर आपने विस्तार से अन्याय ग्रथों का गहन चिन्तन एवं मनन किया है। इससे भी आपकी योग साधना सिद्धि की पहुंच का एक सर्वोत्तम स्पष्ट प्रमाण मिलता है तथा जैन योगध्यान साधना के उत्कर्ष का भी बोध होता है।

आपने योग परक चार ग्रन्थों की रचना की है—

(१) योगविंशिका
(२) योगशतक

१. वही, पृ० १७१
२. वही, पृ० १७२

(३) योगदृष्टिसमुच्चय और
(४) योगबिन्दु

(२७) **योगविंशिका**

यह आचार्यश्री की योग पर प्रथम रचना है। यह प्राकृत भाषा में निबद्ध है। आचार एवं चारित्र निष्ठ साधक ही योग का अधिकारी है। यह इसमें स्पष्ट बतलाया गया है। इसमें आध्यात्मिक विकास की पांच भूमियों-स्थान, इसकी इच्छा, प्रवृत्ति, स्थैर्य और सिद्ध आदि भेदों तथा अर्थ आलम्बन एवं तीर्थोच्छेद आदि अनालम्बन में विभक्त की गई है।

योगविंशिका पर उपाध्याय यशोविजय की हिन्दो टीका मिलती है। आचार्यश्री ने स्वयं भी इस पर स्वोपज्ञ नामक संस्कृत टीका लिखी है[1]। इसनें २० पद्य हैं।

(२८) **योगशतक**

आचार्य हरिभद्रसूरि की यह अनूठी रचना १०० पद्यों एवं प्राकृत भाषा में निबद्ध है। दो प्रकार के योग पर विचार किया गया है। वे हैं—निश्चययोग एवं व्यवहारयोग।

रत्नत्रय, आत्मा, उसके साथ इनका सम्बन्ध, योगाधिकारी, योग-साधना का विकास, एक योग भूमि से दूसरी भूमि पर पहुंचने का तरीका, योग के स्थूल एवं बाह्य साधनों के साधक एवं बाधक कारणों आदि विषयों पर **योगशतक** में विस्तार से चर्चा की गई है। इससे एक योग्य साधक यथा उचित योग की प्रक्रिया का आलम्बन लेकर क्रमशः अपना आत्मविकास करता हुआ, कर्मबन्धन से मुक्त होता है और अपने लक्ष्यभूत मोक्ष लक्ष्मी को हस्तगत कर लेता है। यह कृति भी हिन्दी अनुवाद एवं स्वोपज्ञ संस्कृत टीका सहित प्रकाशित है।

(२९) **योगदृष्टिसमुच्चय**

सूरि द्वारा संस्कृत पद्यों में विरचित यह योग साधना परक ग्रन्थ आध्यात्मिक विकास का अनुपम नगीना है। इस पर स्वयं सूरि ने टीका

---

१. हरिभद्रयोग भारती (देश दर्शन ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित)।

भी लिखी है। यह ग्रन्थ योगधिकारों में विभक्त किया गया है। योग की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर चरमावस्था तक का सांगोपांग वर्णन यहां मिलता हैं। प्रारम्भ में **पातञ्जलयोगदर्शन** के यम आदि अष्ट साधनों की तरह कर्ममलक्षय को दृष्टि में रखकर मित्रा, तारा, बला आदि आठ अंगों का वर्णन किया गया है जिसमें प्रवर्तमान साधक अपने उद्देश्य की उपलब्धि कर लेता है। योगियों की इच्छायोग, शास्त्रयोग, सामर्थ्य-योग, गोत्रयोग कुलयोग, प्रवृत्ताचक्रयोग और सिद्धयोग आदि में विभाजित कर **योगदृष्टिसमुच्चय** में उनकी उपयोगिता पर विस्तारपूर्वक चिन्तन किया गया है।

(२०) योगबिन्दु

यह आचार्य का योग विषयक अन्तिम और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें ५२७ श्लोक हैं। इसकी भाषा संस्कृत है। इसके आरम्भ में योग का अर्थ एवं महत्त्व बतलाया गया है। इसके बाद योगाधिकारी, अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय का वर्णन करते हुए साधना के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है उसके साथ ही साधक की योग्यतानुसार उनका वर्गीकरण तथा योगसाधना के उपायों का प्रस्तुत कृति में विस्तृत अध्ययन किया गया है। आचार्य हरिभद्रसूरि की संस्कृत स्वोपज्ञ टीका भी इस पर उपलब्ध होती है। आचार्यप्रवर की यह अनुपम रचना ही शोधार्थी के लिए तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन के लिए उपादेय है।

परिच्छेद—तृतीय
योगबिन्दु की विषय वस्तु

(क) योग साधना का विकास

भारतीय आध्यात्मिक क्षेत्र में योग साधना का विकास क्रमबद्ध ढंग से उपलब्ध होता है। यहां पर हम इसी का योगबिन्दु के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करेंगे।

(१) वैदिक परम्परा में योग साधना का विकास

वैदिक साहित्य वेदत्रयी के नाम से प्रख्यात है, जो ज्ञान, कर्म एवं उपासना इन तीन मार्गों का स्पष्ट निर्देश करती है। साधक इन्हीं तीन मार्गों पर चलकर अपना अभीष्ट लाभ करता है।[1] योग साधना और भक्ति इन मार्गों का पावन त्रिवेणीसंगम है।

भक्ति

'भक्ति' शब्द का ही पर्यायवाची शब्द है—उपासना। सत्त्व भक्ति में अपने इष्ट का निरन्तर चिन्तन-मनन और स्मरण करता है जबकि उपासना में वह अपने इष्ट को अपने हृदय में अधिष्ठित करके उनका बारम्बार अनुचिन्तन और स्मरण करता है।

उपासना[2]

उपासना का शाब्दिक अर्थ है—अपने इष्ट के समीप बैठना, अर्थात् जिसमें हमने अपने आराध्य की प्रतिष्ठापना की है, उसके समीप रहना। उसके समीप रहकर हम उसके अनुग्रह भाजन याकि कृपापात्र बन सकते हैं।[3] यहां पर विश्वास अथवा दृढ़ आस्था का प्राधान्य रहता है। संकल्प एवं दृढ़ आस्था के द्वारा साधक अपने पाप कर्मों से मुक्त हो जाता है।

---

१. दे० भक्ति का विकास. पृ० १११;

२. इस अर्थ में बौद्ध उपोसथ शब्द का प्रयोग करते हैं। दे० महावग्ग

३. ऋग्वेद संहिता, १-१२७-५

भक्ति अथवा ईश्वर मे दत्तचित्तनिष्ठा का सिद्धान्त उपनिषदों में विस्तार से मिलता है जबकि **ऋग्वेद संहिता** में केवल भक्त और अभक्त शब्द मिलते हैं। इनका अर्थ सायणाचार्य ने सेवामान और असेवामान अर्थात् पूजने वाला और न पूजने वाला किया है।[1]

षड्दर्शनों में **पातञ्जलयोगशास्त्र** भक्ति के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान रखता है। उसका परम लक्ष्य है—जीवन के निजी स्वरूप का पहचानना। वहां कहा गया है कि ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं अपितु वह केवल योग साधना में मार्गदर्शन करने वाला परम गुरुतुल्य है। इससे पूर्व के योग साधना के विकास को देखने पर ज्ञात होता हैं कि **योग-वासिष्ठ** में भी योग साधना के विकास क्रम का वर्णन सर्वाङ्गीण और समुचित ढंग से हुआ है। इस दृष्टि से **योगदर्शन** तथा **योगवासिष्ठ** में वर्णित योग-साधना के विकास क्रम को समझ लेना चाहिए।

पातञ्जल योगदर्शन में चूंकि चित्त की वृत्तियों का निरोध ही **'योग'** है। निरोध का अर्थ यहां कोई नया अवरोध खड़ा करना नहीं है अपितु विषयों का चिन्तन एवं उनमें आसक्तिपूर्वक प्रवृति का न होने देना ही निरोध है।

योगदर्शन में चित्त की पांच वृत्तियों अथवा भूमिकाओं का भी उल्लेख हुआ है जिनमें एक के बाद दूसरी अवस्था अथवा भूमिका(वृत्ति) क्रमशः चित्तशुद्धि की परिधि को बढ़ाती जाती है। वे पांच भूमिकाएं निम्नलिखित हैं—(१) क्षिप्त, (२) मूढ़, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र और (५) निरुद्ध।[2]

इनमें प्रथम तीन अर्थात् क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त अज्ञान (अविकाश) की होने के कारण योगसाधना में उपयोगी नहीं हैं। दूसरे, क्षिप्तावस्था में रजोगुण के प्राधान्य के कारण साधक के चित्त की चंचलता बहुत अधिक होती है। अतः इन्हें अग्राह्य माना गया है।

---

१. दे० भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, पृ० १७

२. क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रनिरुद्धमिति चित्तभूमयः।
पा० यो०. व्यास भाष्य, १.१

(१) क्षिप्त

चित्त प्रकृति का सात्त्विक परिणाम होने से प्रख्यापन (ज्ञान) स्वरूप है फिर भी जिस काल में सत्त्वगुण की न्यूनता होती है उस काल में वह तमोगुण से सम्बद्ध हो जाता है। इसी काल में शब्द, विषय आदि तथा अणिमा-महिमा आदि ऐश्वर्य को ही प्रिय जानकर उन्हीं में आसक्त होने से चित्त विह्वल हो जाता है[1], इसी अवस्था का नाम क्षिप्त है। इस तरह क्षिप्त रज प्रधान है। इस अवस्था में तमोगुण तथा सत्त्व गुण का निरोध रहता है।

(२) मूढ

इस अवस्था में रजोगुण का प्रभाव कम होता है और तमोगुण का आधिक्य बढ़ जाता है, जिससे मोह के आवरण से साधकों में कर्त्तव्य-अकर्तव्य का बोध नहीं हो पाता।

(३) विक्षिप्त

जब चित्त में तमोगुण शिथिल होता है और रजोगुण का आंशिक रूप से प्राबल्य बना रहता है तब सत्त्वगुण के उद्रेक से चित्त निष्कलंक दर्पण के समान प्रकाशित होकर एकाग्रता की ओर बढ़ता है किन्तु चित्त की यह स्थिरता स्थायी नहीं होती कारण कि योगविघ्नों के कारण शीघ्र ही चित्त चंचलता से अभिभूत हो जाता है, फिर भी पूर्व की अपेक्षा इस अवस्था में चित्त योग-साधना की ओर निरन्तर अभिमुख होता जाता है।

यद्यपि ये तीनों भूमिकाएं योगसाधना के विकास में विशेष उपयोगी नहीं हैं तब भी आंशिक एवं आपेक्षिक रूप में वृत्तियों का निरोध इन अवस्थाओं में बना रहता है। बाह्य विषयों के साथ इन्द्रियों के द्वारा चित्त का निरन्तर उग्र सम्पर्क बना रहना 'व्युत्थान'[2] दशा है, जो योग

---

१. प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति। पा० यो०, १.२ पर भाष्य

२. व्युत्थान शब्द बौद्ध साधना में भी आता है। विस्तृत अध्ययन के लिए दे० अभिप्र०, पृ० ९४७

की प्रतिपक्षीभूत है। इसीलिए इनकी परिगणना योग की कोटि में नहीं होती। अतः इन्हें अविकसित अवस्था भी कहा जाता है।

(४) एकाग्र

जब चित्त इन्द्रियद्वार से बाह्य विषयों की ओर प्रवृत्त न होकर एकमात्र अध्यात्म चिन्तन में निरत रहता है। तब यही चित्त की एकाग्र भूमिका कही जाती है। इस अवस्था में सत्त्वगुण शेष दो गुणों को अभिभूत कर देता है, जिससे साधक अविद्या आदि क्लेश तथा कर्म-बन्धनों को क्षीण करता है और चित्त को ध्येयवस्तु में एकाग्र करके निश्चल (स्थिर) बनाता है। चित्त की इस अवस्था को सम्प्रज्ञातयोग अथवा सम्प्रज्ञातसमाधि भी कहते हैं।[1] यहां से साधक असम्प्रज्ञात समाधि की ओर आगे बढ़ता है। इस एकाग्र अवस्था में केवल संस्कार शेष रहते हैं।

(५) निरुद्ध

एकाग्र अथवा सम्प्रज्ञातसमाधि की दशा में साधक आत्मा और चित्त के भेद का साक्षात्कार कर लेता है। वह इस तथ्य को स्पष्टतया जान लेता है कि प्राप्त विषयों के अनुरूप चित्त का परिणमन होता है, आत्मा का नहीं होता। ऐसी दशा में चित्तवृत्तियों का पूर्ण निरोध होने से साधक के संस्कार समूह भी नष्ट हो जाते हैं। इस अवस्था में कर्माशय दग्ध हो जाते हैं और उनका बीजभाव अन्तर्हित हो जाता है। इसी कारण यह अवस्था निर्बीज समाधि कहलाती है।[2] यहां योगसाधना का पूर्ण विकास हो जाता है जो कि कैवल्य की उपलब्धि में परम उपादय होता है।

योगवासिष्ठ के अनुसार योगसाधना के अन्तर्गत आत्म विकास की दो श्रेणियां मानी गई हैं—

(१) अविकासावस्था एवं (२) विकासावस्था

---

१. पातञ्जलयोगसूत्र १.१७ तथा विशेष के लिए देखिए (शास्त्री) पातञ्जलयोगदर्शन, पृ० ६

२. पातञ्जलयोगदर्शन, १.५१

(१) अविकासावस्था

इसके अन्तर्गत साधक की सात अवस्थाओं का वर्णन हुआ है जैसे कि—

(१) बीजजाग्रत
(२) जाग्रत
(३) महाजाग्रत
(४) जाग्रतस्वप्न
(५) स्वप्न
(६) स्वप्नजाग्रत और
(७) सुषुप्ति ।[1]

(१) बीजजाग्रत

यह सृष्टि के आदि में चित्ति (चेतन्य) का नाम रहित और निर्मल चिन्तन का नाम है क्योंकि इसमें जाग्रत अवस्था का अनुभव बीजरूप से रहता है । इसी को बीजजाग्रत कहा जाता है ।

(२) जाग्रत

परब्रह्म से तुरन्त उत्पन्न जीव का ज्ञान, जिसमें पूर्वकाल की कोई स्मृति नहीं होती **जाग्रता अवस्था** कहलाती है ।

(३) महाजाग्रत

पहले जन्मों में उदित और दृढ़ता को प्राप्त ज्ञान महाजाग्रत है ।

(४) जाग्रतस्वप्न

यह ज्ञान भ्रम की कोटि में आता है क्योंकि इसका उदय कल्पना द्वारा जाग्रत दशा में होता है और इस ज्ञान के द्वारा जीव कल्पना को भी सत्य मान बैठता है । इसी का नाम जाग्रतस्वप्न भी है ।

(५) स्वप्न

महाजाग्रत अवस्था के भीतर निद्रावस्था में अनुभूत विषय के प्रति

---

१. तत्रारोपितमज्ञानं तस्य भूमीरिमाः श्रृणुः ।
बीजजाग्रत्तथाजाग्रन्महाजाग्रत्तथैव च ॥
जाग्रतस्वप्नस्तथास्वप्नः स्वप्नजाग्रतसुषुप्तकम् ।
इतिसप्तविधो मोहः पुनरेव परस्परम् ॥ योगवासिष्ठ, उत्पत्तिप्रकरण, ११७, ११-१२

जागने पर इस प्रकार का ज्ञान हो कि यह विषय असत्य है और इसका अनुभव मुझे थोड़े समय के लिए ही हुआ था। यही स्वप्न कहा जाता है।

(६) **स्वप्नजाग्रत**

इस अवस्था में अधिक समय तक जाग्रत अवस्था के स्थूल विषयों का, स्थूल देह का अनुभव नहीं होता और स्वप्न ही जाग्रत के समान होकर महाजाग्रत-सा प्रतीत होता है।

(७) **सुषुप्ति**

पूर्वोक्त अवस्थाओं से रहित, भविष्य में दुःख देने वाली वासनाओं से युक्त जीव की अचेतन स्थिति का नाम सुषुप्ति है।[1]

इनमें से प्रथम दो अवस्थाओं अथवा भूमिकाओं में राग-द्वेषादि कषाय का अल्प अंश होने के कारण वे वनस्पति एवं पशु-पक्षियों में पायी जाती हैं लेकिन आगे की ओर सभी भूमिकाओं में कषायों की अधिकता बढ़ती जाती है। इसी कारण भूमिकाएं सामान्य मानव में ही पायी जाती है कारण है कि क्रोध, मान, माया आदि की तीव्रता मनुष्य में ही होती है। इस प्रकार प्रथम भूमिका में जितना अज्ञानता होती है, उसके बाद वाली अवस्थाओं में उतनी अज्ञानता नहीं रहती फिर भी ये सात-भूमिकाएं अज्ञानानस्था की ही कही जाती हैं चूंकि भले-बुरे का ज्ञान उनमें नहीं हो पाता।

(२) **विकसित अवस्था**

इस अवस्था में पहले की अपेक्षा विवेकशक्ति की उपस्थिति के कारण साधक का मन आत्मा के वास्तविक रूप को पहचानने के लिए उत्सुक रहता है, जिससे बुरे विचारों को त्याग कर आत्मा के समीप ले जाने वाले प्रशस्त विचारों को मनोयोगपूर्वक ग्रहण कर सके।

इस सन्दर्भ में आत्मा को बोध देने वाली ज्ञान की सात भूमिकाओं का उल्लेख भी मिलता है, जो क्रमशः स्थूल आलम्बन से हटाकर साधक

---

१. योगवासिष्ठ, ३।११७, २४

को सूक्ष्म से सूक्ष्मता की ओर ले जाती हैं, जहां मोक्ष की स्थिति है। यद्यपि मोक्ष और सत्य का ज्ञान दोनों पर्यायवाची हैं, कारण कि जिसको सत्य का ज्ञान हो जाता है, वह जीव फिर जन्म मरण नहीं करता।

योग स्थित ज्ञान की सात भूमिकाएं[1]

(१) शुभेच्छा

वैराग्य उत्पन्न होने पर साधक के मन में अज्ञान को दूर करने और शास्त्र एवं सज्जनों की सहायता से सत्य को प्राप्त करने की इच्छा का उत्पन्न होना शुभेच्छा है।

(२) विचारणा

शास्त्राध्ययन, सत्संग, वैराग्य और अभ्यास से सदाचार की प्रवृत्ति का उत्पन्न होना ही विचारणा है।

(३) तनुमानसा

शुभेच्छा और विचारणा के अभ्यास से इन्द्रिय की विषयों के प्रति गमन सम्भव न होने से मन की स्थूलता का ह्रास होता है। इसे ही तनुमानसा कहते हैं।

(४) सत्त्वापत्ति

पूर्वोक्त तीनों भूमिकाओं के अभ्यास और विषयों की विरक्ति से आत्मा में चित्त की स्थिरता का होना की सत्त्वापत्ति है।

(५) असंसक्ति

इस भूमिका में पूर्व की चार भूमिकाओं के अभ्यास तथा सांसारिक विषयों में असंसक्ति होने से, सत्त्वगुण के प्रकाश से मन स्थिर हो जाता

---

१. ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा।
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्ति नामिका।
पदार्थमानवी षष्ठी सप्तमी तुर्यगास्मृता॥
योगवासिष्ठ, उत्पत्ति प्रकरण, ११-८.५६

है और साधक आत्मा में ध्यानस्थ होने के लिए समर्थ हो जाता है।

(६) **पदार्थ भावना**

इसमें साधक पूर्वोक्त भूमिकाओं के अभ्यास से आत्मा में मन को दृढ़ कर लेता है तथा समस्त बाह्य पदार्थों की ओर से विमुख हो जाता है। ऐसी अवस्था में साधक को बाहरी सभी पदार्थ मिथ्या प्रतीत होते हैं।

(७) **तुर्यगा**

पहले बतलायी गई छः भूमिकाओं के द्वारा निरन्तर अभ्यास से जब साधक को भेद में भी अभेद की प्रतीति होने लगती है और वह जब आत्मभाव में अविचलित रूप से स्थिर हो जाता है तो ऐसी स्थिति को तुर्यगाभूमि कहते हैं।[1] इसे जीवन्मुक्त अवस्था भी बतलाया गया है। ध्यातव्य है कि विदेहमुक्ति तुर्यगावस्था से भिन्न है, एक नहीं, जैसा कि कुछ बौद्ध विद्वान् मानते हैं।

(२) **बौद्ध योग साधना का विकास**

वैदिक साधना की ही तरह बौद्ध परम्परा में भी योगसाधना के विकास के लिए चित्तशुद्धि को आवश्यक माना गया है क्योंकि इसके विकास की भूमिका नैतिक आचार-विचार के द्वारा चारित्र को विकसित और सशक्त बनाती है तथा चारित्र-विकास ही योगसाधना का परम लक्ष्य है।

बतलाया गया है कि श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा[2] इन पांच साधनों के सम्यक्परिपालन द्वारा साधक अपने चारित्रिक गठन और विकास के माध्यम से विशुद्ध-अवस्था की प्राप्ति करता है। दूसरे शब्दों में निर्वाण अथवा विशुद्ध अवस्था की प्राप्ति के लिए क्रमशः छः अथवा सात स्थितियों का विधान किया गया है जिनसे साधना के

---

१. योगवासिष्ठ ३.११८.७-३६ तथा
योगवासिष्ठ एवं उसके सिद्धान्त, पृ० ४५२

२. दे० मिलिन्द० प्रश्न, २.१.८

विकास की प्रक्रिया में निखार आता है। ये स्थितियां निम्नलिखित हैं—

(१)	अन्ध पृथक् जन	(४)	सकृदागामी
(२)	कल्याण पृथक् जन	(५)	अनागामी और
(३)	स्रोत-आपन्न	(६)	अर्हत्[1]

इनको पार करता हुआ साधक अपने चारित्रबल से संयम, करुणा एवं वैराग्य को प्राप्त करता है। इन स्थितियों अथवा अवस्थाओं को और अधिक स्पष्ट करते हुए **मिलिन्दप्रश्न** में चित्त की सात अवस्थाओं का वर्णन[2] इस प्रकार किया गया है—

(१) संक्लेशचित्त

यह स्थिति अज्ञान अथवा मूढ़ता की है, क्योंकि इस अवस्था में योगी का चित्त राग-द्वेष, मोह एवं क्लेश से संयुक्त होता हैं तथा वह शील एवं प्रज्ञा की भावना परक चिन्तन भी नाम मात्र के लिए नहीं करता।

(२) स्रोत-आपन्नचित्त

यह भी अविकास की ही दूसरी अवस्था है। इस स्थिति में साधक बुद्ध कथितमार्ग को भलिभांति जानकर शास्त्र को अच्छी तरह मनन और चिन्तन करके भी चित्त के तीन भ्रममूलक संयोजनों[3] को ही नष्ट कर पाता है, सम्पूर्ण संयोजनों को नहीं।

(३) सकृदागामीचित्त

इस अवस्था में साधक शेष पांच संयोजनों को समाप्त कर देता है और उसका चित्त कुछ हल्का हो जाता है।

(४) अनगामीचित्त

---

१. मज्झिमनि० १.१

२. मिलिन्द० ४.१.३

३. ये दश संयोजना बन्धन हैं—(१) सक्कायदिट्ठी, (२) विचिकिच्छा, (३) सीलब्बतपरामास, (४) कामराग (५) पटिघ, (६) रूपराग (७) अरूपराग, (८) मान, (९) कौकृत्य एवं (१०) अविद्या।
विशुद्धिमार्ग (हि०) भाग-२, परिच्छेद २२' पृ० २७१

इस दशा में योगी साधक के बाकी पांच संयोजन नष्ट हो जाते हैं और साधक का चित्त पहले की अपेक्षा और अधिक ऋजु हो जाता है। इस तरह साधक का चित्त उपर्युक्त दस अवस्थाओं से हल्का और तेजस्वी हो जाता है फिर भी ऊपर की परियोजनाओं में उसका चित्त भारीं और मन्द बना ही रहता है।

(५) अर्हत् चित्त

इस अवस्था में योगी के सभी आस्रव तथा क्लेश सदा-सदा के लिए क्षीण हो जाते हैं और वह ब्रह्मचर्यवास को पूरा करके सभी प्रकार के भवपाशों का भी व्युच्छेद कर डालता है। फलस्वरूप उसका चित्त अत्यन्त विशुद्ध अथवा अतिनिर्मल बन जाता है।

ध्यान देने योग्य है कि इस अवस्था में चित्त की शुद्धि तो हो ही जाती है लेकिन प्रत्येकबुद्ध की अपेक्षा भारी एवं मन्द ही होती है।

(६) प्रत्येकबुद्धचित्त

इस अवस्था में साधक स्वयं अपना स्वामी होता है और उसे किसी भी आचार्य अथवा गुरु की अपेक्षा नहीं रहती है। यहां उसका चित्त और भी अधिक निर्मल और विशुद्ध होता जाता है और सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति में अग्रसर होता है।

प्रत्येकबुद्ध एकाकी विचरण करता हुआ सम्बोधि को धारण करके परिनिर्वृत्त हो जाता है। इसी से इसे सम्यक्सम्बुद्ध न कहकर प्रत्येकबुद्ध बतलाया गया है।

(७) सम्यक्सम्बुद्ध चित्त

यह साधना की पूर्ण अवस्था है। इसमें साधक सर्वज्ञ हो जाता है, जो दश व्रतों की धारणा करने वाले चार प्रकार के वैशारद्यों, दशबलों एवं अठारह आवेणिक बुद्धधर्मों से युक्त होता है। वह इन्द्रियों को सर्वथा जीत लेता है। यह अवस्था पूर्णतः अचल और शान्त होती है। साधक यहां सर्वज्ञ बन जाता है और परिनिर्वाण का धारक बन कर अन्य सत्त्वों को कल्याण मार्ग में लग जाने का सदुपदेश करता है जबकि प्रत्येकबुद्ध ऐसा नहीं करता। यही दोनों में वैशिष्ट्य है।

इस सन्दर्भ में महायानी विचारधारा को जान लेना भी आवश्यक है। महायान के अनुसार साधना की दश भूमिकाओं अथवा अवस्थाओं तथा पारमिताओं का उल्लेख किया गया है। वे भूमियां हैं[1]—(१) प्रमुदिता, (२) विमला, (३) प्रभाकरी, (४) अर्चिष्मति, (५) सुदुर्जया, (६) अभिमुखी, (७) दूरंगमा, (८) अचला, (९) साधुमती एवं (१०) धर्ममेघा।

(१) प्रमुदिता

इस स्थिति में साधक में जगत् के उद्धार के लिए बुद्धत्व प्राप्त करने का महत्त्वाकांक्षा जाग्रत होती है। इस स्थिति में उसे बोधिसत्त्व कहते हैं। वह चित्त में जैसी बोधि के लिए संकल्प करता है और प्रमुदित होता है। उसकी यही अवस्था प्रमुदिता कहलाती है।

(२) विमला

इस स्थिति में दूसरे प्राणियों को उन्मार्ग से हटाने के लिए स्वयं साधक का ही प्राणातिपात विरमण रूप शील का आचरण करके दृष्टान्त उपस्थित करना होता है। यहां बोधिसत्त्व का चित्त परोपकार-भावना से विमल रहता है।

(३) प्रभाकरी

इसके अन्तर्गत साधक के लिए आठ ध्यान (रूपारूपी ध्यान) और मैत्री आदि चार ब्रह्मविहार[2] की भावनाएं करने का विधान किया गया

---

१. प्रज्ञा पारमिता, भाग-१, पृ० ९५-१०० तथा
दे० बोधिसत्त्वभूमि

२. बृहद्ब्राह्मम्। मैत्र्यादिभावनाया बृहत्फलत्वात्। अतो ब्राह्मविहारा इति। एतानि च मैत्र्यादीन्यप्रमाण सत्त्वावलम्बनत्वादप्रमाणान्युच्यन्ते।
अर्थविनि०, पृ० १45 तथा मिलाइए—
कस्मा पनेता मेत्तीकरुणामुदिता उपेक्खा ब्रह्मविहारा वि वुच्चन्ति? वुच्चते। सेट्ठट्ठेन ताव निद्दोसभावेन चेत्थ ब्रह्मविहारता वेदितब्बा सत्तेसु सम्मापटिपत्तिभावेन हि सेट्ठा एते विहारा। यथा च ब्रह्मानो निद्दोसचित्ता—विहरन्ति इति सेट्ठट्ठेन निद्दोसभावेन च ब्रह्मविहारा ति वुच्चन्ति। विसु० ९.१०५-१०६

है। इसके साथ ही इसमें पहले किए हुए संकल्प के अनुरूप अन्य प्राणियों को दुःख मुक्त करने का प्रयत्न भी किया जाता है।

(४) अर्चिष्मती

प्राप्त गुणों को स्थिर करने के लिए तथा और गुण प्राप्त करने के लिए इस भूमिका परिपालन आवश्यक है। किसी भी प्रकार के दोषों का सेवन न हो और जितने में वीर्य पारमिता की सिद्धि हो उसे अर्चिष्मती भूमिका बतलाया गया है।

(५) सुदुर्जया

सुदर्जया ऐसे ध्यान पारमिता की प्राप्ति को कहते हैं, जिसमें करुणावृत्ति का विशेषकर अभिवर्द्धन और चार आर्यसत्यों का स्पष्ट भान होता है।

(६) अभिमुखी

इनमें महाकरुणा के द्वारा बोधिसत्त्व आगे बढ़ता हुआ अर्हत्व प्राप्त करता है और दश पारमिताओं में से विशेष रूप से प्रज्ञापारमिता उसे यहां पूर्ण करना होती है।

(७) दूरंगमा

सभी पारमिताओं को पूर्णरूप से साधने पर उत्पन्न होने वाली स्थिति का नाम दूरंगमा है।

(८) अचला

साधक इस स्थिति में शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। उसे सांसारिक प्रश्नों का स्पष्ट एवं प्रबुद्धज्ञान रखना पड़ता है जिससे कि उनसे किसी भी प्रकार विचलित होने की सम्भावना न हो।

(९) साधुमती

प्रत्येक जीव के मार्गदर्शन के लिए उस साधक को सत्त्व के कार्य-

कलाप जानने की शक्ति जब प्राप्त हो जाती है तब वह भूमि साधुमती कहलाती है।

(१०) धर्ममेघा

सर्वज्ञत्व उपलब्धि की अवस्था में साधक धर्ममेघा की भूमि में अवस्थित होता है। महायान की दृष्टि से इसी भूमि में पहुंचे हुए साधक को तथागत भी कहा जाता हैं।

इस प्रकार बौद्धयोग के अन्तर्गत योग साधना के विकास को अज्ञानावस्था के क्रमिक ह्रास के सन्दर्भ में देखा जाता है क्योंकि अज्ञान अवस्था को त्याग कर ही ज्ञानप्राप्ति सम्भव है, जो निर्वाणलाभ में अभीष्ट है।

३. जैन योगसाधना का विकास

जैन योग साधना की आधार शिला सम्यग्दर्शन की उपलब्धि है और इसकी चरम परिणति मुक्ति में होती है। इस प्रकार जैन योग-साधना का विकास क्रम हमें तीन श्रेणियों में उपलब्ध होता हैं—(१) सम्यग्दर्शन, (२) सम्यग्ज्ञान और (३) सम्यग्चारित्र।[1]

सम्यक्दर्शन

दर्शन शब्द जैन आगमों में दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ हैं। इसका एक अर्थ हैं—देखना अर्थात् अनाकार ज्ञान और दूसरा अर्थ हैं—श्रद्धा।[2] केवल श्रद्धा ही साधना में कार्यकारी नहीं होती क्योंकि यह मिथ्या भी हो सकती है। यहां श्रद्धा का सम्यक् होना आवश्यक है। इसी कारण आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वों के प्रति साधक के यथार्थ श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन बतलाया है—**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्**।[3]

---

१. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। तत्त्वार्थसूत्र १.१
२. साकारज्ञानं अनाकारं दर्शनम्। तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० ८२
३. (क) तत्त्वार्थसूत्र १.२
   (ख) उत्तराध्ययनसूत्र, २८.१५
   (ग) स्थानांगसूत्रवृत्ति (अभयदेवसूरि) स्थान १

जड़ और चेतन जो मुख्य तत्त्व है उनको, उनके यथार्थरूप में देखना अथवा उनके प्रति स्व-स्वरूप में दृढ़ विश्वास का होना ही सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन योग साधना के विकास के लिए उत्तम एवं मनोज्ञ साधन हैं।

इसका महत्त्व बताते हुए जैनागम आचारांगसूत्र में तो यहां तक कहा गया है कि—सम्यग्दृष्टि साधक पापों का बन्ध नहीं करता।[1] कहीं सम्यग्दर्शन साधक को स्वतः (जन्मान्तरीय उत्तम संस्कारों के प्रभाव से अपने आप ही) हो जाता है और किसी को परतः (सत् शास्त्रों के स्वाध्याय तथा सद्गुरुओं की सत्संगति से) प्राप्त होता है।[2] सम्यग्दर्शन प्राप्त साधक के पांच लक्षण बतलाए गए हैं[3] वे हैं—(१) शम, (२) संवेग, (३) निर्वेद, (४) अनुकम्पा और (५) आस्तिक्य।

(१) शम

उदय में आए हुए कषाय को शान्त करना शम कहलाता है।

(२) संवेग

मोक्ष विषयक तीव्र अभिलाषा का उत्पन्न होना संवेग है।

(३) निर्वेद

सांसारिक विषय भोगों के प्रति विरक्ति अर्थात् उनको हेय समझ कर उनमें उपेक्षाभाव का उदित होना निर्वेद है।

(४) अनुकम्पा

दुःखी जीवों पर दया-भाव रखना, निस्वार्थभाव से उनके दुःख दूर करने की इच्छा और तदनुसार प्रत्यन आदि करना अनुकम्पा है।

---

१. समत्तदंसणिण करेह पावं। आचाराङ्ग १.३.२

२. तन्निसर्गात् अधिगमाद्वा। तत्त्वार्थसूत्र १.३

३. कृपाप्रशमसंवेगनिर्वेदास्तिक्यलक्षणः गुणा भवन्तु यश्चित्ते स स्यात् सम्यक्त्व-भूषितः। गुणस्थान क्रमारोह, श्लोक २६

(५) आस्तिक्य

सर्वज्ञ कथित तत्त्वों के प्रति अश्रद्धा न करना तथा आत्मा एवं लोकसत्ता में पूर्ण विश्वास करना आस्तिक्य है।

आस्तिक्य गुणधारी साधक आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी होता है।[1] अर्थात् इन विषयों के बारे में जैसा सर्वज्ञ ने कहा है, वैसा ही यथातथ्य विश्वास करता हैं।

विशुद्ध सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए उसे २५ मलदोषों का त्याग करना आवश्यक है।[2] सम्यग्दर्शन का अपर नाम सम्यग्दृष्टि भी है। दृष्टि उसको कहते हैं जिससे समीचीन श्रद्धा के साथ बोध हो और असत् प्रवृत्तियों का क्षय होकर सत् प्रवृत्तियां उद्भूत हों।[3]

योगदृष्टि को आधार बनाकर आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगसाधना के विकास को आठ दृष्टियों में विभक्त किया है। ये आठ दृष्टियां हैं—

(१) मित्रा (२) तारा (३) बला (४) दीप्रा
(५) स्थिरा (६) कान्ता (७) प्रभा और (८) परा[4]

इन दृष्टियों में प्रथम चार आद्य दृष्टियां सम्यग्दृष्टि में अन्तर्भूत हो जाती हैं क्योंकि इनमें आत्मा की प्रवृत्ति आत्मविकास की ओर न होकर संसाराभिमुख रहती है अर्थात् जीव का उत्थान एवं पतन होता रहता है। शेष चार दृष्टियां योगदृष्टि में समाहित हैं क्योंकि इनमें साधक की दृष्टि विकासोन्मुख होती है। पांचवी दृष्टि के बाद तो साधक सर्वथा उन्नतिशील बना रहता है, उनके पतन की सम्भावना ही नहीं रहती। इस प्रकार ओघदृष्टि, असत्दृष्टि और योगदृष्टि ये सद्दृष्टियां मानी

---

१. जे आयावई, लोयावई, कम्मावई, किरियावई। आचारांग, २.१.५

२. विशेष के लिए दे० जैन योग सिद्धान्त और साधना, पृ० १०६

३. सच्छ्रद्धासंगतो बोधो दृष्टिरित्यभिधीयते।
असत्प्रवृतिव्याघातात् सत्प्रवृत्तिपदावह:॥ योग दृ० स०, श्लोक १७

४. मित्रातारावला दीप्रास्थिरा कान्ताप्रभा परा।
नामानि योगदृष्टीनां लक्षणं च निबोधता॥ वही, श्लोक १३

गई हैं। दूसरे शब्दों में प्रथम चार दृष्टियों को अवेद्यसंवेद्यपद[1] अथवा प्रतिपाति[2] तथा अंतिम चार दृष्टियों को संवेद्यपद[3] अथवा अप्रतिपाति कहा गया है।

इन आठ दृष्टियों में साधक को किस प्रकार का ज्ञान अथवा विशेषतत्त्व का बोध होता हैं ? आचार्य ने उसको आठ दृष्टियों के द्वारा सोदाहरण यों समझाया है—

(१) तृणाग्नि, (२) कण्डाग्नि (३) काष्ठाग्नि
(४) दीपकाग्नि (५) रत्न की प्रभा (६) नक्षत्र की प्रभा
(७) सूर्य की प्रभा एवं (८) चन्द की प्रभा[4]।

जिस प्रकार इन अग्नियों को प्रभा उत्तरोत्तर तीव्र और स्पष्ट होती जाती है उसी प्रकार इन आठ दृष्टियों में भी साधक का आत्म-बोध स्पष्ट होता जाता है।

पातञ्जल योगदर्शन में प्रतिपादित यम-नियम आदि योग के आठ अंगों तथा खेद, उद्वेगादि आठ दोषों के परिहार[5] का वर्णन भी इन दृष्टियों के प्रसंग में किया गया है। वे आठ दृष्टियाँ हैं—

मित्रादृष्टि

इस दृष्टि में दर्शन की मन्दता अहिंसादि यमों के पालन करने की भावना और देवपूजन आदि धार्मिक क्रियाओं के प्रति लगाव रहता है।[6] यद्यपि साधक को इस दृष्टि में ज्ञान तो प्राप्त हो जाता है, किन्तु उसे

---

१. अवेद्यसंवेद्यपदं यस्मादासु तथोल्वणम्।
पक्षिच्छायाजलचर-प्रवृत्याभमतः परम् ॥ योगदृष्टि०, श्लोक ६७

२. प्रतिपातयुताश्चाऽद्याश्चतस्रो नोत्तरास्तथाः।
सापायऽपि चेतास्ताः प्रतिपातेन नेतराः ॥ वही, श्लोक १९

३. दे० योगदृष्टि समु०, श्लोक ७० पर व्याख्या, पृ० २२

४. तृणगोमयकाष्ठाग्निकणदीपप्रभोपमा।
रत्नतारार्कचंद्राभा क्रमेणेक्ष्वादिसन्निभा ॥ योगावतार द्वात्रिंशिका, २६

५. यमादियोगयुक्तानां खेदादिपरिहारतः।
अद्वेषादिगुणस्थानं क्रमेणैषा सतां मता ॥ योगदृष्टिसमु०, श्लोक १६

६. मित्राद्वात्रिंशिका, श्लोक १

उससे स्पष्ट तत्त्वबोध नहीं होता, क्योंकि उसमें मिथ्यात्व अथवा अज्ञान इतना प्रगाढ़ होता है, जो उसके दर्शन और ज्ञान को दबाये रखता है फिर भी साधक सर्वज्ञ का अन्त:करण पूर्वक नमस्कार करता है तथा औषधिदान, शास्त्रदान, वैराग्य, पूजा, श्रवण-पठन एवं स्वाध्याय आदि क्रियाओं व भावनाओं का पालन व चिन्त्वन करता है। साधक माध्यस्थ इत्यादि भावनाओं का चिन्तन करने और मोक्ष की कारणभूत सामग्री को जुटाते रहने के कारण इस स्थिति को **योगबीज** कहा जाता है।[1]

इस दृष्टि को यद्यपि तृणाग्नि की उपमा दी गयी है फिर भी इसमें साधक अपनी आत्मा के विकास की इच्छा तो करता ही है, साथ ही पूर्वजन्म के संस्कारों अथवा कर्मों के कारण वैसा नहीं हो पाता।

तारादृष्टि

इसमें साधक मोक्ष की कारणभूत सामग्रियों अर्थात् योग-बीज की पूर्ण रूप से तैयारी करके सम्यग्बोध प्राप्त करने में योग्यता हासिल कर लेता है। इसके अतिरिक्त वह यहां शौच आदि नियमों का भी पालन करते हुए कार्य करने में खेद-खिन्न नहीं होता बल्कि उसकी तात्त्विक जिज्ञासा जाग्रत होती जाती है[2] जिससे साधक कण्डाग्नि की तरह क्षणिक सत्य का अनुसन्धाता बन जाता है। इस दृष्टि में गुरु सत्संग के कारण साधक की अशुभ प्रवृत्तियां बन्द हो जाती हैं और संसार सम्बन्धी कोई भी भय उसे नहीं रहता। फलत: अनजाने में भी वह धार्मिक कार्यों में अनुचित व्यवहार नहीं करता।[3]

---

१. (क) करोति योगबीजानामुपादानमिह स्थितः।
अवन्ध्यमोक्षहेतूनामिति योगविदोः विदुः॥ योगदृ० समु०, २२

(ख) जिनेषु कुशलं चित्तं तन्नमस्कार एव च।
प्रणामादि च संशुद्धं योगबीजमुत्तम्॥ वही, श्लोक २३

(ग) आचार्यादिष्वपि ह्येतद्विशुद्धं भावयोगिषु।
वैय्यावृत्त्यं च विधिवच्छुद्धाशयविशेषतः॥ वही, श्लोक २६

(घ) लेखना पूजना दानं श्रवणं वाचनोद्ग्रहः।
प्रकाशनाथ स्वाध्यायश्चिन्ता भावनेति च॥ वही, श्लोक २८

२. तारायां तु मनाक् स्पष्टं नियमश्च तथाविधः।
अनुद्वेगो हितारम्भे जिज्ञासा तत्त्वगोचरा॥ योगदृष्टि समु०, श्लोक ४१

३. भयं नातीव भवजं कृत्यहानिर्न चोचिते।
तथाऽनाभोगतोऽप्युच्चैर्न चाप्यनुचितक्रिया॥ वही, श्लोक ४५

वह अपने कार्यों को इतनी सावधानी से करता है कि उसे अपने धार्मिक अनुष्ठान व्रत, पूजा आदि के द्वारा दूसरों को जरा भी कष्ट नहीं होने पाता।[1] इस प्रकार साधक वैराग्य की तथा संसार की असारता सम्बन्धी योग-कथाओं को सुनने की इच्छा रखते हुए भी महनीय जनों के प्रति समताभाव के साथ उसका सदैव आदर एवं सम्मान करता हैं।[2]

यदि कहीं पहले से ही उसके मन में योगी, संयमी अथवा साधु आदि के प्रति अनादर के भाव होते हैं तब भी वह ऐसी स्थिति में अनादर और द्वेष के बदले सत्कार और स्नेह भरी सद्भावना का ही व्यवहार करता है। साधक संसार की विविधता तथा मुक्ति के सम्बन्ध में चिन्तन मनन करने में असमर्थ होकर भी सर्वज्ञ द्वारा निर्दिष्ट अथवा उपदिष्ट कथनों पर श्रद्धा रखता है।[3]

इस अवस्था में साधक को सम्यग्ज्ञान न होने से उपयोगी-अनुपयोगी पदार्थों की पहचान नहीं हो पाती। इसलिए वह अनात्मभाव को आत्मस्वरूप समझ बैठता है। इस प्रकार इस दृष्टि में साधक योग-लाभ प्राप्त करने की उत्कट आकांक्षा रखते हुए भी अज्ञान के कारण अनुचित कार्यों में लगा रहता है। तात्पर्य यह है कि सत्कर्म में लगे रहने पर भी साधक में अशुभ प्रवृत्तियां बनी रहती हैं।

बलादृष्टि

इस दृष्टि में साधक सुखासनयुक्त होकर काष्ठाग्नि जैसा तेज एवं स्पष्ट दर्शन प्राप्त करता है। उसे तत्त्वज्ञान के प्रति अभिरुचि उत्पन्न होती है तथा उसको योगसाधना में किसी भी प्रकार का उद्वेग नहीं रह जाता।[4] इसमें साधक वैसे ही आनन्दानुभूति करता है जैसे सुन्दर युवक

---

१. कृत्येऽधिकेऽधिकगते जिज्ञासा लालसान्विता।
तुल्य निजे तु विकले संत्रासो द्वेषवर्जितः॥ वही, श्लोक ४६

२. भवत्यस्यामविभिन्नाप्रीतियोग कथासु च।
यथाशक्त्युपचारश्च बहुमानश्च योगिषु॥ ताराद्वात्रिंशिका, श्लोक ६

३. दुःखरूपो भवः सर्वं उच्छेदोऽस्य कुतः कथम्।
चित्रा सतां प्रवृत्तिश्च सा शेषा ज्ञायते कथम॥ योगदृटि समु०, श्लोक ४७

४. सुखासनसमायुक्तं बलायां दर्शनं दृढं।
परा च तत्त्वशुश्रूषा न क्षेपो योगगोचरः॥ वही, श्लोक ४९

सुन्दरी युवती के साथ नाच-गाना सुनने में दत्तचित्त होकर अतीव आनन्द को अधिगत करता है, वैसे ही योगी भी शास्त्र-श्रवण व देव-गुरु की पूजादि में उत्साह एवं आनन्द की प्राप्ति करता है।[1]

पहली दो दृष्टियों की अपेक्षा इस दृष्टि में साधक के मन की स्थिरता सुदृढ़ होती है। कारण यह है कि चारित्र पालन का अभ्यास करते-करते साधक की वृत्तियां एकाग्र हो जाती हैं और तत्त्वचर्चा में भी वह स्थिर हो जाता है। यहाँ तक कि साधक विविध आसनों का सहारा लेकर चारित्र विकास की सभी क्रियाओं को अप्रमत्तभाव से सम्पन्न करता है। इससे उसकी बाह्य पदार्थों के प्रति तृष्णा कम हो जाती है।[2] धार्मिक कार्यों में वह पूर्णतया तल्लीन हो जाता है। उसे तत्त्वचर्चा सुनने को मिले अथवा न मिले किन्तु उसकी भावना निर्मल एवं इतनी अधिक पवित्र हो जाती है कि उसकी इच्छामात्र से ही उसका कर्मक्षय होने लगता है[3] और शुभ परिणामों के कारण समताभाव का विकास होता है। इसी के फल स्वरूप वह अपनी प्रिय वस्तुओं पर भी आग्रह नहीं रखता।[4] साधक को जीवन यापन के लिए जैसा कुछ मिल जाता है वह उससे ही सन्तुष्ट हो जाता है। इस प्रकार इस दृष्टि में साधक की प्रवृत्तियां प्रशान्त हो जाती हैं, तथा सुख देने वाले आसनों से मन स्थिर हो जाता है और समताभाव का उद्रेक हो जाता है जिससे आत्म-विशुद्धि बढ़ जाती है।

दीप्रादृष्टि

यह दृष्टि प्राणायाम एवं तत्त्वश्रवण से संयुक्त होती है तथा सूक्ष्म भावबोध से रहित भी होती है। इसमें उत्थान नामक दोष आता है

---

१. कान्तकान्तासमेतस्य दिव्यगेयश्रुतौ तथा।
यूनो भवति शुश्रुषा तथा स्यां तत्त्वगोचरा ॥ वही, श्लोक ५२

२. असाधुतृष्णात्वरयोरभावत्वात् स्थिरं सुखं चासनमाविरस्ति।
अध्यात्मतत्त्वालोक, ८९

३. श्रुताभावेऽपि भावेऽस्याः शुभभावप्रवृत्तितः।
फलं कर्मक्षयाख्यं स्यात् परबोधनिबन्धनम् ॥ योगदृष्टि समु०, श्लोक ५४

४. परिष्कारगतः प्रायो विघातोऽपि न विद्यते।
अविघातश्च सावद्यपरिहारान्महोदयः ॥ वही, श्लोक ५६

अर्थात् इसमें चित्त की शान्ति अंशमात्र भी नहीं रहती।[1] दीपक के प्रकाश की भांति इस दृष्टि में साधक की आस्था दृढ़ और स्थिर होती जाती है फिर भी जैसे हवा के तीव्र झोंके से दीपक बुझ जाता है वैसे ही इस दृष्टि में भी साधक तीव्र मिथ्यात्व के उदय के कारण श्रद्धाहीन हो जाता है। योगिक अनुष्ठानों से इस दृष्टि में साधक शारीरिक और मानसिक स्थिरता को पाता है। जिस प्रकार प्राणायाम न केवल शरीर को ही दृढ़ करता है अपितु आन्तरिक नाड़ियों के साथ-साथ मन को भी शुद्ध करता है। उसी प्रकार इस दृष्टि में रेचक प्राणायाम की तरह बाह्य परिग्रहादि विषयों में ममत्व बुद्धि तो रहती है किन्तु पूरक प्राणायाम की तरह विवेक शक्ति में भी वृद्धि होती है और कुंभक प्राणायाम की तरह ज्ञान केन्द्रित हो जाता हैं। इसे भाव प्राणायाम भी कहा गया है।[2] इस पर जिस साधक ने अधिकार प्राप्त कर लिया हैं वह बिना संशय के प्राणों से भी अधिक धर्म साधना को महत्त्व देता है। वह धर्म के लिए प्राणों का त्याग करने में भी संकोच नहीं करता[3] अर्थात् इस दृष्टि में साधक की धार्मिक आस्था बहुत ही सुदृढ़ हो जाती है।

इस दृष्टि में यद्यपि साधक का चारित्रिक विकास होता है फिर भी वह अपूर्ण ही रहता है। वह लौकिक पदार्थों की अनित्यता को अच्छी तरह पहचान लेता है। इसी से वह इनका त्याग कर आत्मा वा परमात्मा के स्वरूप को जानने के लिए गुरुओं अथवा मुनियों के पास जाने को उत्सुक रहता है किन्तु तीव्र मिथ्यात्व के कारण वह कर्म करने में समर्थ नहीं हो पाता और न ही वह पूर्ण सम्यग्दर्शन ही प्राप्त कर पाता है। अतः यह दृष्टि मिथ्यात्वमय ही होता है।[4]

इन चार दृष्टियों में साधक को सम्यग्ज्ञान नहीं हो पाता इसीलिए इन्हें ओघदृष्टि कहा जाता है। यदि तत्त्वज्ञान हो भी जाए तो वह

१. प्राणायामवती दीप्रा न योगोत्थानवत्यलम्।
तत्त्वश्रवणसंयुक्ता सूक्ष्मबोधविवर्जिता॥ वही, श्लोक ५७

२. रेचनाद्बाह्यभावनामन्तर्भावस्य पूरणात्।
कुंभनान्निश्चितार्थस्य प्राणायामश्च भावतः॥ ताराद्वात्रिंशि०, श्लोक १६

३. प्राणेभ्योऽपि गुरुधर्मः सत्यामस्यामसंशयम्।
प्राणांस्त्यजति धर्मार्थं न धर्मं प्राणसंकटे॥ योगदृष्टिसमु०, श्लोक ५८

४. मिथ्यात्वमस्मिंश्च दृशां चतुष्केऽवतिष्ठते ग्रन्थ्यविदारणेन।
अध्यात्मतत्त्वालोक, १०८

अस्पष्ट ही रहता है।[1]

मिथ्यात्व की इसी सघनता के कारण इन दृष्टियों के जीवों को **अवेद्य-संवेद्यपद** कहा गया है[2] क्योंकि अज्ञानवश जीव अनेक अनुचित कार्यों के करने से दुःखी होता है। दूसरे शब्दों में इसे भवाभिनन्दी भी कहा गया है। इस अवस्था में जीव अपरोपकारी, मत्सरी, भयभीत, मायावी, संसार के प्रपंचों में रत और प्रारम्भिक कार्यों में निष्फल होता है।[3]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि ये चार दृष्टि यद्यपि मिथ्यात्व अवस्था की हैं जिसमें साधक यम, नियम आदि तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानों के विधिवत् पालन करने से शान्त, भद्र, विनीत, मृदु तथा चारित्र का विकास करते हुए मिथ्यात्व को घटाता है और योग साधना में प्रगतिशील होता है।[4]

स्थिरादृष्टि

इस दृष्टि में अप्रतिपाति सम्यग्दर्शन होता है। इस अवस्था को प्राप्त करते ही साधक ऊर्ध्वगामी हो जाता है। इसमें प्रत्याहार की साधना पूर्ण की जाती है। साधक स्व-स्व विषयों के सम्बन्ध से विरत होकर चित्त को स्वरूपाकार करता है। साधक की सभी क्रियाएं निर्भ्रान्त, निर्दोष और सूक्ष्मबोधयुक्त होती हैं।[5]

इस दृष्टि में साधक की मिथ्यात्व ग्रंथी का भेदन होने से मानसिक स्थिति सन्तुलित रहती है, फलतः उसे संसार के भोग-विलास क्षणभंगुर

---

१. नेतद्वतोऽयं तत्त्वे कदाचिदुपजायते ॥ योगदृष्टिसमु०, श्लोक ६८

२. दे० अध्यात्मतत्त्वालोक, श्लोक १०६

३. क्षुद्रोलाभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठः ।
अज्ञो भवाभिनन्दीस्यान्निष्फलारम्भसंगतः ॥ योगदृष्टिसमु०, श्लोक ७६

४. शान्तो विनीतश्च मृदुप्रकृत्या भद्रस्तथा योग्यचारित्रशाली ।
मिथ्यादृगप्युच्यत एव सूत्रे विमुक्तिपात्रंस्तुतधार्मिकत्वः ॥
अध्यात्मतत्त्वालोक १२०

५. स्थिरायां दर्शनं नित्यं प्रत्याहारवदेव च ।
कृत्यमभ्रान्तमनर्थं सूक्ष्मबोधसमन्वितम् ॥ योगदृष्टिसमु०, श्लोक १५४

प्रतीत होते हैं, जिनसे वह मुक्त होकर चारित्र के विकास पर ही अपनी शक्ति केन्द्रित करता है और एक मात्र आत्मा को ही उपादेय मानता है।[1] इसको उपमा रत्न की प्रभा से दी गयी है, जो देदीप्यमान, शान्त, स्थिर और सौम्य होती है।

कान्तादृष्टि

इसमें साधक को सम्यग्दर्शन अविच्छिन्न रूप से रहता है। जैसे कान्ता (पतिव्रता स्त्री) घर के सभी कार्य करते हुए भी हृदय में पति का स्मरण करती रहती हैं, ऐसे ही कान्तादृष्टि का साधक दूसरी क्रियाएं करता हुआ भी सदैव आत्मानुभूति में निमग्न रहता है। चित्त परोपकार एवं सद्विचारों से ओतप्रोत होता है, जिसमे चित्त की सभी विफलताएं नष्ट हो जाती हैं।[2]

इसमें साधक की धारणा और सुदृढ़ हो जाती है। पूर्व दृष्टियों में ग्रंथि का भेद हो जाने से साधक यहां अपूर्व चारित्र का विकास करता है। कषायवृत्ति उपशान्त हो जाती है तथा उसकी प्रत्येक क्रिया अहिंसामय बन जाती है। सहिष्णुता के परिवर्धन से साधक क्षमाशील हो जाता है इससे वह सबका प्रियपात्र बन जाता है।[3] इसकी उपमा नक्षत्रों के आलोक से दी गयी है जिससे कि वह शान्त स्थिर और चिरप्रकाशयुक्त हो जाता है।

प्रभादृष्टि

इस दृष्टि में साधक योग के सातवें अंग 'ध्यान' की साधना करता है इससे उसका चित्त एकाग्र हो जाता है। शरीर निरोग और कान्तिमान होता है। उसमें प्रतिपत्ति तथा शम गुणों का आविर्भाव हो जाता है।[4]

---

१. एवं विवेकिनो धीराः प्रत्याहारपरास्तथा।
धर्मबोधापरित्याग-यत्नवन्तश्च तत्त्वतः॥ योगदृष्टि समु०, श्लोक १५८

२. कान्तायमेतन्येषां प्रीतये धारणा परा।
अतोऽत्र नान्यमुन्नित्यं मीमांसाऽस्ति हितोदया॥ वही, श्लोक १६२

३. अस्यां तु धर्ममाहात्म्यात्समाचारविशुद्धितः।
प्रियो भवति भूतानां धर्मैकाग्रमनास्तथा॥ वही, श्लोक १६३

४. ध्यानप्रिया प्रभावेन नास्यां रुगत एव हि
तत्त्वप्रतिपत्तियुता विशेषेण शमान्विता॥ योगदृष्टि समु० श्लोक १७०

ऐसी स्थिति में प्राणियों के प्रति समता और असंगानुष्ठान उदित होता है, जिससे वह मोक्षमार्ग पर तीव्रता से अग्रसर हो जाता है।[1] यहां साधक परम वीतरागभाव को प्राप्त करने की ओर बढ़ता है। इसीलिए इसे प्रशान्तवाहिता विसंभाग परिक्षय, शिववर्त्म और ध्रुवाध्वा भी कहा गया है।[2] इसकी उपमा सूर्य के प्रकाश से दी गयी है जिससे वह बहुत सुस्पष्ट और तेजमय हो जाता है।

परादृष्टि

इस दृष्टि में साधक समाधिनिष्ठ सर्व संगों से रहित, आत्म-प्रवृत्तियों में जागरूक तथा उत्तीर्णशयी होता है।[3] वस्तुतः यह सर्वोत्तम तथा अन्तिम अवस्था है। इसमें परमतत्त्व का साक्षात्कार होता है। **पातञ्जलयोगदर्शन** में कथित योग के अन्तिम अंग असम्प्रज्ञात समाधि की यहां सिद्धि हो जाती है।

साधक सब इच्छाओं से मुक्त हो जाता है। मोक्ष तक की इच्छा उसे नहीं रहती क्योंकि जो भी इच्छाएं होती हैं वे सभी कषाय-मूलक होती हैं। इस प्रकार अनाचार तथा अतिचार से वर्जित होने के कारण साधक क्षपक अथवा उपशमश्रेणी द्वारा आत्मविकास करता है।[4] आठवें गुण-स्थान के द्वितीय चरण से योगी प्रगति करते हुए क्षपक श्रेणी द्वारा चार घाति कर्मों को नष्ट करके केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।[5]

---

१. सत्प्रवृत्तिपदं चेहाऽसंगानुष्ठानसंज्ञितम्।
महापथप्रयाणं यदनागामिपदावहम्॥ वही, श्लोक १७५

२. प्रशांतवाहितासंज्ञं विसंभागपरिक्षयः।
शिववर्त्मध्रुवाध्वेति योगिभिर्गीयते ह्यदः॥ वही, श्लोक १७६

३. समाधिनिष्ठा तु परा, तदासंगविवर्जिता।
सात्मीकृतप्रवृत्तिश्च तदुत्तीर्णाशयेति च॥ वही, श्लोक १७८
तथा मिला०—तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिवसमाधिः॥ पा.यो. ३.३

४. निराचारपदो ह्यस्यामतिचारविवर्जितः।
आरूढारोहणाभावगतितस्वस्य चेष्टितम्। यो० दृ०, समु० १७९

५, द्वितीयाऽपूर्वकरणे मुख्योऽयमुपजायते
केवलश्रीस्ततश्चास्य निःसपत्नासदोदया॥ यो० दृ० समु० १८२

इस प्रकार वह साधक से सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता हैं। इस क्रम में योगसन्यास नामक योग को प्राप्त करता है :[1] इसी से अन्तिम समय में शैलेशी अवस्था प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त करता है।

इन आठ दृष्टियों में **पातञ्जलयोगदर्शन** में वर्णित अष्टांग योग का भी समावेश हो जाता है। इसके साथ ही आचार्य उमास्वाति द्वारा बतलाए गए ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी इनमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं।

यहां पर यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक होगा कि जैन आगम ग्रंथों में वर्णित चौदह गुणस्थानों और आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा कृत इस वर्गीकरण में कोई भिन्नता नहीं है कारण कि प्रथम चार दृष्टियों में प्रथम गुणस्थान, पांचवीं-छठी दृष्टि में पांचवा-छठा गुणस्थान, सातवीं दृष्टि में सातवां और आठवां गुणस्थान तथा शेष ९ से १४ तक के गुणस्थानों का आठवीं दृष्टि में समावेश हो जाता है।

इसी प्रकार योगबिन्दु में उल्लिखित योग साधना के विकास की पांच भूमिकाएं भी इन्हीं गुणस्थानों अथवा आठ दृष्टियों में अन्तर्भूत हो जाती हैं। वे **योगबिन्दु** में वर्णित पांच भूमियां इस प्रकार हैं।[2]

(१) अध्यात्म
(२) भावना
(३) ध्यान
(४) समता
(५) वृत्तिसंक्षय

इनका विस्तृत विश्लेषण आगे किया जायेगा।

(ख) योग का अधिकारी

योग के अधिकारी की चर्चा से पूर्व आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगी की विस्तृत चर्चा की है। उनके अनुसार योगी उसे कहते हैं जो अपने

---

१. क्षीणदोषोऽथ सर्वज्ञ सर्वलब्धिफलान्वितः।
परं परार्थं सम्पाद्य ततो योगान्तमश्नुते ॥ वही, श्लोक १८५

२. अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद् योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्। यो०वि०, श्लोक ३१

इष्ट-इच्छित लक्षित नगर की ओर यथाशक्ति गमन करने वाला पुरुष विशेष है। इसे इष्टपुर-पाथिक भी कहा जाता है, इसको जिसने गुरु-विनय आदि की परिपूर्ण उपलब्धिरूप योग को तो आत्मसात चाहें नहीं किया है फिर भी उस पर जो यथाशक्ति प्रगतिशील है, उसे ही योगी कहा जाता है।[1]

योगियों के भेद

आचार्य हरिभद्रसूरि ने चार प्रकार के योगी बतलाए हैं—(१) कुलयोगी, (२) गोत्रयोगी, (३) प्रवृत्तचक्रयोगी और (४) निष्पन्न योगी।[2]

(१) कुलयोगी

जो योगियों के कुल में जन्मे हैं, स्वभावतः योगधर्मी हैं और जो योगमार्ग का अनुशरण करने वाले हैं, वे **कुलयोगी** कहलाते हैं।[3] वे किसी से भी द्वेष नहीं रखते, देव गुरु एवं धर्म उन्हें स्वभाव से ही प्रिय होते हैं तथा ये दयालु, विनम्र, प्रबुद्ध और जितेन्द्री होते हैं।[4]

(२) गोत्रयोगी

आर्यक्षेत्र के अन्तर्गत भारतभूमि में जन्म लेने वाले मनुष्य जो **भूमिभव्य** कहे जाते हैं, उन्हें **गोत्रयोगी** कहा जाता है।[5]

इसका कारण यह है कि भारतभूमि में योगसाधना के अनुकूल साधन और निमित्त आदि सहज ही उपलब्ध होते रहे हैं परन्तु केवल

---

१. अद्धेणं गच्छंतो सम्मयं सत्तीए इट्ठपुरपहिओ।
जह तह गुरुविणयाइसू पयट्ठओ एत्थ जोगित्ति॥ यो०शा०, गा० ७

२. कुलादियोगभेदेन चतुर्धा योगिनो सतः।
अतः परोपकारोऽपि लेशतो न विरुध्यते॥ यो० दृ० समु०, श्लोक २०८

३. ये योगिनां कुले जातास्तद्धर्मानुगताश्च ये।
कुलयोगिन उच्यन्ते गोत्रवन्तोऽपि नापरे॥ वही, श्लोक २१०

४. सर्वत्राऽद्वेषिणश्चैते गुरुदेवद्विजप्रियाः।
दयालवो विनीताश्च बोधवन्तो यतेन्द्रियाः॥ वही, श्लोक २११

५. दे० जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० ७१

भूमि की भव्यता और साधनों की सुलभता से ही योगसाधना कीं सिद्धि नहीं की जा सकती, वह तो साधक की अपनी भव्यता, योग्यता और सुपात्रता से ही सिद्ध होती है किन्तु गोत्रयोगी में ऐसी योग्यता तथा सुपात्रता नहीं होती बल्कि साधनों के सहज रूप ही प्राप्त होने पर भी वह यम-नियम तक का पालन नहीं करता। उसकी प्रवृत्तियां यहां संसाराभिमुखी हो जाती हैं। अतः ऐसे मनुष्य को योग का अधिकारी नहीं माना जा सकता।

(२) प्रवृत्तचक्रयोगी

जैसे चक्र के किसी भाग पर दण्ड को साध कर घुमा देने से वह पूरा का पूरा घूमने लगता है वैसे ही जिन मनुष्यों के किसी भी अंग से योगचक्र का स्पर्श हो जाता है तो वे योग में प्रवृत्त हो जाते हैं और उन्हें इसी कारण **प्रवृत्तचक्रयोगी** कहा जाता है।[1]

वे यम के चार[2] भेदों में से इच्छायम और प्रवृत्तियम को साध चुके होते हैं तथा स्थिरयम और सिद्धियम को साधने में प्रयत्नशील भी रहते हैं। यह **प्रवृत्तचक्रयोगी** आठ गुणों से युक्त होता है, वे गुण हैं[3]—

(१) शुश्रूषा

सत् तत्त्व सुनने की तीव्र अभिलाषा **शुश्रूषा** कहलाती है।

(२) श्रवण

अर्थ का मनन-अनुसन्धान करते हुए सावधानी पूर्वक वीतरागवाणी को सुनने का नाम **श्रवण** है।

(३) ग्रहण

सुने हुए को अधिग्रहीत करना **ग्रहण** कहलाता हैं।

---

१. प्रवृत्तचक्रास्तु पुनर्यमद्वयसमाश्रयाः।
शेषद्वयार्थिनोऽत्यन्तं शुश्रूषादिगुणान्विताः॥ वही, श्लोक २१२

२. यमाश्चतुर्विधा इच्छाप्रवृत्ति स्थैर्यसिद्धयः। योगभेद द्वात्रिंशिका, श्लोक २५

३. योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक २१२ पर संस्कृत टीका : अत एवाह शुश्रूषा-श्रवणग्रहणधारणविज्ञानेहापोहतत्त्वाभिनिवेशगुणयुक्ताः।

(४) धारण

ग्रहण किए हुए संस्कारों का चित्त में स्थिर होना धारण है।

(५) विज्ञान

यहां विज्ञान का अर्थ है—विशेषज्ञान अर्थात् पहले अवधारण किए हुए बोध को दृढ़ करना विज्ञान है।

(६) ईहा

चिन्तन, मनन, विमर्श एवं शंका समाधान करना ईहा कहलाती है।

(७) अपोह

तर्क-वितर्क के बाद बाध अंशक के निवारण का नाम अपोह है।

(८) तत्त्वाभिनिवेश

अन्तःकरण में तत्त्व का निर्धारण होना तत्त्वाभिनिवेश है।

योगी के तीन अवंचक होते हैं—(१) योगावंचक (२) क्रियावंचक (३) फलावंचक। प्रवृत्तचक्रयोगी इन तीनों को ही प्राप्त कर लेता है। इनका फल जो अमोघ होता है वही तृतीय फलावंचक है।[1]

प्रवृत्तचक्रयोगी सर्वप्रथम योगावंचक को धारणा करता है और फिर उसे शेष दोनों अवंचक भी प्राप्त हो जाते हैं।[2]

प्रवृत्तचक्रयोगी अपनी आत्मा की उन्नति के लिए यम-नियमों का पालन करता है तथा रागद्वेष के सोपानों को एक के बाद एक पार करता जाता है।

(४) निष्पन्नयोगी

जिसका योग निष्पन्न हो चुका होता है अथवा पूर्ण हो गया होता है वह निष्पन्नयोगी कहलाता है। ऐसा योगी सिद्धि के अति निकट होता

---

१. क्रियायोगफलाख्यं यत् श्रूयतेऽवंचकत्रयम्।
साधूनाश्रित्य परममिषुलक्ष्यक्रियोपमम्॥ योगदृष्टिसमुच्चय, श्लोक ३४

२. आद्यावञ्चकयोगाप्त्या तदन्यद्वयलाभिनः।
एतेऽधिकारिणो योगप्रयोगस्येति तद्विदः॥ वही, श्लोक २१३

है इसलिए उसे धर्मव्यापार को भी कोई आवश्यकता नहीं रहती। उसकी प्रवृत्ति सहज रूप में धर्ममय ही बनी रहती है।[1]

योग का अधिकारी

अन्तिम पुद्गल परावर्त में स्थित शुक्ल पाक्षिक-मोहनीय कर्म के तीव्र भाव से रहित, भिन्न ग्रंथि अर्थात् जिसकी मोह प्रसूत कार्मिक ग्रंथि टूट गयी है, जा चारित्र पालन के नथ पर समारुढ़ है, वही योग का अधिकारी है।[2]

योगाधिकारी के भेद

योगबिन्दु के अनुसार योग के अधिकारी साधक दो प्रकार के होते हैं—अचरमावर्ती तथा चरमावर्ती।

(१) अचरमावर्ती

इस साधक पर मोह आदि परभावों का अत्यधिक प्रभाव होता है। अतः उसकी प्रवृत्ति घोर सांसारिक, विवेक रहित एवं अध्यात्मिक भावनादि क्रिया कलापों से विमुख होती है।[3] सांसारिक पदार्थों में लोभ, मोह के कारण ही जीव को **भवाभिनन्दी** कहा गया है। यद्यपि अचरमावर्ती अथवा भवाभिनन्दी जीव धार्मिक व्रत नियमों का पालन-अनुष्ठान आदि करता है किन्तु यह सब श्रद्धाविहीन होता है। सद्धर्म एवं लौकिक कार्य भी वह कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि की कामना से करता है। इस दृष्टि से इसे **लोकपंक्तिकृतादर** भी कहा गया है।[4]

---

१. जैन योग सिद्धान्त और साधना, पृ० ७९

२. (क) चरमे पुद्गलावर्ते यतो यः शुक्लपाक्षिकः।
भिन्नग्रन्थिश्चरित्री च तस्यैवैतदुदाहृतम्॥ योगबिन्दु, श्लोक ७२

(ख) अहिगारी पुण एतथं विण्णेओ अपुणबंधगाइ त्ति।
तह तह नियत्तमयई अहिगारोऽणेगमेओ त्ति॥ यो० श०, गा० ९

३. प्रदीर्घमवसद्भावान्मालिन्यातिशयात् तथा।
अतत्त्वाभिनिवेशाच्च नान्येष्वन्यस्य जातुचित्॥ यो० बि०, श्लोक ७३

४. भवाभिनन्दी प्रायस्त्रिसंज्ञा एवं दुःखिताः।
केचित् धर्मवृतोऽपि स्युर्लोकपक्तिकृतादराः॥ वही, श्लोक ७६ तथा दे० ८८

ऐसी भावना वाले जीव की स्थिति कभी स्थिर नहीं रहती और आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह में लिप्त रहने के कारण वह सदा दुःखी एवं संतप्त रहता है। वह सदा दूसरों की बुराइयां एवं प्रतिघातों में लगा रहता है। इस प्रकार वह जीव क्षुद्रवृत्ति, अपरोपकारी, भयभीत ईर्ष्यालु, मायाचारी और मूर्ख होता है।[1] ऐसे स्वभाव वाले साधक भले ही यम-नियमों का पालन करे किन्तु अन्तःकरण की शुद्धि के अभाव में वे योगी नहीं हो सकते। वे भी योग के अधिकारी नहीं हो सकते, जो लौकिक प्रतिष्ठा हेतु अथवा लौकिक प्रदर्शन अथवा आकर्षण के भाव से योग साधना में प्रवृत्त होते हैं।

(२) **चरमावर्ती**

वस्तुतः योग साधना का प्रारम्भ यहीं से होता है।[2] 'चरमावर्त' में (चरम + आवर्त) इन दो शब्दों का मेल है। चरम का अर्थ है—अन्तिम और आवर्त का अर्थ है—भंवर, चक्र, किनारा, पुद्गलों का (आवर्त)। इस प्रकार इस भंवर अर्थात् आवर्त में विद्यमान साधक **चरमावर्ती** कहलाता है।

इसमें साधक स्वभाव से मृदु, शुद्ध तथा विशुद्ध होता है।[3] इस पर न्यून मोह का घेरा प्रगाढ़ नहीं होता। मिथ्यात्व की मलिनता भी अत्यन्त होती है। वह शुक्ल पाक्षिक होता है और उसका ग्रंथिभेद भी हो चुका होता है।[4] उसका संसार परिभ्रमण बहुत ही थोड़ा, केवल बिन्दु मात्र संसार चक्र अवशिष्ट रहता है।[5] साधक समस्त आन्तरिक भावों से

---

१. क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठः।
अज्ञो भवाभिनन्दी स्यान्निष्फलाम्यसंगतः॥ वही, श्लोक ८७

२. दे० योगशतक, परिशिष्ट, पृ० १०६

३. नवनीतादिकल्पस्तच्चरमावर्त इष्यते।
अत्रैवविमलो भावो गोपेन्द्रोऽपि यदभ्यधात॥ योगलक्षुद्वा०, श्लोक १८

४. चरमे पुद्गलावर्ते, यतो यः शुक्लपाक्षिकः।
भिन्न ग्रन्थिश्चरित्री च तस्यैवेतदुदाहृतम्॥ योगबिन्दु, श्लोक ७२

५. चरमावर्तिनो जन्तोः सिद्धेरासन्नता ध्रुवम्।
भूयांसोऽमी व्यतिक्रान्तास्तेष्वेको बिन्दुरम्बुधौ॥
मुक्त्यद्वेषप्राधान्य द्वात्रिंशिका, श्लोक २८
(जैन योग सिद्धान्त और साधना, पृ० ६५ पर उद्धृत)

परिशुद्ध होकर जिन धार्मिक क्रिया एवं अनुष्ठानों को करता है, उन्हें जैन परम्परा में योग माना गया है।[1]

चरमावर्त का साधक आध्यात्मिक उत्थान की ओर अग्रसर होते हुए समता की प्राप्ति करता है। जहां उसे प्रिय-अप्रिय, सुन्दर-असुन्दर से मोह-द्वेष नहीं रहता, बल्कि उसके सभी प्रलोभन एवं मिथ्यात्व समाप्त हो जाते हैं।

योग के सूक्ष्म ज्ञाता महर्षि पतञ्जलि ने भी योगाधिकारी पर चिन्तन किया है। आपके अनुसार ये अजिकारी दो प्रकार के होते हैं— भवप्रत्यय योगाधिकारी और उपायप्रत्यय योगाधिकारी। इसके बाद उन्होंने पुनः भवप्रत्यय के भी दो[2] भेद किए हैं—(१) विदेह और (२) प्रकृतिलय। भोजवृत्तिकार के अनुसार जो योगी वितर्कानुगत तथा विचारानुगत भूमि में प्रविष्ट होकर वहां प्राप्त आनन्दातिरेक को ही मोक्ष मानते हैं, वे विदेहयोगी कहे जाते हैं।[3]

इसके विपरीत जो साधक अस्मितानुगत समाधि के चित्त में उद्भूत अस्मितावृत्ति को आत्मा मान कर स्वयं को कृतार्थ मानने लगते हैं, उन्हें प्रकृतिलययोगी बतलाया गया है।[4]

इन दोनों श्रेणो के योगी वितर्कानुगत तथा विचारानुगत समाधि में पंच महाभूतों, इन्द्रियों और पांच सूक्ष्मों का साक्षात्कार कर लेने के कारण शरीर से आत्माध्यास छोड़ चुके होते हैं, किन्तु वास्तविक आत्म-दर्शन से वंचित होने से वे मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते। **सांख्यदर्शन** के निम्न वचनों का भी यही अभिप्राय सिद्ध होता है कि आनन्द की प्रगटता मात्र मुक्ति नहीं है—**नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिः विधर्मत्वात्**[5]। क्योंकि कारण

१. दे० योगलक्षण द्वात्रिंशिका, श्लोक २२

२. भवप्रत्ययो विदेशप्रकृतिलयानाम्। पा० योगसूत्र, १.१९

३. दे० पातंजलयोग सूत्र एक अध्ययन, पृ० १४८

४. यत्रान्तर्मुखतया प्रतिलोम परिणामे प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रं अवभाति साऽस्मिता। अस्मिन्नेव समाधौ ये कृतपरितोषाः परं परमात्मानं पुरुषं न पश्यन्ति, तेषां चेतसि स्वकारणे लयमुपाये, प्रकृतिलया इत्युच्यन्ते। (भट्टाचार्य) पातंजलयोगसूत्र पर भोजवृत्ति, पृ० २९

५. सांख्यसूत्र, ५.७४

में लय होने से मुक्ति की उपलब्धि नहीं हो जाती है। कारण में लय होना तो जल में डुबकी लगाने के समान है।[1]

जैसे एक गोताखोर गोता लगाने के बाद अत्यधिक देर में निश्चित रूप से जल से बाहर आता है चूंकि उसको सदा सर्वदा जल में रहना सम्भय ही नहीं है वैसे ही प्रकृतिलयों को भी निश्चितकाल तक आनन्दोपभोग करने के बाद तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए जन्म ग्रहण करना पड़ता है।[2]

भवप्रत्यय को स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि भव का अर्थ है—जन्म और प्रत्यय अर्थात् प्रति+अय=प्रत्यय>प्रत्यक्ष ज्ञान अर्थात् प्रतीति प्रकट होने अथवा साक्षात्कार करना प्रत्यय कहलाता है। इस प्रकार भवप्रत्यय का अर्थ हुआ—जन्म से ही प्राप्तज्ञान। योग के सन्दर्भ में जन्म से प्राप्तज्ञान अथवा योग्यता और भवप्रत्यय के सन्दर्भ में इसका अभिप्राय होगा—'जन्म से ही असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति के लिए आवश्यक योग्यता से युक्त होना।[3]

भाष्यकार व्यास के अनुसार भी विदेहों एवं प्रकृतिलयों की देवयोनि विशेष होती है, जिसमें से निश्चित अवधि के बाद जन्म लेना ही पड़ता है।[4] कुछ विद्वानों के अनुसार भी इन दोनों के विवेक ज्ञानशून्य होने से ये साधिकार चित्तवाले होते हैं। जैसे वर्षाकाल के आने पर मृत्तिकाभाव को प्राप्त हुए मण्डूक आदि के देह पुनः मण्डूकभाव को प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही प्रकृति में लय को प्राप्त हुआ चित्त भी अवधि के अनन्तर फिर संसाराभिमुख हो जाता है।[5] अतः तत्त्वों में लीनता की अवधि के भोग पर आए हुए विदेह और प्रकृतिलय योगी जन्म से ही असम्प्रज्ञात समाधि की योग्यता से युक्त चित्त वाले होते हैं।

---

१. न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात्। सांख्यसूत्र ३.५४

२. तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिव अनुभवन्ति य।वन्नपुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तम्। पातञ्जलयोगसूत्र पर व्यास भाष्य, पृ० ६०

३. दे० पातञ्जलयोग : एक अध्ययन, पृ० १४६

४. दे० पातञ्जलयोगसूत्र, १.१६ पर व्यास भाष्य

५. दे० पातञ्जल दर्शन प्रकाश, १.१६ पर प्रवचन

इससे भिन्न जो उपाय प्रत्यय योगी हैं, उन्हें श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा आदि प्रयासों के द्वारा क्रमशः असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्ति होती है।[1] भोज और व्यास दोनों ही श्रद्धा को चित्त की प्रसन्नता, वीर्य को उत्साह, स्मृति को अनुभूत ज्ञान को न भूलना, समाधि की समाहित तथा प्रज्ञा को ज्ञेय पदार्थों का विवेक मानकर, श्रद्धा से वीर्य, वीर्य से स्मृति, स्मृति से समाधि, समाधि से यथार्थज्ञान, यथार्थज्ञान से परवैराग्य और परवैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति के क्रम को स्वीकार किया गया है।

सूत्रकार पतञ्जलि ने इन पूर्वोक्त उपायों की मन्दता और तीव्रता के आधार पर अधिकारियों के तीन भेद बतलाए हैं[3]--(१) मृदूपाय, (२) मध्योपाय और (३) अधिमात्रोपाय। पुनः संवेगों की मन्दता, तीव्रता के आधार पर उन तीन को तीन और अवान्तर वर्गों में विभाजित करके कुल नौ श्रेणियों में बांटा है जो वे हैं--(१) मृदूपाय, मृदूसंवेग, (२) मृदूपाय मध्यसंवेग (३) मृदूपाय तीव्रसंवेग, (४) मध्योपाय मृदुसंवेग (५) मध्योपाय मध्यसंवेग (६) मध्योपाय तीव्र सवेग (७) अधिमात्रोपाय मृदुसंवेग (७) अधिमात्रोपाय मध्यसंवेग और (९) अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेग नाम से अभिहित किए गए है।[4]

भोज ने संवेग से तात्पर्य क्रिया करने में कारणरूप दृढ़तर संस्कार बतलाया है[5] क्योंकि अभ्यास और वैराग्य दोनों के बल से

---

१. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्। पा० योगसूत्र १.२०

२. तत्र श्रद्धायोगविषये चेतसः प्रसादः। वीर्यमुत्साहः। स्मृतिरनुभूतासम्प्रमोषः। समाधिरेकाग्रता प्रज्ञा प्रज्ञातव्यविवेकः।
तत्रश्रद्धावतो वीर्यं जायते, योगविषय उत्साहवान् भवति। सोत्साहस्य च पाश्चात्यासु भूमिषु स्मृतिरुत्पद्यते। तत्स्मरणाच्च चेतः समाधीयते। समाहितचित्तश्च भाव्यं सम्यक्विवेकेन जानाति। त एते सम्प्रज्ञातस्य समाधे. रूपायाः, तस्याभ्यासात् पराच्च वैराग्यात् भवत्यसंम्प्रज्ञातः। पातञ्जलयोगसूत्र, १.२० पर भोजवृत्ति

३. मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः। पातंजलयोगसूत्र, १.२२

४. तद्भेदेन नवयोगिनोभवन्ति। मृदुपाय, मृदुसंवेगो मध्मसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च। मध्योपाय-मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च। अधिमात्रोपायो मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च। पातंजलयोगसूत्र, भोज वृत्ति, १.२२

५. संवेगः क्रियाहेतुः दृढ़तरः संस्कारः। वही, १.२१

चित्तवृत्तियों का निरोध होता है। अतः संवेग का अर्थ वैराग्य करना अधिक समीचीन होगा।[1]

उपायों का सम्बन्ध अभ्यास अथवा क्रियात्मक साधना से है। ऐसी अवस्था में संवेग का अर्थ वैराग्य करने से योगफल प्राप्ति के दोनों हेतुओं की मन्दता-तीव्रता के आधार पर वर्गीकरण हो जाता है। यद्यपि इस आधार पर साधकों की नौ श्रेणियां बन जाती हैं तब भी सूत्रों में विभाजन की दृष्टि से मृदूपाय, मध्योपाय और अधिमात्रोपाय से तीन ही प्रमुख श्रेणियां बनती हैं।

इन मृदूपाय, मध्योपाय और अधिमात्रोपाय अधिकारियों को ही व्याख्याकारों ने मन्द, मध्यम और उत्तम या आरूरूक्षु युंजान और योगारुढ़ शब्दों से अभिहित किया है। अतः मृदूपाय को मन्दाधिकारी या आरूरूक्षु, मध्योपाय को मध्यमाधिकारी या युंजान एवं अधिमात्रोपाय को उत्तमाधिकारी या योगरुढ़ भी कहते हैं।[2]

इन तीन प्रकार के अधिकारियों के योग का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने निर्देश किया है कि—उत्तमाधिकारी के लिए प्रथमपाद में अभ्यास, वैराग्य और ईश्वर प्रणिधान, मध्यम के लिए क्रिया-योग और मन्दाधिकारी के लिए अष्टांग-योग अपेक्षित है। भावगणेश ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।[3]

भोज और व्यास ने यद्यपि उत्तम के लिए समाहित चित्त और मध्यम तथा मन्द के लिए व्युत्थितचित्त का निर्देश किया है किन्तु उनकी मान्यता भी इससे भिन्न नहीं है।[4] मन्द और मध्यम अधिकारियों के

---

१. संवेग : वैराग्यम्। तत्त्ववैशारदी, २.२१

२. योगाधिकारिणास्त्रिविधा मन्दमध्यमोत्तमाः क्रमेणारूरूक्ष युंजान,, योगारुढरूपाः। पातञ्जलयोगसूत्र पर भावगणेश वृत्ति, २.१

३. समाहितचित्तस्योत्तमाधिकारिणो योगारोहयोग्यस्याभ्यासवैराग्याभ्यामेव क्रियायोगनिरपेक्षाभ्याम् योगनिष्पत्तिः पूर्वपादे प्रतिपादिता। यद्यपि वक्ष्यमाणायमनियमादयः सर्वेऽपि क्रियायोगास्तथापि तेभ्यः समाहृत्य प्रकृष्टसाधनत्रयं मध्यमाधिकारिणं प्रत्युपदिष्टम्। पातञ्जलयोगसूत्र पर भावगणेश वृत्ति, २.१

४. दे० पातञ्जलयोग एक अध्ययन, पृ० १५०

लिए क्रमशः क्रियायोग और अष्टांगयोग का विधान योगवार्तिक में विज्ञान भिक्षु ने और अधिक स्पष्ट रूप से समझाया है।[1]

योग की भूमियां

आध्यात्मिक दृष्टि से योग के बीज तथा विचार पुरातन जैन आगमों में प्राप्त हो जाते हैं फिर भी उनको क्रमशः व्यवस्थित स्वरूप देकर जैन योग को पृथक्तया स्थिर करने का आदिश्रेय आचार्य हरिभद्रसूरि को ही जाता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने योग विषयक प्रमुख चार ग्रंथों में जैनयोग का सांगोपांग तथा क्रमबद्ध वर्णन प्रस्तुत किया है। योगबिन्दु में उन्होंने जैन योग की पांच भूमियों का वर्णन किया है।[2] जो इस प्रकार है—

(१) अध्यात्म
(२) भावना
(३) ध्यान
(४) समता और
(५) वृत्तिसंक्षय

पातञ्जलयोगसूत्र में निर्दिष्ट सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात ये दोनों समाधियां भी इन्हीं में समाविष्ट हो जाती हैं।

अध्यात्मयोग

जैन आगमों[3] में मोक्षाभिलाषी आत्मा को अध्यात्मयोगी बनने

---

१. पूर्वपादे ह्युत्तमाधिकारिणाम् अभ्यासवैराग्ये एव योगयोः साधनमुक्तम्, ततश्च मन्दाधिकारिणाम् तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानान्यपि केवलानि साधनान्येतत्पादस्यादावुक्तानि। अतः परं मन्दारिणाम् यमादीन्यपि योगसाधनानि वक्तव्यानि, ज्ञानसाधनप्रसंगेन। योगवार्तिक, २.२८

२. अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्॥ योगबिन्दु, श्लोक ३१

३. (क) अज्झप्पजोगसुद्धादाणं उवदिटिठए ठिअप्पा। सूत्रकृतांग०, १.१६.३
(ख) अज्झप्प ज्झाणजुत्ते (अध्यात्म (अध्यात्म ध्यान युक्त) प्रश्नव्याकरण ३, संवरद्वार व्याख्याकार मे इस सूत्र की निम्न व्याख्या की हैं—
अध्यात्मनि आत्मानमधिकृत्य आत्मालंबनं ध्यानं चित्तनिरोधः तेन युक्तः। वही

की, योग से युक्त होने की बार-बार प्रेरणा दी गयी है। इसका कारण यह है कि चारित्रिक विकास के लिए अध्यात्मयोग के अनुष्ठान की नितान्त आवश्यकता है। इसीलिए आचार्यश्री ने सर्वप्रथम अध्यात्मयोग की भूमि का निर्देश मुमुक्षु साधक को दिया है।

अध्यात्मयोग से अभिप्राय क्या है? इस पर आचार्य ने कहा है कि—'उचित प्रवृत्ति से अणुव्रत, महाव्रत से युक्त, चारित्र का पालन करना, उसके साथ-साथ मैत्री आदि भावनापूर्वक आगमवचनों के अनुसार तत्त्वचिन्तन भी करना' अध्यात्मयोग कहलाता है।[1]

अध्यात्म में अधि और आत्म ऐसे ये दो पद हैं जिसका अर्थ है—आत्मा को आत्मा में अधिष्ठित करके रहना। इसका तात्पर्य है कि जो अपने में ही सदैव बना रहता है, अपने में ही रमण करता है, वह ही अध्यात्म है। अध्यात्म तत्सम्बद्ध बहुविध कार्य-कलाप में भी घटित होता है।[2]

अध्यात्मयोग के तत्त्वचिन्तन रूप लक्षण में दिए गए ये चार विशेषण बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं—(१) औचित्य, (२) वृत्तसमवेतत्त्व, (३) आगमानुसारित्व और (४) मैत्री आदि भावना। इन पर विचार करने से अध्यात्म का वास्तविक रहस्य भली-भांति स्पस्ट हो जाता है।

(क) औचित्याद्

व्याख्याकार इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—**औचित्याद् 'उचित प्रवृत्तिरूपात्'** अर्थात् शास्त्र विहित शुभ प्रवृत्ति करने से अध्यात्म पुष्ट होता है।

(ख) वृत्तयुक्तस्य

इसकी टीका करते हुए टीकाकार लिखते हैं कि 'वृत्तयुक्तस्याण्-

१. औचित्याद् वृत्तयुक्तस्य, वचनात्तत्त्वचिन्तनम्।
मैत्र्यादिसारमत्यन्तमध्यात्मं तद्विदो विदुः॥ योगबिन्दु, श्लोक ३५८

२. एवं विचित्रमध्यात्ममेतदन्वर्थयोगतः।
आत्मन्यधीतिसंवृत्तेर्ज्ञेयमध्यात्मचिन्तकैः॥ वही, श्लोक ४०४ तथा दे० इसी की संस्कृत टीका

व्रतमहाव्रतसमन्वितस्य' अर्थात् अणुव्रत और महाव्रतादि का पालन करने से भी अध्यात्मपुष्ट होता है।

(ग) **वचनात्तत्त्वचिन्तनम्**

इसकी टीका में टीकाकार ने लिखा हैं कि—'वचनाज्जिनप्रणीतात् तत्वचिन्तनं जीवादिपदार्थसार्थपर्यालोचनम्' अर्थात् जिन भगवान् द्वारा प्रणीत जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष आदि तत्त्वों का अर्थ सहित चिन्तन मनन करने से भी अध्यात्म की पुष्टि होती है।

(घ) **मैत्र्यादिसारम्**

इसकी टीका में टीकाकार ने लिखा है कि—**मैत्रीप्रमोदकरुणा-माध्यस्थ्यप्रधानैः सत्त्वादिषु अत्यन्तमतीव किमित्याह अध्यात्मं-योग-विशेषम्** अर्थात् प्राणी जगत् के प्रति मैत्री आदि भावनाओं का चिन्तन-मनन और आचरण करने से भी अध्यात्मयोग पुष्ट होता है।[1]

आचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार इन भावनाओं के चिन्तन से उत्पन्न रसायन से ध्यान की पुष्टि भी होती है।[2] आचार्य उमास्वाति ने इन भावनाओं को अहिंसादि महाव्रतों के पालन में उपयोगी मानकर **तत्त्वार्थसूत्र** में इनका उल्लेख किया है।[3] आचार्य पतञ्जलि ने भी इन चार भावनाओं को चित्त की प्रसन्नता में उपयोगी मान कर इनका उल्लेख किया है।[4]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मैत्री आदि इन चार अध्यात्म भावनाओं के अत्यधिक उपयोगी होने से ही आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगभूमि में उन्हें स्थान दिया है, जिससे ये आध्यात्मिक

---

१. दे० योगबिन्दु, श्लोक ३५८ पर संस्कृत टीका, पृ० २४६

२, मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि नियोजयेत्।
धर्म-ध्यानमुपस्कर्तुं तद्धि तस्य रसायनम्॥ योगशा०, ४.११

३. मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु।
तत्त्वार्थसूत्र ७.६

४. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुख-दुःख,
पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ पा० यो०, १.३३

भावनाएं भी कही जाती हैं। यहां क्रमशः इनका विश्लेषण किया जाएगा।

मैत्री भावना

जैन आगमों में आवश्यकसूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैन साधक श्रमण और श्रमणी प्रतिदिन सुबह और सायंकाल इस सूत्र का आवर्जन एवं पारायण करते हैं। इसमें कहा गया है कि—

'मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं ण केणइ"[1] अर्थात् विश्व में एक इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जितने भी प्राणी हैं, उन सबसे मेरी मैत्री अर्थात् मित्रता है, किसी से भी मेरा वैरभाव नहीं है। निस्सन्देह मैत्री भावना का यह उत्कृष्टतम आदर्श है। मैत्री का अर्थ ही है दूसरे में अपनेपन की भावना जागृत करना, दूसरे को दुःख न देने की अभिलाषा रखना।[2] इस संसार में जितने भी प्राणी हैं, सभी के साथ मेरे सम्बन्ध जुड़े हैं, सभी ने मुझ पर अनेक उपकार किए हैं। अतः वे सब मेरे कुटुम्बीजन उपकारी हैं। इस प्रकार का चिन्तन करना ही मैत्री है।[3]

आचार्य शुभचन्द के अनुसार 'संसार के समस्त जीव कष्ट, क्लेश और आपत्तियों से दूर रहकर सुखपूर्वक जीवें। परस्पर में वैर न रखें, पाप न करें और कोई किसी को पराभूत भी न करे।' यही मैत्री भावना है।[4]

इन परिभाषाओं के अध्ययन से यह कहा जा सकता है कि मैत्री-भावना की पहली शर्त है—प्रत्येक जीव का हित चिन्तन करना, उसके

---

१. दे० आवश्यकसूत्र-आवश्यक-४

२. परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषा मैत्री। सर्वार्थसिद्धि ७.११

३. सर्वे पितृभ्रातृपितृव्यमातृपुत्राङ्गजा स्त्रीभगिनीस्नुषात्वम्।
जीवाःप्रपन्नाबहुशस्तदेतत् कुटुम्बमेवेति परो न कश्चित्॥
भावनायोग एक विश्लेषण, पृ० ३६० पर उद्धृत

४. जीवन्तु जन्तवः सर्वे क्लेशव्यसनवर्जिता।
प्राप्नुवन्ति सुखं, त्यक्त्वा वैरं पापं पराभवम्॥ ज्ञानार्णव २७.७ तथा मिलाइए :
मा कार्षीत्कोऽपि पापानि मा च भूत्कोऽपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषामतिर्मैत्रीनिगद्यते॥ योगशास्त्र, ४.११८

जीवन के उत्थान और कल्याण की कामना करना तथा सत्त्व सभी पापों अथवा दुःखों से मुक्त हों ऐसो भावना रखना।

यजुर्वेद में मित्रता के संकल्प की प्रेरणा देते हुए कहा गया है कि' 'सभो प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। मैं भी सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं। हम सब परस्पर एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें'

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।[1]

ऐसी मैत्री भावना के चिन्तन से साधक के अन्तःकरण की विषमता दूर होती है और समता का आविर्भाव होता है।

जो साधक समस्त विश्व को समभाव से देखता है, उसकी भेदबुद्धि समाप्त हो जाती है, वह किसी का भी अप्रिय या प्रिय नहीं करता है।[2]

प्रमोद भावना

अध्यात्मयोग की दूसरी भावना है—प्रमोद। **तत्त्वार्थसूत्र** की वृत्ति **सर्वार्थसिद्धि** में प्रमोद शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है कि 'मुख की प्रसन्नता, अन्तरंग की भक्ति एवं अनुराग को व्यक्त करना' प्रमोद है—
वदनं प्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भावितरागः प्रमोदः।[3]

उपाध्यायविनय विजय ने बताया है कि—गुणों के प्रति पक्षपात अथवा गुणों के प्रति अनुराग रखना ही प्रमोदभाव है—**भवेत् प्रमोदो गुणपक्षपातः।**[4]

प्रमोद भावना की व्याख्या करते हुए आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि 'जिन्होंने हिंसादि समस्त दोषों का त्याग कर दिया है, जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप को देखने वाले हैं, उन महापुरुषों के गुणों के प्रति आदर

---

१. यजुर्वेद, ३६.१८
२. सव्वं जगं तू समयाणुपेही।
   पियमप्पियं कस्स वि नो करेज्जा॥ सूत्रकृतांग, १.१०.६
३. सर्वार्थसिद्धि, ७.११.३४९ (वृत्ति)
४. शान्तसुधारस, प्रमोद भावना, १३.३

भाव होना, उनकी प्रशंसा करना, उनकी सेवा करना ही प्रमोद भावना हैं'।[1] प्रमोद को मुदिता के रूप में भी बतलाया गया है।

आचार्य शुभचन्द के अनुसार जो पुरुष तप, शास्त्राध्ययन और यमनियमादि में उद्यमयुक्त चित्त रखते हैं, ज्ञान ही जिनके नेत्र हैं, जो इन्द्रिय, मन और कषायों को जीतने वाले हैं तथा स्वतत्त्व के अभ्यास करने में निपुण हैं, जगत् को चमत्कृत करने वाले चारित्र से जिनका आत्मा अधिष्ठित है, ऐसे पुरुषों के गुणों में जो प्रमोद अथवा हर्ष का होना है, उसे ही सज्जनों ने 'मुदिता' कहा है।[2]

ऋग्वेद का एक मन्त्र भी इस विषय में विशेषता रखता है जैसे कि हम बड़े (गुणों से श्रेष्ठ), छोटे (गुणों में कम), युवा और वृद्ध—सभी गुणीजनों को नमस्कार करते हैं।[3] अतः सभी को एक दूसरे के गुणों की प्रशंसा करनी चाहिए।[4]

गुणों को ग्रहण करने की सतत प्रेरणा देते हुए प्रभु महावीर कहते हैं कि—जब तक शरीरभेद अर्थात् मृत्यु नहीं होती तब तक गुणों की आराधना करते रहें—**कंखे गुणे जावसरीरभेअ**।[5]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो अपने से गुणों में बड़े हैं, जिन में गुण अधिक हैं, उनके प्रति ईर्ष्या न करके गुण ग्रहण करना और उनके गुणों को देखकर प्रसन्न होना साधक के लिए श्रेयस्कर है।

इस प्रकार अध्यात्म के अन्तर्गत प्रमोद भावना के द्वारा गुणग्रहण

---

१. अपास्ताशेषदोषाणां वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातोऽयं सः प्रमोदः प्रकीर्तितः। योगशास्त्र, ४.११९

२. तपः श्रुतयमो युक्तचेतसां ज्ञानचक्षुषाम्।
विजिताक्षकषायाणां स्वतत्त्वाभ्यासशालिनाम्॥
जगत्त्रयचमत्कारिचरणाधिष्ठितात्मनाम्।
तद्गुणेषु प्रमोदो यः सद्भिः सा मुदिता मता॥ ज्ञानार्णव, २७.११-१२

३. नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो
नमो युवभ्यो नमो नाशिनेभ्यः। ऋग्वेद, १.२७.१३

४. मिथःसन्तःप्रशस्तयः। वही, १.२६.९

५. उत्तराध्ययनसूत्र, ४.१३

का भाव साधक के अन्दर जागृत होता है और ईर्ष्याभाव समाप्त हो जाता है जिससे समता का विकास होता है।

करुणाभावना

करुणा भावना के अन्तर्गत साधक दूसरों के दुःख दूर करने को सदा तत्पर रहता है कारण कि संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, दुःख के सभी प्रतिकूल हैं।[1]

अतः **राजवार्तिककार** आचार्य अकलंक ने करुणा की परिभाषा देते हुए बताया है कि दीनों पर अनुग्रह करना ही कारुण्य है।[2] जो जीव दीनता से तथा शोक भय रोगादिक की पीड़ा से दुःखित हों, पीड़ित हों तथा वध (घात) एवं बंधन सहित रोके हुए हों अथवा अपने जीवन की वाञ्छा करते हुए कि 'कोई हमको बचाओ', ऐसी दीन प्रार्थना करने वाले हों तथा क्षुधा, तृषा, खेद आदिक से पीड़ित हों तथा शीत, उष्णादि से पीड़ित हों, निर्दय पुरुषों द्वारा मारने के लिए रोके गए हों, उन दुःखी जीवों को देखने-सुनने से उनके दुःख दूर करने की कोशिश करना ही करुणा भावना है।[3]

दीन, दुःखी, भयभीत और प्राणों की भीख चाहने वाले प्राणियों के दुःख को दूर करने की भावना होना ही कारुण्य है। यही करुणा भावना है।[4] दूसरों के दुःख की अनुभूति करना, उनके दुःख से द्रवित

---

१. सव्वेपाणापिआउया, सुहसाया दुक्ख पडिकूला॥ आचारांगसूत्र, १.२.३

२. दीनानुग्रहभावः कारुण्यम्। तत्त्वार्थवा० ७.११.३.५८.१९

३. दैन्यशोकसमुत्त्रासरोगपीडार्दितात्मसु।
बधबन्धनरुद्धेषु याचमानेषु जीवितम्॥
क्षुत्तृट्श्रमाभिभूतेषु शीताद्यैर्व्यथितेषु च।
अविरुद्धेषु निस्त्रिंशैर्यात्यमानेषु निर्दयम्॥
मरणार्त्तेषु जीवेषु यत्प्रतीकारवाञ्छया।
अनुग्रहमतिसेयं करुणेति प्रकीर्तिता॥ ज्ञानर्णवि, २७.७-८-९

४. दीनेष्वार्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्।
प्रतीकारपरा बुद्धि कारुण्यमभिधीयते॥ योगशास्त्र, ४.१२८

होना अर्थात् अनुकम्पा ही करुणा है।[1] कहा भी है—दीन दुःखी जीवों पर मेरे उर से करुणा स्रोत बहे।[2]

इस प्रकार करुणा की भावना में साधक अहंकार शून्य होकर, दूसरों के प्रति समर्पण की भावना से भर जाता है और अपने सुख की परवाह न कर दूसरों को सुख देकर समाधिस्थ होता है। यही करुणा है।

माध्यस्थभावना

विपरीत वृत्ति वाले और क्रूर कर्मी व्यक्ति के प्रति भी साधक को मन में द्वेष नहीं लाना चाहिए अपितु उसके प्रति उपेक्षा का भाव रखे, यही माध्यस्थ भावना है। इससे साधक के मन की प्रसन्नता अविच्छिन्न बनी रहती है और समता का सम्पूर्ण विकास होता है इसी लिए **आचारांगसूत्र** में साधक को सम्बोधित करके कहा गया है कि—अपने धर्म के विपरीत रहने वाले व्यक्ति के प्रति भी उपेक्षा का भाव रखे, जो प्राणी अपने विरोधी के प्रति उपेक्षावान् (तटस्थता) रखता है और उसके कारण उद्विग्न नहीं होता, वह ही सर्वश्रेष्ट ज्ञानी है[3] क्योंकि जो साधक मनोज्ञ भावनाओं में आसक्त होता है, वह मन के प्रतिकूलभाव मिलने पर उनसे द्वेष भी करता है। इस प्रकार वह कभी सुखी और कभी दुःखी बना रहता है। दोनों ही स्थितियों में वह छटपटाता भी रहता है।[4]

जो प्राणी क्रोधी है, निर्दयी अथवा क्रूरकर्मी, मधु, मांस एवं मद्य और परस्त्री सेवन-लोभी है तथा जो व्यवसनों में आसक्त है ऐसे प्राणियों में तथा अत्यन्त पापी एवं देव-गुरु की निन्दा करने वाले और अपनी प्रशंसा करने वाले प्राणी के प्रति सत्त्व का द्वेष से रहित होकर,

---

१. शारीरं, मानसं, स्वाभाविकं च दुःखमसह्याप्नुवती दृष्टवा हा बराका। मिथ्यादर्शनेनाविरत्या कषायेणाऽशुभंन योगेन च समुपार्जिताशुभकर्मपर्याय पुद्गलस्कन्धतदुपोदभवा विपदी विवशाः प्राप्नुवन्ति इति करुणा >अनुकम्पा भगवती आ० विवरण

२. दे० मेरो भावना

३. उवेहएणं बहिया य लोगं, से सव्वलोगम्मि जे केइ विण्णू। आचारांग सूत्र १.४.३

४, एगन्तरत्ते रुइरंसि भावे, अतालि हो कुणइ पओसं। दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, नं लिप्पइ तेण मुणी विरागी॥ उत्तरा० ३२.९१

इन सभी में जो माध्यस्थ भाव रखता है उसी का नाम उपेक्षा है।[1] ये कितने सुन्दर भाव कहे हैं—देख दूसरों को बढ़ती को कभी न ईर्ष्या भाव धरूं। यही माध्यस्थ भावना है।

सर्वदा और सर्वत्र मात्र प्रवृत्ति परक भावनाएं ही साधक को नहीं होतीं, कई बार अहिंसा आदि महाव्रतों को स्थिर रखने के लिए तटस्थ भाव धारण करना भी बड़ा उपयोगी होता है। इसी कारण यहां विशेषकर अध्यात्म जगत् में माध्यस्थ भावना का विधान किया गया है। जब नितान्त संस्कारहीन अथवा किसी तरह की भी सद्वस्तु ग्रहण करने के अयोग्य पात्र मिल जाए और यदि उसे सुधारने के सभी प्रयत्नों का परिणाम अन्ततः शून्य ही दिखाई दे तब ऐसे व्यक्ति के प्रति तटस्थ-भाव रखना ही उचित है। अतः माध्यस्थ भावना का विषय अविनेय अथवा अयोग्य पात्र ही है।[2]

जो कल्याणकारी वचन नहीं सुनना चाहता उस पर कभी भी क्रोध नहीं करना चाहिए ओर उसे भला-बुरा भी नहीं कहना चाहिए। वह यदि उसे सुनेगा तो उसका ही कल्याण होगा और नहीं सुनेगा तो उसमें किसी को क्या हानि ? किन्तु उसके न सुनने, उसे बुरा भला कहने और उस पर क्रोध करने पर तो अपनी ही मानसिक शान्ति भंग होगी और आन्तरिक सुख भी नष्ट हो जाएगा।[3] अतः साधक को माध्यस्थभाव से ही रहना चाहिए। जो साधक तटस्थ रहता है, वही पूज्य होता है[4] कारण कि मनोज्ञ और अमनोज्ञ में तटस्थ रहना ही वीतराग है।[5] इसी

---

१. क्रोधविद्धेषु सत्त्वेषु निस्त्रिंशक्रूरकर्मसु।
मधु-मांस-सुरान्यस्त्रीलुब्धेष्वत्यन्तपापिषु ॥
देवागमयतिव्रातनिन्दकेष्वात्मशंसिषु।
नास्तिकेषु च माध्यस्थं तत्सापेक्षा प्रकीर्तिता ॥ ज्ञानार्णव, २७.१३-१४
तथा मिला०—क्रूर-कर्मसु निःशंकं देवता गुरुनिन्दिषु।
आत्मशंसिषु योपेक्षा तन्माध्यस्थमुदीरितम् ॥
योगशा० ४.१२१

२. (संघवी तत्त्वार्थसूत्र ७.६ पर व्याख्या, पृ० २७१-७२

३. योऽपि न सहते हितमुपदेशं, तदुपरि मा कुरु कोपं रे।
निष्फलया किं परजनतप्त्या कुरुषे निजसुखलोपं रे ॥ शान्तसुधारस भावना, १६.४

४. जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो। दशवै ९.३.११

५. समो जो तेसु स वीयरागो। उत्तरा० सू०, ३२.२२

कारण योगी साधक जगत को समभाव पूर्वक देखता हुआ किसी का भी प्रिय व अप्रिय नहीं करता[1] बल्कि वह अपने को माध्यस्थभाव में स्थिर रखना ही समुचित समझता है।

इस जगत् में जब कोई वस्तु नित्य हो तब तो उस पर राग किया जाए किन्तु जब सभी वस्तुएं अनित्य हैं, तब उन पर रागभाव क्यों करना ? अतः साधक का सदैव मध्यस्थ ही रहना उपयुक्त है।[2]

इन चार भावनाओं के निरन्तर चिन्तन मनन से अध्यात्म योगी साधक की आत्मा में ईर्ष्या भाव का नाश और करुणा का संचार होता है तथा गुणानुराग एवं राग-द्वेष की निवृत्ति होती है जिसमें साधक योगसाधना करने में सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति कर सक्षम बनता है।

इस प्रकार के अध्यात्म योग के स्वरूप को जो[3] साधक आत्मसात् कर लेता है, उसके पापों का नाश और वीर्य का उत्कर्ष होता है। चित्त भी प्रसन्नता होता है तथा वस्तुतत्त्व का बोध एवं आत्मानुभव रूप अमृतत्व की प्राप्ति होती है।[4]

(२) भावना (वैराग्य भावना)

आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार योग की दूसरी भूमि है—भावना। भावना का जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। भाव शब्द से भावना शब्द बना है—**भाव्यतीति भावना**। भाव का अर्थ है—विचार अथवा अभिप्राय। आचार्य शीलांक ने भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है—

---

१. सव्वं जगं तू समयाणुपेही, पियमप्पियं कस्स वि नो करेज्जा।
सूत्रकृता०, १.२०.६

२. स्याद्यदि किञ्चित् स्थायिवस्तु तत्र रुचिः स्यादुचिता नास्ति स्थिरं किञ्चिद् अपि दृश्यम्, तस्मात् स्यात् साऽनुचिता ॥ भावना शतक, माध्यस्थ भावना, श्लोक २

३. सुखीर्ष्या दुःखितोपेक्षा पुण्यद्वेषधर्मिषु ।
रागद्वेषौत्यजन्नेता लब्ध्वा अध्यात्मं समाचरेत ॥ योगभेद द्वात्रिंशिका ७

४. अतः पापक्षयः सत्त्वं शीलं ज्ञानं च शाश्वतम् ।
तथानुभवसंसिद्धममृतं ह्यद एव तु ॥ योगबिन्दु, श्लोक ३५९
तथा मिला० योगभेद द्वात्रिंशिका, श्लोक ८

भावश्चित्ताभिप्रायः[1] अर्थात् चित्त का अभिप्राय भाव है। **आचाराङ्गसूत्र**[2] की टीका में 'अन्तःकरण की परिणति' विशेष को भाव कहा गया है। भाव ही भावना का रूप धारण करते हैं। अतः **आवश्यकसूत्र** की टीका में आचार्य हरिभद्र ने कहा है कि 'जिसके द्वारा मन को भावित किया जाए[3] अथवा संस्कारित किया जाए, वह भावना है। आचार्य मलयगिरी ने 'परिकर्म' अर्थात् 'विचारों की साज-सज्जा' को भावना बतलाया है। जैसे शरीर को तेल, इत्र-फुलेल आदि से बारम्बार सजाया जाता है वैसे ही विचारों को अमुक-अमुक विचारों के साथ जोड़ना भावना कहलाती है—**परिकर्म्येति वा भावनेति वा**।[4]

बार-बार स्फुरित होने वाली विचार तरङ्गें भी भावना और अध्यवसाय बतलायी गयी हैं—**अध्दवच्छिन्नपूर्वपूर्वतरसंस्कारस्य पुनः-पुनस्तदनुष्ठानरूपाभावनेति**।[5] पूर्व से पूर्वतर संस्कारों की अस्खलित धारा का प्रवाह तथा उस धारा का कार्य रूप में परिणत करना भी भावना है। इसी कारण जैन विद्याविशारद जैनाचार्यों ने पुनःपुनः चिन्तन करने को ही भावना बतलाया है।[6]

भावना और अनुप्रेक्षा

आगमों में भावनाओं के स्थान पर अनुप्रेक्षा शब्द का प्रयोग हुआ है। **स्थानांगसूत्र** में ध्यान के प्रकरण में धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान की क्रमशः चार-चार अनुप्रेक्षाएं बतलाई गई हैं।[7]

आचार्य उमास्वाति ने भी भावना के स्थान पर अनुप्रेक्षा का प्रयोग किया है—**अनित्याशरणसंसारैकत्वान्य—त्वाशुचि-आस्रवसंवरनिर्जरा-लोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः**।[8]

---

१. दे० उत्तराध्ययन, २६.२२ पर टीका।
२. भावोऽन्तःकरणस्य परिणति विशेषः। आचा० टीका श्रु० १, अ० २, उ० ५
३. भाव्यतेऽनयेति भावना। आवश्यकसूत्र ५ पर टीका (हारिभद्रीय)
४. दे० बृहत्कल्पभाष्य, भाग-२, गा० १२८५ पर वृत्ति, पृ० ३६७
५. दे० अनुयोग द्वारं टीका (अभिधान) राजेन्द्र कोश, पृ० १५०५)
६. आचारांगसूत्र प्रथम श्रु०, अ०८. उ०६ की टीका
७. धम्मस्सणं झाणस्य चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णताओ तं जहा, एगाणुप्पेहा, अणिच्चणुप्पेहा, असरणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा। स्थानांगसूत्र ४.१
८. तत्त्वार्थसूत्र ९.६

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी भावना के स्थान पर अनुप्रेक्षा शब्द का प्रयोग किया है और बारह भावनाओं पर **बारस अणुवेक्खा** नामक स्वतन्त्र ग्रंथ की रचना की है। स्वामिकार्तिकेय ने भी भावना को अधिक महत्व देकर एक अनुपम ग्रंथ 'स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा' की रचना की है।

उत्तराध्ययनसूत्र में भी 'अणुपेहा' शब्द आध्यात्मिक चिन्तन के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। वहां गौतम स्वामी ने पूछा है—भन्ते! अनुप्रेक्षा (अनुपेहा) से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है।[1]

भगवान् ने उत्तर में बतलाया है कि अनुप्रेक्षा (वैराग्य भावना, तत्त्व चिन्तन) से जीव आयुष्कर्म को छोड़कर सात कर्मप्रकृतियों में सघन बन्ध वाली प्रकृति को शिथिल, दीर्घकालीन एवं तीव्र अनुभाववाली प्रकृति को अल्पकालीन तथा मन्द अनुभाव वाली बनाता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने भावना को ध्यान की पूर्व भूमिका माना है।[2] इनके अनुसार पूर्वकृत अभ्यास के द्वारा भावना बनती है और भावना का पुनः-पुनः अभ्यास करने पर ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है।

इस प्रकार भावना, अनुप्रेक्षा और ध्यान ये तीनों शब्द प्रायः समानार्थक से लगते हैं फिर भी अनुप्रेक्षा और भावना तो निःसन्देह एक ही अर्थ के वाचक हैं। भावना के विषय में कहा गया है कि—'भावना भवनाशिनी' अर्थात् शुभ भावना साधक के जन्म मरणरूप भवपरम्परा को समाप्त करती है।

सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है कि—जिस साधक की आत्मा भावनायोग से शुद्ध हो गई है, वह साधक जल में नौका के समान है। जैसे नौका तट पर विश्राम करती है वैसे ही भावनायोग से शुद्ध साधक को भी परम शक्ति प्राप्त होती है—

भावनाजोगशुद्धप्पा जले णावा व आहिया।
णावा व तीरसम्पन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टई ॥[3]

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र, २९.२२

२. पुव्वकयब्भासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ। ध्यानशतक, गा० ३० पर हारिभद्रीय टीका।

३. सूत्रकृतांगसूत्र, १.१५.५

जब आत्मा में शुभ भावों का उदय होता है तब अशुभ भावों का आना क्रमशः बन्द होता जाता है। इस प्रकार भावना कर्मनिरोध में सहायक है। साधक को धार्मिक प्रेम, वैराग्य और चारित्र का दृढ़ता की दृष्टि से इनका चिन्तन एवं मनन करना अभीष्ट है।[1]

आचार्य उमास्वाति ने कहा है कि—ये भावनाएं चिन्तन, संवेग और वैराग्य की अभिवृद्धि के लिए हैं।[2] भावनाओं के अनुचिन्तन से वैराग्य उत्पन्न होता है जिससे साधक संयम एवं आत्मविकास की ओर उन्मुख होता हैं।[3]

योगदर्शन के अनुसार भावना और जीव में गहरा सम्बन्ध है। भावनाओं का चिन्तन करने से आत्मशुद्धि होती है। इसलिए वहां ईश्वर का बार-बार जप करने के बाद ईश्वर को भावना भानी चाहिए और ईश्वर की भावना के पश्चात पुनः जप करना चाहिए।[4] इन दोनों योगों की उपलब्धि होने पर परमेश्वर का साक्षात्कार होता है।

इसी प्रकार **जैनदर्शन** में भी भावनाओं का अत्यधिक महत्व प्रतिपादित हुआ है। भावनाओं का वर्गीकृत वर्णन सर्वप्रथम दिगम्बर परम्परा के महान् आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथ **बारस अनुवेक्खा** में हुआ है। इसके नामकरण से ही सूचित होता है कि इन वैराग्य वर्धक भावनाओं की संख्या बारह है। सम्भवतः आगमगत वर्णनों को आधार बनाकर वैराग्य प्रधान चिन्तन को एक व्यवस्थित रूप देने के लिए ही आचार्य ने उन्हें **बारह अनुप्रेक्षा** के नाम से संकलित किया हैं क्योंकि आठ अनुप्रेक्षा तो आगम में वर्णित ही हैं।[5] उनमें चार और जोड़ कर उन्हें बारह अनुप्रेक्षाओं के रूप में प्रस्तुत किया है। जो निम्नलिखित हैं—[6]

---

१. ताश्च संवेगवैराग्यप्रशमसिद्धये।
आलानितामनःस्तम्भे मुनिभिर्मोक्षमिच्छुभिः। ज्ञानार्णव, २.६

२. संवेगवैराग्यार्थम्। तत्वार्थसू० ७.७

३. वैराग्य उपावन माई, चिन्तो अनुप्रेक्षा भाई। छहढाला, ५.१

४. तज्जपस्तदर्थभावनम्। योगदर्शन, व्यास भाष्य १.२८

५. स्थानांगसूत्र, ४.१

६. अद्धवमसरणमेगत्तमण्णत्तसंसारलोयमसइत्तं।
आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोधिं च चिंतिज्ज॥ बार० अनु० २

१.	अनित्य भावना	७.	अशुचि भावना
२.	अशरणभावना	८.	आश्रव भावना
३.	एकत्व भावना	९.	संवर भावना
४.	अन्यत्व भावना	१०.	निर्जरा भावना
५.	संसार भावना	११.	धर्म भावना
६.	लोक भावना	१२.	बोधिदुर्लभ भावना

आचार्य कुन्दकुन्द के परवर्ती आचार्यों ने भी इन वैराग्य प्रधान बारह भावनाओं को बहुमान दिया है।

आचार्य उमास्वाति ने अपने दो प्रसिद्ध ग्रंथों में बारह भावनाओं का सुन्दर वर्णन किया है। **तत्त्वार्थसूत्र**[1] में अनुप्रेक्षा नाम देकर उनका संक्षेप में सूचनामात्र उल्लेख है, जबकि **प्रशमरतिप्रकरण** में—**भावना द्वादशविशुद्धा**, कह कर उनका वैराग्योत्पादक एवं ललित शैली में वर्णन किया गया है।[2]

यद्यपि उनके क्रम में थोड़ा बहुत आगे पीछे अन्तर भी मिलता है, फिर भी संख्या और नाम एक से ही हैं। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक आचार्यों ने अपने-अपने ग्रंथों में स्वतन्त्र शैली में इन्हें पल्लवित एवं पुष्पित किया है। उनमें प्रमुख हैं—श्रीमद्वट्टकेर[3], आचार्य शुभचन्द्र[4] आचार्य हेमचन्द्र[5], आचार्य नेमिचन्द्र[6], आचार्य सोमदेव[7], स्वामिकार्तिकेय[8] उपाध्याय विनयविजय[9] और शतावधानी रत्नचन्द्र[10]।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ९.७
२. प्रशमरति प्र०, ८.१४९-५०
३. दे० मूलाचार, गा० ८
४. दे० ज्ञानार्णव. सर्ग २
५. दे० योगशास्त्र, ४.५५,५६
६. प्रवचनसारोद्धार, प्रथम भाग, द्वार ६७, पृ० ४५५
७. दे० यशस्तिलकचम्पू, २.१०५-५७
८. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा
९. दे० शान्तसुधारस, श्लोक ७-८
१०. दे० भावना शतक

अनित्य आदि बारह भावनाओं के स्वभाव को अच्छी प्रकार से जानकर उसके प्रति अनासक्त, अभय और आशंसा रहित हो जाना वैराग्यभावना कहलाती है। इनके चिन्तन से साधक ध्यान में स्थिरता प्राप्त करता है।[1]

अतः अध्यात्मयोगी के लिए इन भावनाओं का चिन्तन-मनन अतीव आवश्यक है। इससे साधक के वैभाविक संस्कारों का विलय, अध्यात्म-तत्त्व की स्थिरता और आत्मगुणों का उत्कर्ष होता है।

अब यहां वैराग्यप्रधान और योग की द्वितीय भूमि बारह भावनाओं का संक्षेप में वर्णन किया जाता है।

(१) अनित्यभावना

इस भावना के अन्तर्गत संसार के पदार्थों की अनित्यता, नश्वरता आदि का चिन्तन करते हुए उनके प्रति होने वाली आसक्ति को विनष्ट किया जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि—'जिस शरीर, यौवन, रूप और सम्पत्ति पर तुम आसक्त हो रहे हो, उनकी स्थिति तो बादलों में चमकने वाली बिजली के समान क्षणिक है'।[2] तब फिर तुम किस पर, क्यों और कितने समय के लिए आसक्त हो रहे हो।

आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं कि 'मानव का मोह शरीर और ऐश्वर्य पर होता है किन्तु ये सभी अपने विनाश के कारणों से घिरे हुए हैं। आगे भी उन्होंने कहा है कि शरीर को रोगों ने, यौवन को बुढ़ापे ने, ऐश्वर्य को विनाश ने तथा जीवन को मृत्यु ने घेर रखा है[3] तब ऐसी स्थिति में हे साधक, क्यों इन पर ममत्व भाव रखते हो। तुम्हारा यह जो शरीर है, वह तो वैसे ही प्रतिक्षण गला जा रहा है'।[4] यद्यपि शरीर सभी

---

१. सुविदियं जगस्स भान्ते निसंगओ निब्भओ निरासो व।
वेरग्ग भाविअयणो झाणं सुनिच्चलो होइ ॥ ध्यानशतक, गाथा ३५

२. जीवियं चेव रूपं च, विज्जुसंपाय-चंचलं।
जत्थ तं मुज्झसी रायं पेच्चत्थं नावबुज्झये ॥ उत्तरा०, १८.१३

३. वपुर्विद्धिरुजाक्रान्तं जरा कान्तं च यौवनम्।
ऐश्वर्यं च विनाशान्तं मरणान्तं च जीवितम् ॥ ज्ञानार्णव, सर्ग २ अनित्यभावना, श्लोक १०

४. प्रतिक्षणं शीर्यन्ते इति शरीराणि। स्थानांग० ५०१ अभयदेवसूरि, टीका

पुरुषार्थों को सिद्धि का फल है फिर भी वह प्रचण्ड पवन से छिन्न-भिन्न बादलों के समान विनाशशील है।[1]

जिस शरीर से मानव इतना मोह करता है वह तो प्रातःकालीन घास के अग्रभाग पर पड़े हुए ओस-बिन्दु के समान बड़ा ही चंचल ,है जैसे वह वायु के झोंके के लगने से मिट्टी में मिल जाता है, वैसे ही मानव शरीर भी मौतरूपी वायु के झोंको के थपेड़ों को न सहता हुआ धराशायी हो जाता है।[2] इसलिए हे गौतम ! तुम क्षण भर भी प्रमाद मत करो, क्योंकि वह शरीर अनित्य है।[3] अशाश्वत है[4] एकमात्र आत्मा ही शाश्वत एवं ज्ञानमयी है।

यह समस्त लक्ष्मी भी वैसे ही चंचला है जैसे दीपक की लौ हवा के झोंके से कांपने लगती है। कोई पता नहीं कब तीव्र हवा का झोंका आए और इस दीपक को बुझा दें। तब हे मूढमति सत्त्व ! तू क्यों 'यह मेरी है' ऐसा मानकर हृदय से प्रसन्न हो रहा ?[5] जब इस प्रकार लक्ष्मी को भी विनाश रूपी हवा के झोंके लगते रहते हैं तब इसका भी कोई भरोसा नहीं, इसका कोई पता भी नहीं कि यह कब नष्ट हो जाए। फिर भी इसके पीछे सभी लगे रहते हैं, जिसे सभी परिजन लेना भी चाहते हैं, चुराना चाहते हैं, राजा गण विविध कानूनों से इसे हड़पना चाहते हैं। अग्नि जिसे जला देती हैं, पानी बहा ले जाता है, जमीन में गड़ा धन यक्ष निकाल ले जाते हैं और यदि इसे बचा कर रखा भी जाए तो कुपुत्र उड़ा खा लेते हैं। ऐसे खतरे वाले और बहुत लोगों के हाथ

---

१. शरीरं देहिनां सर्वपुरुषार्थनिबन्धनम् ।
प्रचण्डपवनोद्धूतं धनाधनविनश्वरम् ॥ योगशास्त्र, ४.५८

२. कुसग्गे जह ओसबिन्दुए, थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए ।
एवं मणुयाणजीवियं संयमं गोयम मा पमायए ॥ उत्तरा०, १०.२

३. इमं सरीरं अणिच्चं। उत्तरा०, १९.१३

४. असासए सरीरम्मि। वही, १९.१४

५. वातोद्वेल्लितदीकपाङ्कुरसमां लक्ष्मीं जगन्मोहिनाम् ।
दृष्टवा किं हृदि मोदसे हतमते मत्वाममश्रीरिति ॥ भा०शा०, श्लोक २

की कठपुतली बनने वाले धन को धिक्कार है ।[1]

यहां आचार्य कहते हैं कि लक्ष्मी समुद्र की तरंगों के समान चंचल है, प्रियजनों का संयोग स्वप्नवत् क्षणिक है और यौवन वायु के समूह द्वारा उड़ाई गई आक (पौधा विशेष) की रुई के समान अस्थिर है ।[2] ऐसे वैचित्र्य प्रधान जगत् की नश्वरता देखकर मानव को अपने स्थिर चित्त से क्षण-क्षण में तृष्णारूपी काले भुजंग का नाश करने वाले निर्ममत्व भाव को जागृत करने के लिए अनित्यभावना का सदैव चिन्तन करना चाहिए ।[3]

इस तरह जो समस्त विषयों को क्षणभंगुर जानकर उनके प्रति अवशिष्ट महामोह को त्याग कर मन को निर्विषय बनाता है वह सुख को प्राप्त होता है ।[4]

(२) अशरणभावना

अनित्यता का बोध होने पर साधक को विचार करना चाहिए कि जो वस्तु अनित्य है तो वह हमारी रक्षक भी नहीं हो सकती। अनित्य पदार्थ कालशत्रु के द्वारा आक्रमण करने पर मानव को शरण देने में असमर्थ हैं, जो स्वयं ही स्थिर और अशाश्वत हैं, वह मृत्यु से बचाने में कैसे समर्थ हो सकता है। अशरणभावना का दिग्दर्शन कराते हुए **उत्तराध्ययनसूत्र** में कहा गया है कि जैसे कोई सिंह जब मृगों के समूह में से किसी एक

---

१. दायादाः स्पृशयन्ति तस्करगणाः मुष्णन्ति भूमीभुजो
गृण्हन्ति च्छलमाकल्य्यहुतभुग् भस्मी करोति क्षणात् ।
अम्भः प्लावयति क्षितो विनिहितं, यक्षा हरन्ते हठाद्
दुर्वृनास्तनया नयन्ति निधनं, धिक् बह्वधीनं धनम् ॥ सिन्दूरप्रकरण, श्लोक ४४

२. कल्लोलचपलालक्ष्मीः संगमाः स्वप्नसन्निभाः ।
वात्याव्यतिरेकोत्क्षिप्ततूलतुल्यं च यौवनम् ॥ योगशास्त्र, ४.५९

३. इत्यनित्यं जगद्वृत्तं स्थिरचित्तः प्रतिक्षणम् ।
तृष्णा-कृष्णाहि मन्त्राय निर्ममत्वाय चिन्तयेत् ॥ वही, ४.६०

४. चइऊण महामोहं विसए सुणिऊण भंगुरे सव्वे ।
णिव्विसयं कुणह मणं जेण सुहं उत्तमं लहह ॥ स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, श्लोक २२

मृग को उठा कर ले जाता है, शेष सभी मृग दूर खड़े देखते रह जाते हैं बल्कि अपनी-अपनी जान बचाने के लिए इधर-उधर छिप जाते हैं तब कोई भी उसे सिंह के मुख से छुड़ाने में समर्थ नहीं होता, वैसे ही स्थिति संसारी मनुष्यों की है। उसे मृत्यु के मुख से कोई भी नहीं छुड़ा सकता—

जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मं सहरा भवंति ॥[1]

काल मृत्यु के सामने किसी की कुछ भी नहीं चलती, वह बड़ा बलवान् है। जब कालरूपी सिंह आता है तो माता-पिता, भाई-बन्धु आदि सभी एक ओर खड़े हो देखते रहते हैं, विवश होकर बिलखते तो हैं ही किन्तु किसी में इतनी शक्ति नहीं कि वे उस प्राणी को काल के मुख से बचा लें।[2]

काल ऐसा निर्दयी है कि किसी को भी अपने पंजे से नहीं छोड़ता। राजा हो, या रंक, चक्रवर्ती हो अथवा तीर्थङ्कर देव भी क्यों न हो उससे कोई भी नहीं बच पाता। काल के आक्रमण होने पर सभी के सारे के सारे उपाय रखे रह जाते हैं। कुछ भी काम नहीं आते। यदि कुछ काम आता भी है तो वह है मनुष्य का निष्काम भावमयी ज्ञान, मैत्रीगुण और सद्व्यवहार। चाहे प्राणी वज्र के समान सशक्त सुदृढ़ भवन में प्रविष्ट होकर उसके द्वार ही बन्द क्यों न कर लें और सोचे कि जहां काल नहीं आएगा, अथवा उसके आने पर सत्त्व प्राणों की भीख मांगे, तब भी मृत्यु उसे नहीं छोड़ती।[3] इसी का तो नाम समदर्शी है जो छोटे-बड़े सभी को अपना भोज्य बना लेती है।[4]

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र १३.२२

२. पितुर्मातुः स्वसुर्भ्रातुस्तनयानाञ्च पश्यताम्।
अत्राणो नीयते जन्तुः कर्मभिर्यमसद्मनि ॥ यो०शा० ४.६२

३. ऐसा ही भाव धम्मपद गाथा १२८ में भी व्यक्त किया गया है यथा
न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे न पब्बतानं विविरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो यत्थट्ठितं न प्पसहेय्य मच्चू ॥

४. प्रविशति वज्रमये यदि सदनेतृणमथ घटयति वदने।
तदपि न मुंचति हत समवती निर्दय पौरुषवर्ती।
विनय ! विधीयतां रे श्री जिनधर्मशरणम् ॥ शा०रस० भा० २.३

जब यह कालरूपी बाज प्राणियों पर झपट्टा मारता है, तब देखता नहीं कि यह बूढ़ा है अथवा जवान या कि बच्चा है। किसी भी तरह का कोई विचार वह नहीं करता। बस यह तो आयु के समाप्त होने पर चुपचाप उसके प्राणों को छीन ले जाता है।[1] गीता में कहा है कि जो जन्मा है उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है : **जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः**।[2]

इतना ही नहीं बल्कि यह भी किसी को कुछ ज्ञात नहीं हो पाता कि मृत्यु आएगी तो कब आवेगी।[3] आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि 'मणि, मन्त्र, तन्त्र, औषधि, हाथी, घोड़े अथवा सैनिक अथवा कोई भी विद्या मृत्यु के मुख में फंसे हुए प्राणी को नहीं बचा सकती—

मणिमन्तो सहरक्खा हयगय रहणो य सयलविज्जाओ।
जीवाणं वा हि मरणं तिसु लोगमरण समयम्मि॥[4]

यो यह सोचता है कि यह धन वैभव मेरी रक्षा करेगा, ये मेरे परिजन हैं, मैं इनका हूं, यह मेरी रक्षा करेंगे, तो यह उसकी भ्रान्ति है परन्तु मृत्यु के आने पर कोई शरण नहीं है।[5]

भावनाशतक में भी कहा हैं कि धन दौलत, राज्य, वैभव, नौकर एवं सुन्दर नारियां तभी तक सहायक हैं जब तक पुण्य प्रबल है किन्तु जब पुण्य क्षीण होने लगता है तो मृत्यु के गाल में समा जाते हैं और श्मशान ही उसकी एक मात्र शरण स्थली बन जाती है।[6]

---

१. डहरा बुड्ढा य पासह, गब्भत्थावि चयन्ति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे एवं आउखयम्मि तुट्टई॥ सूत्रकृतांगसूत्र १, अ० २, उ. १ श्लो २

२. गीता, २.२७

३. नाणागमोमच्चुमुहस्स अत्थि। आचारांगसूत्र १.४.२

४. दे० बारसअणुवेक्खा, असरणभावना तथा मिला० मणि मन्त्र तन्त्र बहु होई, मरते न बचावे कोई। छहढाला, ५.४

५. वित्तं पसवो य नाइयां, तं बाले सरणं ति मन्नइ।
एए मम तेसु वि अहं, नो ताणं सरणं न विज्जइ॥ सूत्रकृतांगसूत्र, १.२.३.१६

६. राज्यं प्राज्यं क्षितिरतिफलाकिङ्कराकामचारा:
साराहारामदनसुभगा भोगभूम्यां रमण्यं।
एतत् सर्वं भवति शरणं यावदेव स्वपुण्यं
मृत्यो तु स्यान्न किमपि विनाऽरण्यमेकशरण्यम्॥ भा०शत०. श्लोक, १६

अतः इस अशरण भूत संसार में धर्म ही एक सहारा अथवा शरण है, वह ही रक्षक है। जन्म, जरा, मृत्यु, भय, रोग एवं शोक आदि से पीड़ित जनों का संसार में जिनेश्वरदेव के उपदेश और उनके द्वारा निर्देशित धर्म ही त्राता और एकमात्र शरण है।[1] उसके सिवाय कोई रक्षक बचाने वाला नहीं है।[2]

जरा-मृत्यु के वेग में बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म ही एक ऐसा द्वीप है, उत्तम गति है और शरण है तथा ठहरने का स्थान है जहां जाकर जो प्राणी भयभीत है, वह निर्भय हो जाता है और उसे वह धर्म ही एकमात्र शरण स्थल है जहां वह शान्ति पूर्वक रह सकता है।[3]

संसार में यदि कोई मनुष्य का सच्चा साथी है तो वह है—धर्म जब धन-सम्पत्ति, पुत्र-पत्नी एवं स्वजन आदि सब साथ छोड़ देते हैं, तब एक मात्र धर्म ही प्राणी के साथ परलोक में जाता है[4] और उसी के कारण यथायोग्य गति एवं गोत्र आदि पाता है। इसलिए धर्म ही श्रेयस्कर है क्योंकि इसी से ही सच्चा सुख और मोक्ष मिलता है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप धर्म ही शरण है। परम श्रद्धा के साथ उसी को अपनाना चाहिए। इनके अतिरिक्त संसार में कोई शरण नहीं है।[5] आत्मा को क्षमा आदि उत्तम भावों से युक्त करना भी शरण है क्योंकि जो कषायों से आविष्ट है, वह स्वयं ही अपना घात करता है।[6]

---

१. जन्मजरामरणभयैरभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते।
जिनवरवचनादन्यत्र नास्ति शरणं क्वचिल्लोके ॥ प्रश०प्र०, श्लोक १५२

२. एक्कोहि धम्मो नरदेव ताणं।
न विज्जइ अन्नमिहेह किंचि ॥ उत्तरा०, १४.४०

३. जरामरणवेगेणं वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य गई सरणमुत्तमं ॥ वही, २३.६८

४. विमुखा बान्धव यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति। मनुस्मृति, ३.२४१

५. दंसण-नाण-चरित्तसरणं सेवेहि परमसद्धाए।
अण्णं किं पि ण सरणं संसारे संसरंताणं ॥ स्वामिकार्तिक०, गा० ३०

६. अप्पाणं पि य सरणं खमादिभावेहि परिणदं होदि।
तिव्वकसायाविट्ठो अप्पाणं हणदि अप्पेण। वही, गा० ३१

(३) संसारभावना

इसमें साधक संसार के स्वरूप और उसके वैचित्र्य पर विचार करता है। संसार का अर्थ ही है—संसरण करना, गमन करना, चलते रहना, एक भव से दूसरे भव में भ्रमण करते रहना आदि—**संसरणं संसारः। भवाद् भवगमनं नरकादिषु पुनर्भ्रमणं वा।**

संसार के स्वरूप का वर्णन करते हुए **स्थानांगसूत्र** में बताया गया है कि संसार चार प्रकार है[1]—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसंसार। धर्माधर्मास्ति आदि यह षड्द्रव्यरूप द्रव्यसंसार है। चौदह राजुप्रमाण जगत् क्षेत्रसंसार है। दिन-रात, पक्ष-मास, पुद्गल परावर्तन तक का कालप्रमाण कालसंसार है। कर्मोदय के कारण जीव के राग-द्वेषात्मक जो परिणाम होते हैं, जिनके फलस्वरूप प्राणी जन्म मरण करता हैं उसी का नाम भावसंसार है।

संसार चतुर्गत्यात्मक भी बतलाया गया है[2] वे चार गतियां हैं—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति। इन चारों गतियों के चौबीस दण्डक भी होते हैं और उनकी चौरासी लाख योनियां (उत्पत्ति स्थान) हैं।[3]

आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि संसार अनादि हैं, इसमें चार गतियां हैं। जीव अनन्त पुद्गल परावर्तों में से गुजरता है। ऐसे अनन्त पुद्गल परावर्त व्यतीत हो चुके हैं।[4]

आचार्य हेमचन्द्र संसार की विचित्रता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि संसारी जीव संसार रूपी नाटक में नट की भाँति चेष्टाएं करता है। विद्वान् कभी मरकर चाण्डाल बन जाता है तो कभी स्वामी अथवा सेवक के रूप में उत्पन्न होता है और प्रजापति भी कीट के रूप में जन्म लेते

---

१. दव्वसंसारे, खेत्तसंसारे, कालसंसारे भावसंसारे। स्थाना० ४.१.२६१

२. णेरइयसंसारे, तिरियसंसारे, मणुस्ससंसारे, देवसंसारे। स्थानां० ४.१.२६४

३. दे० भावनायोग एक विश्लेषण, पृ० १८६

४. अनादिरेषसंसारी नानागतिसमाश्रयः।
पुद्गलानां परावर्ता, अत्रानन्तास्तथा गताः॥ यो०बि०, श्लोक ७४

हैं।[1] माता मरकर कभी बेटा तो कभी पत्नी, भाभी, पुत्र तो कभी पिता और कभी भाई मरकर भी अपना शत्रु बन जाता है।[2]

यह संसार ही भयरूप है, दुःखों से घिरा हुआ है।[3] जैसे ज्वर आने पर मानव बेचैन रहता हैं, ऐसे ही संसार में प्रत्येक प्राणी बेचैन रहता है।[4] यहां पर विविध दुःख हैं। जन्म, जरा, रोग, मरण संयोग और वियोग आदि के दुःखों से संसार ओत-प्रोत है। जिधर देखो उधर दुःख ही दुःख है।[5] बुद्ध ने भी कहा है[6] कि यह संसार दुःखान्धकार से ढका हुआ है, प्रतिपल जलते हुए इस जगत में क्या तो हंसी है और क्या तो आनन्द ? सभी कुछ नष्ट हो जाने वाला है।

शरीर और मन की अनन्त वेदनाएं यहां पग-पग खड़ी है।[7] **भवगतीसूत्र** में कहा गया है कि यह संसार तो जन्म, जरा और मृत्यु की आग में धधक रहा है। हलवाई की भट्टी की भांति यहां दुःखों की ज्वाला प्रज्वलित है।[8] प्रतिदिन अनेकों प्राणी मृत्यु के मुख में, यमराज के घर

---

१. श्रोत्रियःश्वपचः स्वामी पतिर्ब्रह्माकृमिश्च सः।
संसारे नाट्ये नटवत् संसात् संसारी हन्त चेष्टते॥ यो०शा० ४.६५ तथा मि० सुमतिरमतिः श्रीमानश्रीःसुखीसुखवर्जितःसुतनुरतनुस्वामी-अस्वामीप्रियः स्फुटमप्रियः नृपतिरनृपःस्वर्गीतिर्यङ्नरोऽपि च नारकस्तदिति, बहुधा नृत्यत्यस्मिन् भवो भवनाटके। प्रवचनसारो० भाग-१, पृ० ४५७

२. माता भूत्वा दुहिता, भगिनी भार्या च भवति संसारे।
व्रजति सुतःपितृतां, भ्रातृतां पुनः शत्रुतां चैव॥ प्रशमरति, श्लोक १५६ तथा मिला०

अयणं भन्ते। जीवं, सव्वजीवाणं, माइत्ताए, पित्तिताए माइत्ताए, भगिणित्ताए, भज्जत्ताए, पुत्तत्ताए, धूयत्ताए, सण्हत्तार उववण्णपुव्वे ? हंतागोयमा। जाव अणंतखुत्तो॥ भगवतीसूत्र १२.७

३. पास लोए महब्भयं। आचारांगसूत्र ६.१

४. एगतं दुक्खं जरिए व लोयं। वही,

५. जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसंति जन्तुणो॥ उत्तरा० १६,१६

६. दे० धम्मपद. गा १४६

७. सारीरमाणसा चेव वेयणाउ अणंतसो॥ उत्तरा० १६.४६

८. आलित्तं पलितेणं लोए भन्ते। जराए मरणेण य। भगवतीसू० २.१

जा रहे हैं। कोई भी ऐसा दिन नहीं जिस दिन कोई काल कवलित न हो—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषा स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम ॥[1]

इस प्रकार संसार के स्वरूप को जानकर सम्यक्त्व, व्रत, ध्यान आदि समस्त उपायों से मोह को त्याग कर अपने शुद्ध ज्ञानमय स्वरूप का ध्यान करना ही श्रेयस्कर है—

इयं संसारं जाणिय मोहं सव्वायरेण चइऊण।
तं झायह ससहावं संसरणं जेण णासेइ ॥[2]

अतः संसार की विचित्रता का चिन्तना मनन करते रहना सुख-दुःख रूप इस संसार से विरक्त होना तथा उससे छूटने का निरन्तर विचार करना ही संसारभावना है।

(४) एकत्वभावना

एकत्वभावना में यह चिन्तन स्फुरित होता है कि दुःख रूपी ज्वालाओं से जलते हुए संसार में सारभूत तत्त्व क्या है ? धन, परिवार आदि सभी तो अनित्य और अशाश्वत हैं तब फिर इस विश्व में शाश्वत और सारभूत तत्त्व क्या है ? कौन ऐसी वस्तु है जो जीव के साथ-साथ सदैव चलती है। जब साधक ऐसी वस्तु की खोज करता है तब उसे ज्ञात होता है कि आत्मा ही केवल शाश्वत है और यह एकमात्र नित्य एवं एकाकी है। इस संसार में उसका कुछ भी नहीं और वह भी किसी का नहीं है।[3]

अतः साधक को आत्मा के शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए, जो कि एक विशुद्ध, अरूपी और ज्ञान-दर्शन स्वरूपी है। इसके अतिरिक्त जो बाहर दिखाई पड़ते हैं, माता-पिता, धन-वैभव आदि सभी आत्मा से भिन्न हैं, शरीर और आत्मा सर्वथा अलग-अलग हैं—

---

१. महाभारत, वनपर्व, युधिष्ठिर यक्षसंवाद
२. स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ७३
३. एगो अहमंसि न मे अत्थि कोई, न या ह मवि कस्सवि ॥ आचारांग० १.८.६

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाण मइयो सदारूवी।
णा वि अस्थि मज्झ किंचि वि, अण्णं परमाणुमित्तं पि ।।[1]

इस संसार में पड़ा हुआ यह जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही शुभाशुभ गतियों में भ्रमण करता है। इसलिए अकेले को ही अपना हित करना चाहिए।[2]

जब यह जीव यहां से प्रयाण करता है तब सब कुछ उसका यहीं छूट जाता है। यह अपने शुभाशुभा कर्मो का फल अकेला ही भोगता है— **एगो सयं पच्चुण होइ दुक्खं ।**[3]

इसीलिए शास्त्रों में कहा है कि एक अपने आपको जीतना युद्ध में हजारों वीरों को जीतने से बढ़ कर है तथा यही सबसे बड़ी विजय है—

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगे जिणेज्ज अप्पाणं एस सो परमो जयो ।।[4]

इस प्रकार पूरे प्रयत्न से शरीर से भिन्न एक जीव को जानो, उस जीव के जान लेने पर क्षण भर में ही शरीर, मित्र, स्त्री धन-धान्य आदि सभी वस्तुएं हेय प्रतीत होने लगती हैं—

सव्वायरेण जाणह इक्कं जीवं सरीरदो भिण्णं।
जम्मि दु मुणिदे जोवे होदि असेसंखणे हेयं ।।[5]

ऐसे आत्मा के एकत्वभाव का चिन्तन करना ही एकत्व भावना है।

(५) **अन्यत्वभावना**

आत्मा के अतिरिक्त शेष जितने भी तत्त्व हैं यथा धन, परिजन, चलाचल सम्पत्तिआदि ये अन्य हैं, पर हैं। ऐसा चिन्तन करनाही अन्यत्व भावना है। संसार के समस्त पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं अर्थात् शरीर

---

१. समयसार, गाथा ३८
२. एकस्य जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभाभवावर्ते।
तस्मादात्मिकहितमेकेनात्माना कार्यम् ।। प्रशमरति प्रकरण, श्लोक १५३
३. सूत्रकृत्तांग, १.५.२.२२, पृ० ६२८
४. उत्तरा० ९.३४ तथा मिला० धम्मपद, गाथा १०३
५. स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ७९

और शरीरी दो पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं। शरीरादि जड़ हैं जबकि आत्मा चेतन तत्त्व है। अतः उनका परस्पर एकत्व भाव नहीं है क्योंकि दोनों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है।[1] देह में अपनत्व बुद्धि होना अज्ञान जन्य है और देह का आत्मा से पृथकत्व बोध होना ही सद्ज्ञान है।[2]

यही भेद विज्ञान है, जो सम्यग्दृष्टि साधक का प्रथम लक्षण है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि—जो साधक अपने शुद्ध स्वरूप की अनुभूति करता है वही शुद्ध भाव को प्राप्त होता है और जो अशुद्ध भाव का चिन्तन करता है, वह अशुद्ध भाव को प्राप्त करता है।[3] गुण-दृष्टि से सिद्धात्मा और संसारी आत्मा में कोई अन्तर नहीं है—**आरिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीवा तारिसा होंती**[4] इसका चिन्तन करने से आत्मा तद्रूप होता है।

अतः आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए, जो बाह्य सम्बन्ध से केवल मृत्यु पर्यन्त ही है[4] इससे सिद्ध होता है कि वे आत्मा से भिन्न अन्य पदार्थ हैं। शास्त्र में भी कहा है—जब शरीर से प्राण निकल जाते हैं, तब तुच्छ शरीर को श्मशान में लें जाकर जला देते हैं और पत्नी पुत्र आदि अन्य दाता-संरक्षक की शरण लेते हैं।[5]

धन, पशु, ज्ञातिजन आदि को शरण मानने वाले मूढ़ हैं। वह इनके स्वभाव से परिचित नहीं है। वस्तुतः न ये किसी के रक्षक हैं और न इनका कोई रक्षक है। दोनों का सम्बन्ध क्षणिक और कृत्रिम हैं—

---

१. क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देह देहनोः।
भेदो यदि ततोऽन्येषु कलत्रादिषु का कथा॥ पंचवि, ६.४९
तथा मिला०—अन्यत्वभावनाशरीरस्य वैसादृश्याच्छरीरिणः।
धनबन्धुसहायानां तत्रान्यत्वं न दुर्वचम्॥ यो० शा०, ४.७०

२. देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥ अध्या०रा०, अयो०का० श्लोक ३३

३. सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेअप्पयं लहइ जीवो।
जाणंतो असुद्धं असुद्धप्पयं लहई॥ समयसार, गा० १८६

४. नियमसार, गा० ४७

५. तं इक्कगं तुच्छसरीरगं से चिईगयं डहियउपावगेणं।
भज्जा य पुत्ता वि य नायओ य दायारमन्नं अणुसंकमन्ति॥ उत्तरा०, १३.२५

> वित्तं पसवो य नाइओ, तं बाले सरणं ति मन्नइ।
> एए मम तेसु वि अहं नो ताणं सरणं विज्जई ॥[1]

ये कामभोग भी अन्य हैं और उनसे भिन्न यह आत्मा है। जब कामभोग वैभवादि आत्मा को किसी भी समय छोड़ सकते हैं तब फिर इनमें मूर्छा अर्थात् आसक्ति कैसी ?

> अन्ने खलु काम भोगा, अन्नो अहमंसि।
> से किं मंग पुणवयं अन्नमन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो ॥[2]

यह आत्मा स्वभाव से शरीरादि से विलक्षण भिन्न है।[3] जो महामति साधक अन्यत्वभावना से अपनी आत्मा को भावित करता है, उसके बाह्य पदार्थों का पूर्णतया नाश होने पर भी वह शोक नहीं करता,[4] क्योंकि जो आत्म तत्त्व है उसे कोई छिन्न-भिन्न अथवा नष्ट नहीं कर सकता।[5]

शरीरादि से आत्मा के भिन्न-चिन्तन को अन्यत्व अनुप्रेक्षा कहते हैं। अन्यत्व का चिन्तन करते हुए भी यदि यथार्थ में भेदज्ञान न हुआ, तो वह चिन्तन भी कार्यकारी नहीं होता।[6]

इस प्रकार समस्त पर पदार्थों से आत्मा को सदा भिन्न जानना तथा आत्मा और शरीर में अन्यत्व का बोध रखना, यही अन्यत्वभावना

---

१. सूत्रकृतांगसूत्र, १.२.३१६
२. वही, २.१.१३, पृ० ७५
३. अयमात्मास्वभावेन शरीरादेर्विलक्षणः। ज्ञानार्णव सर्ग २, अन्यत्व भा० श्लोक १
४. अन्यत्वभावनामेवं यः करोति महामतिः।
तस्य सर्वस्वनाशेऽपि, न शोकांशोऽपि जायते ॥
प्रवचनसारोद्धार भाग-१, द्वार ६७, अन्यत्वभावना, श्लोक १
५. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्ति आपो, न शोषयति मारुतः॥ गीता २.२३
तथा मिला०—सुहं वसामो जीवामो, जेसिं मे नत्थि किंचण।
मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचण ॥ उत्तरा०, ९.१४
६. एवं बाहिरदव्वं जाणदि रूवा दु अप्पणो भिण्णं।
जाणंतो वि हु जीवो तत्थेव हि य रच्चदे मूढो ॥ स्वामि कार्ति०, गा० ८१

की फलश्रुति है।

(६) लोकभावना

सभी प्राणी लोक में रहते हैं। साधक भी अशुद्ध अवस्था में लोक में रहता है और पूर्णशुद्ध अवस्था में भी लोक में ही रहेगा। अतः आत्मा का आवास एवं विकास और आधार लोक ही है। इसलिए लोकभावना में लोक का स्वरूप, आकार-प्रकार उसकी रचना के मूल तत्त्व क्या हैं ? यहां साधक उसके नित्यानित्यत्व आदि का चिन्तन करता है।

दूसरे, लोक के स्वरूप का चिन्तन वही करता है जिसे लोक परलोक पर विश्वास होता है। जो कर्मफल को मानता है। इसलिए भगवान महावीर ने कहा है—आध्यात्मिक विकास चाहने वाला आत्मा एवं लोक का अपलाप नहीं करता।

लोकस्वरूप का चिन्तन हमें आत्माभिमुख करता है। इसलिए सूत्रकृतांग में कहा है कि यह मत सोचो कि लोकालोक नहीं है किन्तु विश्वास करो कि लोकालोक है, जीवाजीव हैं।[1]

लोक का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि धर्माधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, ये छः द्रव्य जहां पाए जाते हैं, वही लोक है—

धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गलजन्तवो।
एस लोगोत्ति पण्णत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥[2]

यह लोक अनादि है, स्वयं सिद्ध है, इसका कोई कर्त्ता नहीं और यह जीवादि से भरा है। यह अविनाशी है।[3] यह आकाश में स्थित है।[4] लोक का कोई भी ऐसा भाग नहीं है जहां जीवादि षड्द्रव्य न हो क्योंकि

---

१. णत्थि लोए अलोए वा णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि लोए अलोए वा एवं सन्नं निवेसए॥ सूत्रकृ० २.५.१२

२. उत्तराध्ययनसूत्र, २८.७

३. अनादिनिधनः सोऽयं स्वयं सिद्धोऽप्यनश्वरः।
अनीश्वरोऽपि जीवादिपदार्थैः संभृतो भृशम्॥ ज्ञाना०सर्ग २ लोकभावना श्लोक ४

४. स्वयं सिद्धो निराधारो गगने किन्त्ववस्थितः। योगशा० ४.१०६

इनका अवकाश ही लोक है—लोकाकाशेऽवगाहः ।[1]

लोक के अधः, मध्य और ऊर्ध्व ये तीन भाग हैं। अधोलोक में सात नरक भूमियां हैं जो घनोदधि (जमा हुआ पानी), घनवात (जमी हुई वायु) और तनुवात (पतली वायु) से वेष्टित है। ये तीनों इतने प्रबल हैं जिससे ही यह पृथ्वी धारण की हुई है।[2]

यह लोक अधोभाग में वेत्रासन के आकार का है अर्थात् नीचे विस्तार वाला और ऊपर क्रमशः सिकुड़ा हुआ है। मध्य में झालर के आकार का और ऊपर मृदंग के समान है। तीनों लोकों की यह आकृति मिलकर लोकाकाश बनता है।[3] जो साधक उपशम परिणामरूप परिणत होकर, लोक के स्वरूप का ध्यान करता है, वह कर्मपुञ्ज को नष्ट करके लोक शिखामणिरूप सिद्धत्व को प्राप्त होता है।[4] सिद्ध, मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार लोकभावना में लोकस्वरूप को समझकर साधक भवभ्रमण से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ५.१२

२. लोको जगत्त्रयाकीर्णाभुवः सप्तात्र वेष्टिताः।
घनाम्भोधि महावात तनुवतैर्महाबलः॥ योगशा०, ४.१०४
तथा मिला०
वेष्टितः पवनः प्रान्ते महावेगैर्महाबलैः।
त्रिभिस्त्रिभुवनाकीर्णो लोकस्तालतरुस्थितिः॥ ज्ञानार्णव सर्ग २, लोकभावना, श्लोक २

३. वेत्रासनसमोऽधस्तान्मध्यतो झल्लरीनिभः।
अग्रे मुरजसंकाशो लोकः स्यादेवमाकृतिः॥ योगशा०, ४.१०५
तथा मिला०—
अधो वेत्रासनाकारो मध्ये स्याज्झल्लरीनिभः।
मृदङ्गसदृशश्चाग्रे स्यादित्थं स त्रयात्मकः॥ ज्ञानार्णव सर्ग २, लोक भावना श्लोक ५

४. एवं लोयसहावं जो झायदि उवसमेक्कसब्भावो।
सो खविय कम्मपुंजं तिल्लोयसिहामणी होदि॥ स्वामिकार्तिकेया०, गा० २८३

(७) **अशुचिभावना**

अशुचिभावना के अन्तर्गत साधक शरीर के अन्दर रही हुई आसक्ति को क्षय करता है। शरीर चाहे बाहर से देखने पर सुन्दर और आकर्षक दिखाई पड़ता हो किन्तु जैसे यहां आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं कि यह शरीर तो अनेक दुर्गन्धित पदार्थों से भरा हुआ है। यह रक्त, मांस, मज्जा एवं मल-मूत्र आदि से लिपटा हुआ है।[1] अतः शरीर के प्रति ममत्व अथवा प्रेमभाव रखना मूर्खता है। जब इस शरीर में मल मूत्रादि अशुचि पदार्थ भरे हुए हैं तो यह आत्मा पवित्र कैसे हो सकता है ?[2]

यह शरीर अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक पदार्थ को भी वैसे ही अपवित्र बना देता है जैसे लवण सागर में पड़ते ही प्रत्येक वस्तु लवणमय हो जाती है, ऐसे ही इस शरीर में जो भी पदार्थ डाला जाता है वह भी दुर्गन्धमय हो जाता है, यही इसकी अशुचिता है।[3]

भगवतीसूत्र में शरीर की अशुचिता का वर्णन करते हुए बताया है कि यह शरीर दुःखों का घर है। यह हजारों रोगों का उत्पत्ति स्थल है। यह हड्डियों के आधार पर टिका है। नाड़ियों और नसों से जकड़ा हुआ है। मिट्टी के कच्चे घड़े के समान कमजोर भी है। अशुचिमय पदार्थों से पूर्ण तथा जरा (बुढ़ापे) और मृत्यु से घिरा है, सड़ना गलना इसका

---

१. असृग्मांसवसाकीर्णं शीर्णं कीकसपंजरम्।
शिरानद्धं च दुर्गन्धं क्व शरीरं प्रशस्यते ॥ ज्ञानार्ण, सर्ग २, अशुचि भावना, श्लोक ३

२. रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रान्त्रवर्चसाम्।
अशुचीनां पदं कायः शुचित्वं तस्य तत्कुतः ॥ योगशा०, ४.७२

३. लवणाकरे पदार्था पतिता लवणं यथा भवतीह।
काये तथामलास्युस्तदसावशुचिसदाकायः ॥
प्रवचनसारोद्धार द्वार ६७, अशुचि भावना श्लोक १

तथा मिला०—
कर्पूरकुंकुमागुरुमृगमदहरिचन्दनादिवस्तूनि।
भव्यान्यपि संसर्गान्मलिनयति कलेवरं नृणाम् ॥ ज्ञानार्ण सर्ग २, अशुचि भावना, श्लोक १२

स्वभाव है, इस विनाशशील शरीर को देर व सबेर छोड़ना ही पड़ता है।[1]

आचार्य उमास्वाति बतलाते हैं कि इस शरीर का आदि रज और वीर्य है और ये दोनों ही अपवित्र हैं। जिसके दोनों ही कारण अपवित्र हैं वह भला पवित्र कैसे हो सकता है। अतएव इस तत्त्व पर सम्यक् विचार करना चाहिए।[2] इस शरीर के नौ द्वारों से निरन्तर दुर्गन्ध बहता रहता है। ऐसे अपावन देह में पवित्रता की कल्पना करना महान् मोह की विडम्बना है।[3]

जो दूसरों के शरीर से विरक्त है और अपने शरीर से अनुराग नहीं करता तथा आत्मा के शुद्ध चिद्रूप में लीन रहता है उसी की भावना करना अशुचिभावना है—

जो परदेहविरत्तो णियदेहे ण य करेदि अणुरायं।
अप्पसरूवि सुरत्तो असुइत्ते भावणा तस्स ॥[4]

इस प्रकार शरीर की अपवित्रता का निरन्तर विचार करते हुए उसके प्रति रही हुई आसक्ति को समाप्त करना ही अशुचि भावना है।

(८) आश्रवभावना

आत्मा परमात्मा में यदि कोई अन्तर करता है तो वह है—कर्म। आत्मा कर्मों से आवृत्त है और परमात्मा कर्मों से निरावृत्त। कर्म

---

१. एवं खलु अम्मयाओ। माणुस्सगं सरीरं दुक्खाययणं विविहवाहि सय सन्निकेयं अट्ठिकट्ठुट्ठियं छिराए हासजालडवणद्धंसपिणद्धं मट्टियभंडं व दुब्बलं असुइ संकिलिट्ठं अणिट्टविय सव्वकालसंठप्पयं जरा कुणिम जज्जरधरं च सडण पडणविद्धंसण धम्मं।
भगवतीसूत्र ६.३३

२. अशुचिकरणासामर्थ्यादाद्युत्तरकारणाशुचित्वाच्च।
देहस्याशुचिभावः स्थाने-स्थाने भवति चिन्त्यः ॥ प्रशमरति प्रकरण, श्लोक ११५

३. नवस्रोतः स्रवद्विस्ररसनिःस्यन्द पिच्छिले।
देहेऽपि शौचसंकल्पो महन्मोहविजृम्भितम् ॥ योगशास्त्र, ४.७३

४. स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ८७

आत्मा को आवृत्त क्यों करते हैं? इसका चिन्तन करना ही आश्रव-भावना है।

आश्रव का लक्षण करते हुए आचार्य उमास्वाति कहते हैं कि शरीर, वाणी और मन को योग कहा जाता है, वही आश्रव है—**कायवाङ्मनः कर्मयोगः। स आश्रवः।**[1] इन्हीं मन, वचन और काया की शुभाशुभ प्रवृत्तियों से कर्मों का बन्ध होता है। इस कारण मन, वचन काया का व्यापार ही आश्रवद्वार है।[2] आश्रवों का निरोध जब तक नहीं हो जाता है तब तक कर्म आत्मा को आवृत्त करते रहते हैं। ठीक वैसे ही जैसे नदी के उद्गम स्थान पर धुआंधार वर्षा होने पर नदी के प्रवाह को नहीं रोका जा सकता ऐसे ही मन, वचन एवं काया की प्रवृत्ति को विशुद्ध किए बिना कर्मावृत्तत्व नहीं रोका जा सकता।

मिथ्यात्व कषाय आदि के भेद से आश्रव भी २० प्रकार का बतलाया गया है।[3] जबकि स्वामी कार्तिकेय कषाय के ५७ भेद करते हैं। जो इन कषायों का त्याग करता है उसी योगी की आश्रव अनुप्रेक्षा सफल होती है:

एदे मोहयभावा जो परिवज्जेह उवसमे लीणो।
हेयंति मण्णमाणो आसव अणुवेहणं तस्स ॥[4]

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ६.१-२

२. मनस्तनुवचः कर्म योग इत्यभिधीयते।
स एवाश्रव इत्युक्तस्तत्त्वज्ञानविशारदैः॥ ज्ञानार्णव, सर्ग २, आस्रवभावना, श्लोक १
तथा मिला०—
मनोवाक्कायकर्माणि योगाः कर्मशुभाशुभम्।
यदाश्रवन्ति जन्तूनामाश्रवास्तेन कीर्तिताः॥ योगशा०, ४.७४
तथा, मनोवचो वपुर्योगः, कर्म येना शुभं शुभम्।
भविनामाश्रवन्त्येते प्रोक्तास्तेनाश्रवाजिनैः॥
प्रवचनसारोद्धार ६७, प्रथम भाग आश्रव भावना श्लोक १

३. विशेष के लिए दे० - प्रश्नव्याकरणसूत्र, आश्रव द्वार

४. स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ९४ तथा उसकी व्याख्या, पृ० ४६

आश्रवों के निरोध का उपाय बतलाते हुए महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि—अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त की वृत्तियां रुक जाती हैं।[1]

इस प्रकार शुभाशुभ कर्माश्रव का विचार करके उनके विरोध के उपायों पर चिन्तन करना ही आश्रवभावना है।

१. **संवरभावना**

संवरभावना के अन्तर्गत साधक कर्मास्रव को रोकने के उपायों पर चिन्तन एवं मनन करता हुआ उन्हें पूर्णरूप से निरुद्ध करने की कोशिश करता है। संवर का लक्षण बतलाते हुए आचार्य कहते हैं—**आस्रवनिरोध संवरः**—आस्रव का रुक जाना संवर है।[2] यह संवर द्रव्यसंवर एवं भावसंवर के भेद से दो प्रकार का होता है। कर्मास्रव का रुकना द्रव्यसंवर कहा जाता है तो भव-भ्रमण की कारणभूत क्रियाओं का त्याग करना भाव-संवर है।[3]

आगमग्रन्थों में संवर को मिथ्यात्व कषाय आदि के भेद से ५ भेदों में विभक्त किया गया है[4] जबकि **प्रश्नव्याकरणसूत्र** और **स्थानांगसूत्र** में

---

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगदर्शन १.२
तथा मिला०—असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।।
अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते।। गीता ६.३५

२. तत्त्वार्थसूत्र ९.१

३. सर्वास्रवनिरोधो यः संवरः स प्रकीर्तितः।
द्रव्यभावविभेदेन स द्विधा भिद्यते पुनः।। ज्ञानार्णव सर्ग ३, संवरभावना श्लोक १
तथा मिला०—सर्वेषामाश्रवाणां तु निरोधःसंवरः स्मृतः।
स पुनर्भिद्यते द्वेधा द्रव्यभाव विभेदतः।
यः कर्मपुद्गलादानच्छेदः स द्रव्यसंवरः।
भवहेतुक्रियात्यागः स पुनर्भावः संवरः।। योगशा०, ४.७९-८०
आश्रवाणां निरोधो यः, संवरः स प्रकीर्तितः।
सर्वतो देशतश्चेति द्विधा स तु विभज्यते।। प्रवचनसारोद्धार द्वार १७, संवरभावना श्लोक १

४. दे० प्रश्नव्याकरणसूत्र, संवर द्वार

संवर के २० भेद गिनाए गए हैं ।[1] इसी आगम स्थानांगसूत्र में ही एक दूसरे स्थान पर संवर के ५७ भेद भी बतलाए गए हैं ।[2]

संवर में दृढ़ हुए साधक की तुलना वीर योद्धा से करते हुए आचार्य शुभचन्द्र बतलाते हैं कि जैसे सब प्रकार से सधा हुआ योद्धा युद्ध में बाणों से घायल नहीं होता वैसे ही संवरभावना का धारक साधक भी संसार में कर्मों से लिप्त नहीं होता ।[3]

जब साधक साधना के द्वारा समस्त कल्पनाओं के जाल को छोड़कर अपने स्वरूप में मन को स्थिर करता है तब ही वह परम संवर का धारक होता है ।[4]

जो संवर के कारणों को जानता हुआ भी उन्हें अपने आचरण में नहीं लाता है, वह दु:खों से संतप्त होकर चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता है ।[5] अतएव साधक का संवर की भावना से अपनी आत्मा को भावित करना ही संवरभावना है ।

(१०) निर्जराभावना

संवरभावना में साधक कर्मस्रोत का निरोध करता है । निर्जराभावना में वही पूर्व संचित कर्मसमूह को वैसे ही विनष्ट किया जाता है जैसे किसी बड़े तालाब में जल भरने के द्वार को रोक देने पर पहले से भरे जल को उलीच कर तालाब को रिक्त कर दिया जाता है अथवा सूर्य के ताप से उसे सुखा दिया जाता है, ऐसे ही संवर से कर्म जल रूपी

---

१. स्थानांगसूत्र १०.७.९

२. स्थानांगसूत्र, वृत्ति स्थान-१

३. असंयममयैर्बाणैः संवृतात्मा न भिद्यते ।
यमी तथा सुसन्नद्धो वीरः समरसंकटे ॥ ज्ञानार्णव सर्ग २, संवर भावना श्लोक ४

४. विहायकल्पनाजालं स्वरूपे निश्चलं मनः ।
यदाधत्ते तदैव स्यान्मुनेः परम संवरः ॥ वही, श्लोक ११

५. एदे संवरहेदुं वियारमाणो वि जोण आयरइ ।
सो भमइ चिरं कालं संसारे दुक्खसंतत्तो ॥ स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० १००

स्रोत अवरुद्ध किया जाता है और संयम एवं तप के द्वारा करोड़ों भवों के पूर्व-बद्ध कर्मों की भी निर्जरा करके साधक उन्हें नष्ट कर देता है—

> जहामहातलागस्स सन्निरुद्धे जलागमे
> उस्सिंचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे।
> एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे
> भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ ॥[1]

निर्जरा क्या है ? पूर्व संचित कर्मों अर्थात् संसार के बीजरूप कर्मों का क्षय करना ही निर्जरा है। यह सकाम और अकामनिर्जरा के भेद से दो प्रकार की होती है।[2] संयमी महामुनि तपस्या द्वारा कर्मसमूह को नष्ट करता है, इससे उसकी सकामनिर्जरा होती है, जबकि शेष प्राणियों की अकामनिर्जरा होती है।[3]

यद्यपि कर्म अनादिकाल से आत्मा के साथ लगे हुए हैं फिर भी साधक ध्यानरूपी अग्नि से उन्हें वैसे ही नष्ट कर देता है जैसे अग्नि से सोने का मेल नष्ट होकर, जल कर सोना शुद्ध हो जाता है, ऐसे तपस्या से कर्मों की निर्जरा होने पर आत्मा परम विशुद्ध हो जाती है।[4]

इस प्रकार साधक को लौकिक अथवा अलौकिक हेतु को छोड़कर

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र ३०.५-६

२. यया कर्माणि शीर्यन्ते बीजभूतानि जन्मनः।
प्रणीता यमिभिः सेयं निर्जरा जीर्णबन्धनैः ॥ ज्ञानार्णव सर्ग २ निर्जराभावना श्लोक १
तथा मिला०—संसारबीजभूतानां कर्मणां जरणादिह।
निर्जरा सा स्मृता द्वेधा सकामाकामवर्जिता ॥ यो०शा०, ४.८६
संसारहेतुभूताया, यः क्षयः कर्मसन्ततेः।
निर्जरा सा पुनर्द्वेधा, सकामाऽकामभेदतः ॥ प्रवचनसारोद्धार प्र०भा० द्वार ६७, निर्जरा भावना श्लोक १

३. निर्जरा यमिनां पूर्वा ततोऽन्या सर्वदेहिनाम्। ज्ञानार्णव, सर्ग-२ निर्जरा भावना श्लोक २

४. ध्यानानलसमालीढमप्यनादिसमुद्भवम्।
सद्यः प्रक्षीयते कर्म शुद्धयत्यङ्गी सुवर्णवत् ॥ वही, श्लोक ८

तप करना चाहिए।[1] निर्जरा तपरूप है।[2] साधक को बल, श्रद्धा, स्वास्थ्य, द्रव्य, क्षेत्र और कालादि का विचार करके तपस्या करना विहित है।[3]

जो साधक समतारूपी सुख में लीन है और बार-बार आत्मा का स्मरण करता है, इन्द्रियों और कषायों को जीतता है उसकी ही परम निर्जरा होती है।[4]

अतः निर्जराभावना में निर्जरा के स्वरूप, लक्षण और उसके साधनों पर बार-बार चिन्तन करने से साधक के मन में तप, दान और शील के प्रति आकर्षण बढ़ता है जिससे वह आत्मशुद्धि का ओर निरन्तर अग्रसर रहता है।

(११) **धर्मभावना**

इसके अन्तर्गत साधक धर्म के स्वरूप और साधना पर विचार करता है। धर्म की व्याख्या करते हुए आदिकवि वाल्मीकि कहते हैं 'जो धारण किया जाता है वह धर्म है'। धर्म के कारण ही सारी प्रजा और जगत् ठहरा हुआ है।[5] दुर्गति में गिरते हुए जीव को धारण करने वाला ही धर्म कहलाता है—**दुर्गतिप्रपतत्प्राणी धारणाद् धर्म उच्यते।**[6]

भगवान् महावीर ने धर्म का बड़ा ही उत्कृष्ट और सर्वोत्तम लक्षण

---

१. नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।
   नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा॥
   नो कित्तिवण्ण सद्द सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।
   नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा॥ दशवैकालिक ९.४

२. तवसा निज्जरिज्जइ। उत्तरा० ३०.६

३. बलं थामं च पहोए सद्धामारोग्गमप्पणो।
   खेत्तं कालं च विन्नाय तहप्पाणं निजजए॥ दशवैकालिक ८.३५

४. जो समसोक्खणिलीणो बारंबारं सरेइ अप्पाणं।
   इंदियकसायविजई तस्स हवे णिज्जरा परमा॥ स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ११४

५. धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मेण विधृता प्रजाः। वाल्मीकि रामायण, ७.५९

६. दे० योगशास्त्र, २.११

बतलाया है। उनके अनुसार अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है। जो इसे अपनाता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं —

धम्मो मंगलमुक्किठं अहिंसा संयमो तवो।
देवापि तं नमस्सन्ति जस्स धम्मे सया मणो ॥[1]

साधक विचारता है कि धर्म ही विश्व में मित्र, स्वामी, बन्धु और असहायों का सहारा तथा रक्षक है।[2] वह धर्म जिसके अंशमात्र को भी धारण करके साधक मुक्ति प्राप्त करता है। वह सत्य, अहिंसा और अस्तेय आदि रूप से दश प्रकार का स्वीकार किया गया है।[3]

जो साधक धर्म साधना करके पर भव में जाता है उसके कर्म अल्प रहते हैं। अतः उसकी वेदना भी कम होती है।[4] इस उत्तम धर्म से युक्त तिर्यञ्च भी देव होता है तथा उत्तम धर्म के आचरण से चाण्डाल भी सुरेन्द्र बन जाता है।[5] धर्मात्मा की सब जगह कीर्ति फैलती है, वह सब का विश्वास पात्र होता है, वह प्रिय भाषी होता है तथा स्व-पर मन को विशुद्ध करता है।[6]

---

१. दशवैकालिक १.१

२. धर्मो गुरूश्च मित्रं च धर्मः स्वामी च बान्धवः।
अनाथवत्सलः सोऽयं संत्राता कारणं बिना ॥ ज्ञानार्णव, सर्ग २ धर्म भावना श्लोक ११

३. दशलक्ष्ययुतः सोऽयं जिनैर्धर्मः प्रकीर्तितः।
यस्यांशमपि संसेव्य विन्दन्ति यमिनः शिवम् ॥ वही, श्लोक २
तितिक्षा मार्दव शौचमार्जवं सत्यसंयमौ।
ब्रह्मचर्यं तपस्त्यागाकिञ्चन्यं धर्म उच्यते ॥ वही, श्लोक २०
तथा मिला० - संयमः सूनृतं शौचं ब्रह्माकिञ्चनता तपः।
क्षान्तिर्मार्दवमृजुता मुक्तिश्च दशधा स तु ॥ यो०शा०, ४.९३

४. एवं धम्मंपि काऊणं जो गच्छइ परं भवं।
गच्छन्तो सो सुही होइ अप्पकम्मे अवेयणं ॥ उत्तरा० १९.२२

५. ता सव्वत्थ वि कित्ती ता सव्वत्थ विहवेइ वीसासो।
ता सव्वं पि य भासइ ता सुद्धं माणसं कुणइ ॥ स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ४२९

६. वही, गा० ४३०-३१

इस प्रकार साधक धर्म के स्वरूप और उसके फल का चिन्तन करता हुआ आत्मा को लोक और परलोक में सुखी बनाता है।

(१२) बोधिदुर्लभभावना

इसमें जीवन और विवेक तथा धर्मबुद्धि की दुर्लभता पर विचार किया जाता है। मनुष्य भव की दुर्लभता परक वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि आत्मा को मनुष्य भव प्राप्त करना बड़ा ही दुर्लभ है क्योंकि कर्मविपाक बहुत सघन है जिसके कारण आत्मा एक-एक योनि में असंख्य बार घूमा है। अतः सत्त्व को मानवजन्म लाभ कर क्षणमात्र का प्रमाद किए बिना ही धर्माचरण करना चाहिए—[1]

दुल्लहे खलु माणुसे भवे चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवागकम्मुणो समयं गोयम ! मा पमायए ॥[1]

मानव जन्म पा जाने के बाद भी आत्मा को चार बातों की उपलब्धि होना अतीव दुर्लभ है। वे हैं—मानवता, धर्मश्रवण, श्रद्धा और संयम में पराक्रम—

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमि य वीरियं ॥[2]

सूत्रकृतांग में आता है कि मनुष्यो ! तुम धर्म तत्त्व को समझो, तुम क्यों नहीं समझते हो, कि सम्यक् बोध का प्राप्त होना बड़ा ही दुर्लभ है। ये बीती हुई रातें वापस नहीं आतीं और पुनः मानव जन्म मिलना भी अतिदुर्लभ है—

संबुज्झह, किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइओ, णो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥[3]

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र १०.४
२. वही, ३.१, तथा मिला०

छःठणाई सव्वजीवाणं दुल्लभाइं भवंति।
माणुस्सए भवे, आरियखेत्ते जम्मं, सुकुले पच्चायाती।
केवलि पन्नत्तस्स सवणया, सपस्सवासद्दहणया।
सद्दहियस्स वासम्मं काएण फासणया॥ स्थानांगसूत्र, ६.४८५
गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥ विष्णुपुराण २.३.२४

३. सूत्रकृतांगसूत्र १.२.१.१

इसलिए सम्यक् सम्बोध को प्राप्त करो।

सम्यक्त्व प्राप्त करके साधक धीरे-धीरे सम्यग्ज्ञान से अपने कर्मों का क्षय करता है जिससे अन्त में उसे मोक्ष मिलता है।[1]

दुर्लभ मानवपर्याय को प्राप्त करके जो पांचों इन्द्रियों के विषयों में रमते है, वे मूर्ख मनुष्य दिव्यरत्न को भस्म कर, उसे जलाकर राख करते हैं।[2] मनुष्यभव में भी सबसे दुर्लभ तत्त्व, सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति और उनका आदर पूर्वक संरक्षण करना है।[3]

आत्मस्वरूप का चिन्तन करना तथा मानव जीवन और सम्यक् सम्बोधि की दुर्लभता का अनुचिन्तन करना ही बोधिदुर्लभभावना हैं।

इस प्रकार इन बारह भावनाओं या अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन से चित्त समताभाव से युक्त होता है। इससे ही कषायों का उपशम होता है। सम्यक्त्व प्रकट होता है। वैराग्य में दृढ़ता आती है। साधक के द्वारा संसारिक दुःख-सुख, जन्म-मरण आदि का चिन्तन मनन करने से उसकी वृत्ति अन्तर्मुखी बन जाती है। इसीसे साधक के राग-द्वेष एवं मोह आदि क्लेश नष्ट हो जाते हैं और उसकी आत्मा परम विशद्धता को धारण कर लेती है। इस कारण भावनाओं को वैराग्य की जननी कहा गया है। इन भावनाओं का चिन्तन करना भाग्यशाली मुनियों एवं योगियों को मिलता है।[5]

३. ध्यान

योगसाधना में ध्यान का अत्यन्त विशिष्ट स्थान है। मानव का

---

१. मोक्ष: कर्मक्षयादेव स सम्यग्ज्ञानत: स्मृत:। ज्ञानार्णव, सर्ग ३, श्लोक १३
तथा मिला०—इओ विद्धं समाणस्स पुणो संबोधि दुल्लहा।
सूत्रकृतांग १.१५.१८
अन्तो मुहुत्तमित्तंपि फासियं हुज्जजेहि सम्मतं
तेसिं अवड्ढपुग्गलपरियट्ठो चेव संसारो। धर्मसंग्रह, अ० २.२१ की टीका

२. इय दुलहं मणुत्तं लहिऊणं य जे रमंति विसएसु।
ते लहिय दिव्व-रयणं भूइ णिमित्तं पजालंति॥ स्वामिकार्ति०, गा० ३००

३. इय सव्वदुलहदुलहं दंसणणाणं तहा चरित्तं च।
मुणिऊण य संसारे महायरं कुणह तिण्हं पि॥ वही, गा० ३०१

४. विस्तृत अध्ययन के लिए दे० - भावनायोग एक विश्लेषण

मन सदा चंचल बना रहता है, उसे स्थिर रखने और अचञ्चल बनाने के लिए ध्यानयोग की प्ररूपणा को गयी है। ध्यान का वर्णन सूत्र रूप में जैन आगमों में प्रचुर रूप से मिलता है। इसका वर्णन करते हुए **प्रश्न-व्याकरणसूत्र** में बतलाया गया हैं कि—**निव्वायस रयणप्प दीज्झाणमिव निप्पकम्पं**[1] अर्थात् स्थिर दीपशिखा के समान निश्चल-निष्कम्प तथा अन्य विषयों के संचार से रहित केवल एक ही विषय का धरावाही प्रशस्त सूक्ष्म बोध जिससे हो वह ध्यान कहलाता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार—शुभ प्रतीकों के आलम्बन पर चित्त का स्थिरीकरण रूप ध्यान दीपक की लौ के समान ज्योतिर्मान तथा सूक्ष्म और अन्तःप्रविष्ट चिन्तन से संयुक्त होता है[2] जबकि शीलांकाचार्य ने मन वचन-काय के विशिष्ट व्यापार को ही ध्यान कहा है।[3]

तत्त्वार्थसूत्र में अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त एक हो विषय पर चित्त की एकाग्रता अर्थात् ध्येय विषय में एकाकारवृत्ति का प्रवाहित होना ध्यान बतलाया गया है।[4]

इस ध्यान योग में साधक की ध्येय वस्तुगत एकाग्रता इतनी बढ़ जाती है कि उसको उस समय ध्येय के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु का बोध ही नहीं रहता। जिस आत्मा में यह ध्यानरूप योगाग्नि प्रज्वलित होती है, उसका कर्मरूप मल, जो अनादिकाल से आत्मा के साथ चिपका हुआ है, भस्म हो जाता है[5] और उसके प्रकाश से रागादि

---

१. प्रश्नव्याकरणसूत्र, संवर द्वार-५

२. शुभैकालम्बनं चित्तं ध्यानमाहुर्मनीषिणः।
स्थिरप्रदीपसदृशं सूक्ष्माभोगसमन्वितम्॥ योगबिन्दु, श्लोक ३६२

३. ज्झाणजोगं समाहट्टुकायं विउसज्जे सव्वसो।
तितिक्खं परमं नच्चा आमोक्खाएपरिवएज्जासि॥ सूत्रकृता० १.८.२६
ध्यानचित्तनिरोधलक्षणं धर्मध्यानादिकं तत्रयोगो विशिष्टमनोवाक्कायव्यापार-स्तं ध्यानयोगम्॥ वही टीका
ध्यान की विशेष चर्चा के लिए अग्रिम परिच्छेद चतुर्थ देखिए

४. एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। तत्त्वार्थसूत्र ९.२७

५. सज्झायसुज्झाणरयस्स ताइणो, अपावभावस्स तवेरयस्स।
विसुज्झईजं सि मलं पुरेकडं समीरियं रूप्प मलं व जोइणा॥
दशवैकालिक, ८.६३

का अन्धकारावरण नष्ट हो जाता है, चित्त सर्वथा निर्मल हो जाता है तथा सत्त्व को मोक्ष-मन्दिर का द्वार स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगता है।

४. समता

समता भी साधक के जीवन में अत्यधिक महत्व रखती है। गीता में समत्व को ही योग कहा है।[1] अविद्या (मूढ़ता) द्वारा कल्पित इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में की जाने वाली इष्टानिष्ट कल्पना को केवल अविद्या का प्रभाव समझ कर उनमें उपेक्षा धारण करना समता है[2] और उसमें निविष्ट मन, वचन और काय के व्यापार का नाम समतायोग हैं।

मानव के जीवन में समता के आ जाने अथवा योगी की वृत्ति में उसके आने से उनमें अनिर्वचनीय वैशिष्ट्य आ जाता है। इसके कारण वह प्राप्त ऋद्धियों-विभूतियों या चमत्कारिक शक्तियों का प्रयोग नहीं करता। उसके सूक्ष्म कर्मों का क्षय होने लगता है और उसकी आकांक्षाओं, आशाओं के तन्तु टूटने लगते हैं।[3]

वास्तव में विश्व का कोई भी पदार्थ इष्ट अथवा अनिष्ट कारक नहीं है। यह संसार तो न ग्राह्य और न अग्राह्य है, इसमें अथवा इसके समस्त पदार्थों में जो साधक हर्ष-शोक आदि की अनुभूति करता है, वह मोह से प्रभावित होता है। वे विभाव संस्कार हैं, जो न तो आत्मा के गुण होते हैं और न ही आत्मा के साथ जिनका कोई सम्बन्ध ही होता है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र है। इस प्रकार के विचार एवं विवेक से आत्मा में रहे हुए विचार वैषम्य का नाश और समताभाव का परिणमन होने लगता है। इस सत् परिणाम के द्वारा किए जाने वाले चिन्तन को ही समतायोग वा साम्ययोग कहा जाता है।[4] यही आत्मा का यथार्थ गुण भी है।

---

१. समत्वं योग उच्यते। गीता, २.४८

२. अविद्याकल्पितेषूच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु।
संज्ञानात् तद्व्युदासेन समता समतोच्यते॥ योगबिन्दु, श्लोक ३६४

३. ऋद्ध्यप्रवर्तनं चैव सूक्ष्मकर्मक्षयस्तथा।
अपेक्षातन्तुविच्छेदः फलमस्याप्रचक्षते॥ वही, श्लोक ३६५
तथा दे० योगभेद, द्वात्रिंशिका, श्लोक ६

४. दे० जैन योग सिद्धान्त और साधना, पृ० ८८

ध्यान और समता परस्पर सापेक्ष हैं। ध्यान के बिना समता की उपलब्धि नहीं हो सकती और समभाव के बिना ध्यान की सिद्धि होना भी असम्भव है। ध्यानयोग के साधक को समतायोग आवश्यक है और समतायोग के साधक को ध्यानयोग भी परमावश्यक है।

समत्व की प्राप्ति के बाद साधक को ध्यान करना चाहिए। समभाव की प्राप्ति के बिना ध्यान करना आत्मविडम्बना है क्योंकि समत्व के अभाव में ध्यान लगाना सम्भव नहीं है।[1] समभावरूपी सूर्य के द्वारा राग-द्वेष और मोह का अन्धकार नष्ट कर देने पर योगी अपनी आत्मा में परमात्म स्वरूप के दर्शन करने लगता है।[2] स्वयं आत्मा परमात्म स्वरूप में अवस्थित हो जाती है।

विषयों से विरक्त और समभाव से युक्त चित्त वाले साधकों की कषायरूपी अग्नि शान्त हो जाती है और सम्यक्त्व रूपी दीपक प्रदीप्त हो जाता है।[3]

इस प्रकार समता की साधना से साधक निर्भय हो जाता है। उसके कर्म बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। अतः समता साधक के आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा मानी जा सकती है क्योंकि सम्यक्त्वरूपी जलाशय में अवगाहन करने वाले पुरुषों का राग द्वेष-मल सहसा ही नष्ट हो जाता है।[4]

५. वृत्तिसंक्षय

वृत्तिसंक्षय अध्यात्म योग का अन्तिम सोपान है। इसका स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि भावना, ध्यान और समता के

---

१. समत्वमवलम्ब्याथ ध्यानं योगी समाश्रयेत् ।
बिना समत्वमारब्धे ध्याने स्वात्मा विडम्ब्यते ॥ योगशास्त्र ४.११२

२. रागादिध्वान्तविध्वंसे, कृते सामायिकांशुना ।
स्वस्मिन् स्वरूपं पश्यन्ति योगिनः परमात्मनः ॥ वही, ४.५३

३. विषयेभ्यो विरक्तानां साम्यवासितचेतसाम् ।
उपशाम्येत् कषायाग्निर्बोधि दीपः समुन्मिषेत् ॥ योगशास्त्र, ४.१११

४. अमन्दानन्द जनने साम्यवारिणि मज्जताम् ।
जायते सहसा पुंसां रागद्वेषमलक्षयः ॥ योगशास्त्र, ४.५०

अभ्यास से वृत्तिसंक्षय उद्भावित होता है, जिसका अर्थ आत्मा और कर्म के संयोग की योग्यता का अपगम अर्थात् दूर होना है। दूसरे शब्दों में अनादिकाल से आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध होते रहने की वत्ति, स्थिति या अवस्था का संक्षय होना, उनका मिट जाना, वृत्तिसंक्षय है।[1]

आत्मा में मन और शरीर के सम्बन्ध से उपलब्ध होने वाली विकल्प तथा चेष्टारूप वृत्तियों का अहर्निश भावव्यापार द्वारा निरोध करना, जिससे वे फिर से उत्पन्न न हों, वृत्तिसंक्षय कहा जाता है अथवा आत्यन्तिक क्षय अर्थात् समूल का नाश होने का नाम वृत्तिसंक्षय योग है—

अन्यसंयोगवृत्तीनां यो निरोधस्तथा तथा।
अपुनर्भावरूपेण स तु तत्संक्षयो मतः ॥[2]

वृत्तियों के भेद और कारण

आत्मा की सूक्ष्म एवं स्थूल, आभ्यन्तर तथा बाह्य चेष्टाओं को वृत्ति कहा जाता है। वे आत्मा का अन्य पदार्थों के साथ संयोग होने पर उत्पन्न होती हैं, जिसके कारण वृत्तियां उत्पन्न होती हैं, उसे योग्यता कहा जाता है।[3] जैसे वृक्ष का तना काट देने पर पत्र आदि की उत्पत्ति होने से नहीं रोका जा सकता वैसे ही संसाररूपी वृक्ष की स्थिति है। वृक्ष को समाप्त करने के लिए उसे जड़ से काटना होता है। ऐसे ही संसार रूप वृक्ष को समाप्त करने के लिए उसके मूल का उच्छेद करना आवश्यक है।[4]

पहले बतलायी गयी योग्यता, संसार रूपी वृक्ष की मूलभूत योग्यता है, वृत्तियां तरह-तरह के पत्ते हैं। यह परमतत्त्व अर्थात् यथार्थ वस्तु-

---

१, भावनादित्रयाभ्यासाद् वर्णितो वृत्तिसंक्षयः।
स चात्मकर्मसंयोगयोग्यतापगमोऽर्थतः ॥ योगबिन्दु, श्लोक ४०५

२. योगबिन्दु, श्लोक ३६६
तथा दे० योगभेद द्वात्रिंशिका, श्लोक २५

३. स्थूलसूक्ष्मा यतश्चेष्टा आत्मनो वृत्तयो मताः।
अन्यसंयोगजाश्चैता योग्यताबीजमस्य तु। वही, श्लोक ४०६

४, पल्लवाद्यपुनर्भावो न स्कन्धापगमे तरोः।
स्यान्मूलापगमे यद्वद् तद्वद् भवतरोरपि ॥ वही, श्लोक ४०८

स्थिति है ।[1]

वृत्तिसंक्षय के हेतु

उत्साह निश्चय, धैर्य, सन्तोष, तत्त्वदर्शन तथा जनपद त्याग ये छः योग हैं जो कि वृत्तिसंक्षय के हेतु हैं।[2] जब पूर्व वर्णित योग साधन स्वभावानुगत हो जाते हैं, स्वायत्त हो जाते हैं, तो आत्मा के कर्म बन्ध को योग्यता का अपगम हो जाता है, यही योगी का एकमात्र लक्ष्य है।[3]

वृत्तिसंक्षय का परिणाम

वृत्तिसंक्षय से शैलेशी अवस्था की उपलब्धि होती है। इसमें मानसिक कायिक और वाचिक प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध हो जाता है और साधक की स्थिति मेरुवत् अकम्प अडोल हो जाती है तथा उसकी निर्बाध आनन्द विधायक मोक्षपद लाभ की स्थिति बन जाती है।[4]

इस प्रकार यह वृत्तिसंक्षय नाम का योग साधक को कैवल्य (केवलज्ञानदर्शन) तथा निर्वाण प्राप्ति के समय होता है। यद्यपि वृत्तिनिरोध ध्यान आदि की अवस्था में भी साधक प्राप्त कर सकता है किन्तु वह आंशिक ही होता है। सम्पूर्ण निरोध वृत्तिसंक्षययोग म ही निहित होता है।

कैवल्य-अवस्था में अर्थात् तेरहवें गुणस्थान (सयोगी केवली की स्थिति) में भी विकल्परूप वृत्तियां क्षय हो जाती हैं फिर भी चेष्टारूप वृत्तियों का आत्यन्तिक क्षय चौदहवें गुणस्थान (अयोगी केवली अवस्था) में ही होता है। अतः वृत्तिसंक्षययोग तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थानों में हुआ माना जाता है। इस प्रकार वृत्तिसंक्षय के द्वारा कैवल्य प्राप्ति, शैलेषीकरण और मोक्षपद प्राप्ति—ये तीन फल साधना के (परिणाम) स्वरूप योगीसाधक को अधिगत होते हैं।

---

१. मूलं च योग्यता ह्यस्य विज्ञेयोदितलक्षणा।
पल्लवा वृत्तयश्चित्रा हन्त तत्त्वमिदं परम्॥ वही, श्लोक ४०६

२. उत्साहान्निश्चयाद् धैर्यात् सन्तोषात् तत्त्वदर्शनात्।
मुनेर्जनपदत्यागात् षड्भिः योगः प्रसिद्ध्यति॥ वही, श्लोक ४११

३. यथोदितायाः सामग्र्यास्तत्स्वभावनियोगतः।
योग्यतापगमोऽप्येवं सम्यग्ज्ञेयो महात्मभिः॥ योगबिन्दु, श्लोक २४

४. अतोऽपि केवलज्ञानं शैलेशीसंपरिग्रहः।
मोक्षप्राप्तिरनाबाधा सदानन्दविधायिनी॥ वही, श्लोक ३६७

परिच्छेद—चतुर्थ

योग : ध्यान और उसके भेद

योगसाधना में ध्यान का सर्वोपरि स्थान है। ध्यान की प्रक्रियाओं का प्रारम्भ पूर्व वैदिककाल में ही हो चुका था। कोई भी आध्यात्मिक उपलब्धि बिना ध्यानसाधना के भी प्राप्त होना सम्भव नहीं है क्योंकि पवित्र साधन से ही पवित्र साध्य की उपलब्धि होती है। योग, समाधि और ध्यान शब्द प्रायः एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। अतः ध्यान का आध्यात्मिक क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्व है।

ध्यानसाधना के लिए हमारे ऋषि, यति और मुनिगण प्रायः कन्दराओं में ध्यानरत होते थे और इस योग आदि साधनाओं द्वारा वे स्वर्गत्व, अमरत्व, ईश्वरत्व, आत्मत्व एवं ब्रह्मत्व का लाभ कर अपना लक्ष्य सिद्ध करते थे। अतः योगी अथवा मुमुक्षु साधक के लिए ध्यान अत्यावश्यक है।

ध्यान शब्द **ध्यै चिन्तायाम्** धातु से चिन्तन अर्थ में 'ल्युट' प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है। कहा भी है[1] कि **निष्पन्नार्थो हि एष धातुः**[2] अर्थात् जिसके द्वारा तत्त्व का मनन किया जाए, एकाग्र-चिन्तन किया जाए, उस प्रक्रिया का नाम ध्यान है।

(क) जैन ध्यानयोग : ध्यान के तत्त्व

भारतीय साधना में जैन ध्यानयोग का अपना विशिष्ट स्थान है। दूसरे शब्दों में कहें तो ध्यानसाधना ही जैन साधना का पर्याय बन गयी है। इसीलिए यहां ध्यान का जितना विस्तृत एवं सूक्ष्म वर्णन हुआ है, उतना अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। जैन मान्यतानुसार संयम अथवा चारित्र की विशुद्धि के लिए ध्यान सर्वोत्तम साधन माना गया है।

ध्यान का लक्षण एवं भेद

---

१. दे० संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ५०२

२. दे० अभि० को० भा०, पृ० ४३३ तथा अर्थविनि०, पृ० १७६

जैनदर्शन में 'ध्यान शब्द के लिए झान अथवा 'झाण' शब्द का प्रयोग हुआ है। चित्त को किसी एक लक्ष्य पर मुहूर्त भर के लिए एकाग्र करना ध्यान कहलाता है।[1] तत्त्वार्थसूत्र में एकाग्रता से चिन्तन के निरोध करने को ध्यान बतलाया गया है।[2] सर्वार्थसिद्धि में निश्चल अग्नि शिखा के समान अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है[3] जबकि ध्यानशतक में स्थिर अध्यवसाय ही ध्यान बतलाया गया है।[4] तत्त्वानुशासन में कहा गया है कि परिस्पन्दन से रहित जो एकाग्र चिन्ता का निरोध है, उसी का नाम ध्यान है।[5] यही योग है और यही प्रसंख्यान समाधि भी कहलाता है।[6] ध्यान को निर्जरा और संवर का कारण भी कहा गया है।[7]

वस्तुतः चित्त को किसी एक वस्तु अथवा बिन्दु पर केन्द्रित करना कठिन है क्योंकि यह किसी भी वस्तु पर अन्तर्मुहूर्त से अधिक देर तक ठहर नहीं पाता।[8] एक मुहूर्त ध्यान में व्यतीत हो जाने के बाद चित्त स्थिर नहीं रहता और यदि रह भी जाए तो वह चिन्तन कहलाएगा अथवा आलम्बन की भिन्नता से दूसरा ध्यान कहलाएगा।[9] इसे ही यदि दूसरे शब्दों में कहें तो ध्यान अथवा समाधि वह है, जिसमें संसार बन्धनों को तोलने वाले वाक्यों के अर्थों का चिन्तन किया जाता है अर्थात् समस्त कर्ममल नष्ट होने पर केवल वाक्यों का आलम्बन लेकर आत्मस्वरूप में

---

१. अन्तो मुहुत्तकालं चित्तस्सेकग्गया हवइ झानं। आव० नि० गा० १४६३
२. एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। तत्त्वार्थसूत्र ९.२७
तथा तुलना कीजिए—एकाग्रेण निरोधो यः चित्तस्यैकत्र वस्तुनि तद्ध्यानं। महापु०, २१.८
३. ज्ञानमेवापरिस्पन्दनाग्निशिखावदवभासमानं ध्यानमिति। सर्वा० सि०, पृ० ४५५
४. जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं। ध्यान श०, गा० २
५. एकाग्रचिन्तानिरोधो य परिस्पन्देन वर्जितः तद्ध्यानम्। तत्त्वानु०,गा० ५६
६. तदस्य योगिनो योगश्चिन्तैकाग्रनिरोधनम्।
प्रसंख्यानसमाधिः स्याद् ध्यानं स्वेष्टफलप्रदम्। वही, गा० ६१
७. तद्ध्यानं निर्जराहेतुः संवरस्य च कारणम्। वही, गा० ५६
८. आमुहूर्तात्। तत्त्वार्थसूत्र ९.२८, तथा दे० ध्यान शतक, गा० ३
९. मुहूर्तात् परतश्चिन्ता यद्वा ध्यानान्तरं भवेत्।
बह्वर्थसंक्रमे तु स्याद्दीर्घापि ध्यानसन्ततिः। यो० शा० ४.११६

लीन होने का प्रयास किया जाता है।[1] इस अवस्था को तत्त्वानुशासन में समरसीभाव[2] और ज्ञानार्णव[3] में सवीर्य ध्यान कहा है। तत्त्वार्थसूत्र में उत्तमसंहनन वाले के एकाग्रचिन्ता निरोध को ध्यान कहा गया है।[4] शास्त्र में संहनन छः प्रकार के बतलाए गए हैं[5]—(१) वज्र ऋषभनाराच संहनन, (२) ऋषभनाराच संहनन, (३) नाराच संहनन, (४) अर्द्धनाराच संहनन, (५) कीलिका संहनन और (६) सम्वर्तक संहनन। इनमें प्रथम तीन संहनन ध्यान के लिए उत्तम माने गये हैं।[6] फिर भी मोक्ष का अधिकारी वज्र ऋषभनाराच संहनन संस्थान वाला साधक ही होता है क्योंकि योगी नाना आलम्बनों में स्थित अपनी चिन्ता को जब किसी एक आलम्बन में स्थिर करता है तब उसे एकाग्र निरोधयोग की प्राप्ति होती है, जिसे समाधि तथा प्रसंख्यान कहा गया है।[7]

इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि आलम्बन दो प्रकार के माने गए हैं—रूपी और अरूपी। अरूपी आलम्बन मुक्त आत्मा को माना गया है तथा इसे अतीन्द्रिय होने के कारण अनालम्बन योग भी कहा है।[8]

रूपी आलम्बन इन्द्रिय गम्य माना गया है। यद्यपि रूपी अथवा सालम्बन ध्यान के अधिकारी योगी छठे गुणस्थान[9] तक अपने चरित्र का विकास करने में समर्थ होते हैं, जबकि अनालम्बन योगी के अधिकारी

---

१. योगप्रदीप, गा० १३८
२. तत्त्वानुशासन, गा० १३७
३. दे० ज्ञानार्णव, अध्याय ३१, सवीर्य ध्यान का वर्णन
४. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। तत्त्वार्थसूत्र ९.२७
५. छव्विहे संघयणे पण्णत्ते, तं जहा—वइरोसभणारायसंघयणे, उसभणाराय संघयणे, नारायसंघयणे, अद्धनारायसंघयणे, खीलियसंघयणे, छेवट्ठसंघयणे। स्थानांगसूत्र, प्र० उ०, सू० ६
६. तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० ६२५
७. तत्त्वानुशासन, गा० ६०-६१
८. आलंबणं पि एयं रूविमरूवी य इत्थ परमु त्ति। तग्गुणपरिणइरूवो सुहुमो अणालम्बणो नाम॥ योगविंशिका, गा० १९
९. अप्रमत्तप्रमत्ताख्यौ धर्मस्यैतौ यथायथम्॥ ज्ञानार्णव, २८.२५

सातवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक अपना आत्मविकास करते हैं।[1] सालम्बन ध्यान ही जब सांसारिक वस्तुओं से हटकर आत्मा के वास्तविक स्वरूप दर्शन में तीव्र अभिलषित हो जाता है, तब अनालम्बन ध्यान की निष्पत्ति होती है और आत्म साक्षात्कार होने पर ध्यान रह ही नहीं जाता क्योंकि यह निरालम्बन ध्यान एक विशिष्ट प्रयत्न है, जो केवलज्ञान प्राप्त होने से पूर्व अथवा योगनिरोध करते समय किया जाता है।

इस प्रकार निरालम्बन ध्यान की सिद्धि हो जाने पर संसार अवस्था उच्छिन्न हो जाती है और केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसके बाद ही अयोगावस्था प्रकट होती है, जो परम निर्वाण का ही अपर नाम है।[2]

ध्यान के पर्याय के रूप में तप, समाधि, धीरोध, स्वान्तनिग्रह, अन्तःसंलीनता, साम्यभाव, समरसीभाव आदि का प्रयोग भी किया गया है।[3]

ध्यान के तत्त्व

ध्यान के तीन प्रमुख तत्त्व माने गये हैं– (१) ध्याता, (२) ध्येय और (३) ध्यान[4], जबकि आचार्य शुभचन्द्र ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यान का फल ये चार तत्त्व मानते हैं।[5]

१. ध्याता

जो मुमुक्षु हो अर्थात् मोक्ष की इच्छा रखने वाला हो, संसार से

---

१. अप्रमत्तः सुसंस्थानो वज्रकायो वशी स्थिरः।
पूर्ववित्संवृत्तो धीरो ध्याता संपूर्णलक्षणः॥ ज्ञाना०, २८.२६

२. एयम्मि मोहसागरतरणं सेढी य केवलं चेव।
तत्तो अजोगजोगो कमेण परमं च निव्वाणं॥ यो० बि०, गा० २०

३. योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोधः स्वान्तः निग्रहः।
अन्तःसंलनिता चेति तत्पर्यायाः स्मृताः बुधैः॥ तत्त्वानुशासन, पृ० ६१

४. ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं ध्याताध्येयं तथा फलम्। यो० शा०, ७१

५. ध्याताध्यानं तथा ध्येयं फलं चेति चतुष्टयम्। ज्ञाना०, ४.५

विरक्त हो, आसन में स्थिर हो, जितेन्द्रिय हो, क्षोभ रहित हो, शान्त चित्त हो, जिसका मन वश में हो, संवर युक्त हो और धीर हो, इन आठ गुणों में युक्त साधक ही ध्याता, ध्यान करने वाला होता है ।[1]

२. **ध्यान**

ध्याता का ध्येय में स्थिर होना ही ध्यान है ।[2] निश्चय नय से कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण को षट्कारमयी आत्मा कहा गया है, यही ध्यान है ।[3]

३. **ध्येय**

जिसका ध्यान किया जाता है वही ध्येय है ।

ध्यानसाधना के आवश्यक निर्देश

ध्यान की साधना की सफलता के लिए बतलाया गया है कि साधक परिग्रह के त्याग, कषायों का निग्रह, व्रतधारण, मन का संयम और इन्द्रियविजय से युक्त होना चाहिए[4] कारणकि ध्यान की सिद्धि के लिए योगी को अपने चित्त का दुर्ध्यान, वचन का असंयम और काया की चंचलता का निषेध करना चाहिए[5] तथा समस्त दोषों से मुक्त होकर चित्त को स्थिर बनाना चाहिए ।[6] सद्गुरु, सम्यक् श्रद्धान, निरन्तर

---

१. मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्णः शान्तचित्तो वशी स्थिरः ।
जिताक्षः संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते ॥ वही, ४.६

२. ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा ।
यत्र वा ध्यायते यद्वा, ध्याति र्वाध्यानमिष्यते ॥ तत्त्वानु०, श्लोक ६७

३. स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः :
षटकारकामस्तस्माद् ध्यानमात्मैव निश्चयात् ॥ वही, श्लोक ७४

४. संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणम् ।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मनो ॥ वही, श्लोक ७५

५. निरुन्ध्याच्चित्तदुर्ध्यानं निरुन्ध्यादयतं वचः ।
निरुन्ध्यात् कायचांपल्यं, तत्त्वतल्लीनमानसः ॥ योगसार, श्लोक १६३

६. मामुज्झह मा रज्जह माद्रूसहइट्ठणिट्ठअट्ठेसु ।
थिरमिच्छहिजइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥ बृदद्रव्यसंग्रह, गा० ४८

अभ्यास तथा मन: स्थिरता का ध्यान की सिद्धि के लिए विशेष महत्त्व बतलाया गया है ।[1]

ध्यान के अंग

ध्यान के निम्नलिखित अंग हैं—पूरक, कुम्भक, रेचक, दहन, प्लवन, मुद्रा, मन्त्र, मण्डल, धारणा, कर्माधिष्ठाता, देवों का संस्थान, लिंग, आसन, प्रमाण और वाहन आदि—जो कुछ भी शान्त क्रूर कर्म के लिए मन्त्रवाद आदि के कथन हैं वे भी सभी ध्यान के अंग हैं ।[2] संक्षेप में आचार मीमांसा की सारी ही बातें ध्यान के अन्तर्गत परिगणित होती हैं ।

वास्तव में जप, तप, व्रत और ध्यान आदि सभी क्रियाएं बिना स्वच्छ-शुद्ध मन के करने से अभीष्ट की उपलब्धि नहीं होती[3] क्योंकि मन की शुद्धि ही वास्तविक शुद्धि है । इसके अभाव में व्रतों का अनुष्ठान वृथा देह दण्ड मात्र है ।[4] इसके लिए इन्द्रियों का नियन्त्रण आवश्यक है, जब तक इन्द्रियों का नियन्त्रण नहीं होता तब तक कषायों का क्षय भी नहीं होता ।[5] अत: ध्यान की शुद्धता अथवा सिद्धि ही कर्मसमूह को नष्ट करती है[6] और आत्मा का ध्यान शरीरस्थित आत्मा के स्वरूप को जानने में समर्थ होता है[7] क्योंकि ध्यान जहां सब अतिचारों का प्रतिक्रमण है[8] वहां आत्मज्ञान की प्राप्ति से ही कर्मक्षय यथा कर्मक्षय से

---

१. ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम् ।
गुरुपदेश: श्रद्धानं सदाभ्यास: स्थिरं मन: ॥ तत्त्वानुशासन, श्लोक २१८

२. वही, श्लोक २१३-२१६

३. किं व्रतै: किं व्रताचारै: किं तपोभिर्जपैश्च किम् ।
किं ध्यानै: किं तथा ध्येयैर्न चित्तं यदि भास्वरम् । योगसार, श्लोक ६८

४. मन: शुद्ध्यैव शुद्धि: स्याद्देहिनां नात्र संशय: ।
वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम् ॥ ज्ञाना०, २२.१४

५. अदान्तैरिन्द्रियहयैश्चलैरपथगामिभि: । यो० शा०, ४.२५,८

६. दे० ज्ञानार्णव, २०.१४

७. एवमभ्यासयोगेन ध्यानेनानेन योगिभि: ।
शरीरांत: स्थित: स्वात्मा यथावस्थोऽवलोक्यते ॥ योगप्रदीप, श्लोक १६

८. झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।
तम्हा दुझाणमेवहि सव्वदिचारस्स पडिकमणं ॥ नियमसार, गा० ९३

मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1]

ज्ञातव्य है कि ध्यान के द्वारा शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के फलों की प्राप्ति सम्भव है अर्थात् इससे चिन्तामणिरत्न भी उपलब्ध होता है और खली के टुकड़े भी।[2] इस प्रकार ध्यान सिद्धि की दृष्टि से बाह्य वृत्तियों के निरोध के साथ स्ववृत्ति तथा साम्यभाव का होना भी अनिवार्य हैं।[3] साधक को आत्मदर्शन के अतिरिक्त दूसरे पदार्थ दिखाई ही नहीं देते।[4] अगर साधक को सांसारिक चिन्ताओं का ध्यान अनायास हो भी जाए तो भी उन वृत्तियों को अन्तर्मुखी करके गुरु अथवा भगवान् का स्मरण करते हुए निर्जन स्थान में सर्वप्रकार की कामचेष्टाओं से रहित होकर सुखासन से बैठना चाहिए[5] कारण कि इससे भी ध्यान में शुद्धता आती है।

ध्यान के हेतु

ध्यान के हेतुओं का उल्लेख भी प्राचीन ग्रंथों में मिलता है जो निम्नलिखित हैं—वैराग्य, तत्त्वविज्ञान, निर्ग्रन्थता, समचित्तता और परीषहजय[6]। इसके अतिरिक्त असंगता, स्थिरचित्तता, उर्मिस्मय, सहनशीलता[7] आदि का वर्णन भी इस प्रसंग में हुआ है।

---

१. मोक्ष कर्मक्षयादेव स चात्मज्ञानतो भवेत्।
ध्यानं साध्यं मतं तच्च तद्ध्यानं हितमात्मनः॥ यो० शा०, ४.११३

२. इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखण्डकम्।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियन्तां विवेकिनः॥ इष्टोपदेश, २०

३. ततः स्ववृत्तित्वाद् बाह्यध्येय प्राधान्यापेक्षा निर्वर्तितामवति।
तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० ६२६

४. तदा च परमैकाग्रयाद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि।
अन्यत्र किंचनाऽभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः॥ तत्त्वानुशा०, श्लोक १७२

५. योगशतक, गा ५६.६०

६. वैराग्यतत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता।
परीषहजयश्चेति पंचैते ध्यानहेतवः॥ बृहद्द्रव्यसंग्रह, पृ० २०७ पर उद्धृत।

७. दे० उपासकाध्ययनसूत्र, ३९.६३४

ध्यान के भेद-प्रभेद

विभिन्न जैन आगमों[1] एवं योग विषयक जैन ग्रंथों[2] में ध्यान के प्रमुख चार भेदों का उल्लेख मिलता है वे हैं—आर्त,(२) रौद्र, (३) धर्म्य और (४) शुक्लध्यान। इनमें प्रथम दो ध्यान अप्रशस्त और अन्तिम दो प्रशस्त ध्यान माने गए हैं। अन्तिम दो धर्म्य एवं शुक्ल ध्यान को ही **तत्त्वार्थसूत्र** में मोक्ष का मूल कारण बतलाया गया है।[3] बाकी तो संसार-चक्र से व्यतिरिक्त नहीं हैं।

ज्ञानार्णव में ध्यान के तीन भेद-प्रशस्त, अप्रशस्त और शुद्ध बतलाए गए हैं।[4] हेमचन्द्राचार्य ने ध्यान को ध्याता, ध्येय और ध्यान के रूप में विभाजित किया है और ध्येय के चार भेद स्वीकार किए हैं[5]। वे हैं—(१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ, (२) स्वरूप और (४) रूपातीत। ध्येय के इन चार भेदों का वर्णन **ज्ञानार्णव** में भी आता है।[6] रामसेनाचार्य ने ध्येय के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार भेद किए हैं[7] जो वर्गीकरण की अपनी विशेषता रखता है। इनके अनुसार द्रव्य ध्येय ही

---

१. चत्तारि झाणा पण्णता, तं जहा—अट्टेझाणे, रोद्देझाणे, धम्मेझाणे, सुक्केझाणे। स्थानाङ्गसूत्र, सूत्र ४, प्रथम उद्देशक तथा
दे० समवायांगसूत्र, चतुर्थ समवाय, औपपातिक सूत्रः तपोधिकारा, भगवती सूत्र, शतक २५, उद्देशक ७

२. अट्टेणातिरिक्खगई रुद्दज्झाणेण गम्मती नरयं।
धम्मेण देवलोयं सिद्धिगई सुक्कझाणेणं॥ ध्यान शतक, गा० ५
तथा—यच्चतुर्धा मतं तज्ज्ञैः क्षीणमोहैर्मुनीश्वरैः
पूर्वप्रकीर्णकाङ्गेषु ध्यानलक्ष्यसविस्तरम्॥ ज्ञानार्णव, ४.१
आर्तरौद्रधर्म शुक्लानि। त० सू० ६.२६

३. परे मोक्षहेतू। त० सू० ६.३०

४. संक्षेपरुचिभिः सूत्रात्तन्निरूप्यात्मनिश्चयात्।
त्रिधैवाभिमतं कैश्चिद्यतो जीवाशयस्त्रिधा॥ ज्ञानार्णव, ३.२७

५. पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्धा ध्येयमाम्नातं ध्यानस्यालम्बनं बुधैः॥ योगशास्त्र, ७.८

६. पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्धा ध्यानमाम्नातं भव्यराजीवभास्करैः॥ ज्ञाना०, ३७.१

७. नामं च स्थापनं द्रव्यं भावश्चेति चतुर्विधम्॥ तत्त्वानु०. श्लोक ९९

पिण्डस्थ ध्यानरूप में उपस्थित हुआ है।[1] क्योंकि ध्येय पदार्थ ध्याता के शरीर में स्थित आत्मा ही ध्यान विषय माना गया है और पिण्डस्थ ध्यान का कार्य भी वही है। इसके अतिरिक्त ध्येय के २४ भेदों का वर्णन भी प्राप्त होता है[2] जिनमें बारह ध्यान क्रमशः—ध्यान, शून्य, कला, ज्योति, बिन्दु, नाद, तारा, लय, मात्रा, पद और सिद्धि हैं तथा इन ध्यानों के साथ परमपद जोड़ने से ध्यान के और अन्य भेद बन जाते है।

उपर्युक्त ध्यान के भेद प्रभेदों के विवेचन से पूर्व आगमों एवं योग ग्रंथों में सर्वमान्य ध्यान के चार भेदों का विवेचन करते हैं—

१. आर्तध्यान

आर्त का अर्थ—दुःख है। दुःख से उत्पन्न होने वाला[3] अथवा प्रिय वस्तु के वियोग एवं अप्रिय वस्तु के संयोग[4] आदि के निमित्त से या आवश्यक मोह के कारण सांसारिक वस्तुओं में रागभाव करना[5] आर्तध्यान है। रागभाव से जो मूढ़ता आती है, वह अज्ञान के कारण है। परिणाम स्वरूप अवाञ्छनीय वस्तु की प्राप्ति-अप्राप्ति होने पर जीव दुःखी होता है। यही आर्तध्यान है।[6]

यह ध्यान चार तरह से होता है—

१. अप्रियवस्तुसंयोग
२. प्रियवस्तुवियोग
३. प्रतिकूलवेदना और

---

१. तत्त्वानुशासन, श्लोक १३४
२. सुन्नुकुलजोइबिन्दुनादो तारो लओ लवोमत्ता।
   पयसिद्धपरमजुयाझाणइं हुंति चउवीसं ॥
   नमस्कारस्वाध्याय (प्राकृत), पृ० २२५
३. स्थानांगसूत्र, प्रथम उद्देशक, सूत्र १२, पृ० ६७५
४. समवायांगसूत्र. ४ समवाय
५. दशवैकालिकसूत्र, प्रथम अध्ययन
६. ऋते भवमथार्त्तं स्यादसद्ध्यानं शरीरिणाम्।
   दिग्मोहोन्मत्ततातुल्यमविद्यावासनावशात् ॥ ज्ञाना०, २५.२३

४. निदानआर्तध्यान ।[1]

(१) अप्रियवस्तुसंयोग आर्तध्यान

द्वेष से मलिन जीव को अनिच्छित विषय शब्दादि तथा ऐसी वस्तु से सतत् छुटकारा पाने का सतत् चिन्तन करना[2] अप्रियबस्तु संयोग आर्तध्यान है।

आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार अग्नि, सर्प, सिंह, जल आदि चल तथा दुष्ट राजा, शत्रु आदि स्थिर और शरीर स्वजन धन आदि के निमित्त से मन को जो क्लेश होता है[3] वह अनिष्ट संयोग आर्तध्यान है। इस प्रकार का भाव बौद्धों ने दुःख नामक आर्यसत्य के अन्तर्गत स्वीकार किया है।[4]

(२) प्रियवस्तुवियोग अथवा इष्टवियोग आर्तध्यान

पांचों इन्द्रियों के अनुकूल इष्ट एवं प्रिय पदार्थों की प्राप्ति के लिए छटपटाना, उन पदार्थों के साधनरूप चल-अचल अभीष्ट माता-पिता आदि स्वजन को प्राप्त करने की उत्कृष्ट अभिलाषा, भौतिक सुखों का संयोग सदा बना रहे ऐसी चिन्ता तथा उनके वियोग होने से भविष्य में दुःखी न होने की चिन्ता, यह आर्तध्यान का दूसरा भेद इष्टवियोग आर्तध्यान है। इसे भी बौद्धों ने प्रथम आर्यसत्य के रूप में माना है।

१. स्थानाङ्गसूत्र, प्रथम उद्दे० सूत्र १२, पृ० ६७५
तथा दे० औपपातिक सूत्र. तपोधिकार;
भगवतीसूत्र, शतक २५, उद्दे० ७; एवं तत्त्वार्थसूत्र, ९.३१-३४

२, अमणुण्णाणं सद्दाइविसयवत्थूणं दोसमइलस्स।
धणियं वियोगचिंतणमसं पओगाणुसरणं च ॥ ध्यान श०, गा० ६

३. दे० ज्ञानार्णव, २५.२५-२८

४. दे० अभिधर्मदेशना : बौद्धसिद्धान्तों का विवेचन, चार आर्य सत्य नामक अध्याय, दुःख आर्य सत्य की व्याख्या।

५. दे० स्थानाङ्गसूत्र प्र०उ० सूत्र १२; भगवतीसूत्र, शतक २५, उद्दे० ७, तथा औपपातिकसूत्र तपोधिकार.
तथा —इट्ठाणविसयाईण वेयणाए य रागरत्तस्स।
अवियोगऽज्झवसाणं तहसंजोगाभिलासोय ॥ ध्यानशतक, गा० ८ तथा दे० ज्ञानार्णव, २५.३०-३१

(३) प्रतिकूलवेदना आर्तध्यान

अपने तथा अपने व्यक्ति के शरीर में सोलह महारोगों में से किसी एक रोग से उत्पन्न हो जाने पर, अस्त्र-शस्त्र से घायल हो जाने पर, असह्यवेदना से चित्त के व्याकुल हो जाने पर अथवा किसी भी व्यथा से व्यथित होने पर मोहासक्त जीव खिन्न होकर जो चिन्ता करता है, वह आर्तध्यान का तीसरा भेद प्रतिकूलवेदना आर्तध्यान है।[1]

(४) निदानानुबन्धी अथवा भोगार्त्तध्यान

इस लोक में अथवा परलोक में वासनाजन्य क्षणिक सुखों की कामना करना, भोगों की लालसा करना, संयम, तप एवं ब्रह्मचर्य आदि शुभ क्रियाओं के बदले में नाशवान् पौद्गलिक सुखों को प्राप्त करने के लिए निदान करना[2] अथवा देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि के सौन्दर्य आदि गुणों की तथा सुख समृद्धि की याचना स्वरूप निदान करने का जो चिन्तन होता है अर्थात् अपनी साधना के बदले में लौकिक वैभव की कामना करना है, यही चतुर्थ आर्तध्यान निदानानुबन्धी है।[3]

---

१. दे० स्थानांगसूत्र, प्र० उ०, सूत्र १२; भगवतीसूत्र, श्लोक २५, उद्दे ७; औपपातिकसूत्र तपोधिकार

तथा—(क) तहसूलसीस रोगाइवेयणाए विजोगपणिहाणं।
तदसपओगचिंता तप्पडिआराउलमणस्स ॥ ध्यान श०, गा० ७

(ख) कासश्वास भगन्दरोदरजराकुष्ठातिसारज्वरैः।
पित्तश्लेष्ममरुत्प्रकोपजनितैः रोगैः शरीरान्तकैः ॥
स्यात्सत्त्वप्रबलैः प्रतिक्षणभवैर्यद्व्याकुलत्वं नृणां,
तद्रोगार्त्तमनिन्दितैः प्रकटितं दुर्वारदुःखाकरम् ॥ ज्ञानार्णव, २५.३२-३३

२. परिजुसि य कामभोग-संयओगसंपउत्ते, तस्स अविप्पओग सतिसमणागए यावि भवइ। स्थाना०, प्र० उ० सूत्र १२, तथा दे० भगवतीसूत्र शतक २५, उद्दे० ७; औपपातिसूत्र तपोधिकार; तत्त्वार्थसूत्र ९.३४

३. देविंदचक्कवट्टित्तणाइं गुणसिद्धिपत्थणमईयं।
अहमं नियाणाचतणमण्णाणाणुगयमच्चं तं ॥ ध्यान श०, गा० ९
तथा—भोगाभोगीन्द्रसेव्यास्त्रिभुवनजयिनीरूपसाम्राज्यलक्ष्मी।
राज्यं क्षीणारिचक्रं विजितसुखधूलास्यलीलायुवत्यः ॥
ज्ञानार्णव, २५.३४ तथा दे० वही, ३५-३६

आर्तध्यान के लक्षण

शास्त्रकारों ने आर्तध्यान के चार लक्षण भी बताए हैं वे हैं :—

१. क्रन्दन अर्थात् रोना ३. आंसू बढ़ाना और
२. शोक करना। ४. विलाप करना।[1]

ये चारों ही आर्तध्यान की पहचान हैं। जिस व्यक्ति में ये लक्षण पाए जाते हैं, वह आर्तध्यानी होता है।

आर्तध्यान की त्रिविध लेश्याएं

आर्तध्यान की लेश्या[2] तीन प्रकार की हैं, वे हैं—कृष्ण, नील एवं कापोत।[3]

इस ध्यान में अज्ञान की प्रधानता होती है, रागद्वेष अधिक बढ़ जाता है, जिसके कारण जीव सदा भयभीत, शोकाकुल सन्देहशील, प्रमादी, कलहकारी, विषयी, निद्रालु, सुस्त, खेदखिन्न तथा मूर्च्छा-ग्रस्त रहने लगता है।[4]

आर्तध्यानी की बुद्धि स्थिर नहीं रहती। वह रागद्वेष के कारण संसार में परिभ्रमण करता है। ऐसे कुटिल चिन्तन के कारण वह तिर्यञ्चगति में गमन करता है।[5]

उसका मन आत्मा से हटकर सांसारिक पदार्थों पर केन्द्रित रहता है और इच्छित अथवा प्रिय वस्तुओं के प्रति अतिशय मोह करता है

---

१. अट्टस्सणं झाणस्स चत्तारिलक्खणापण्णता, तं जहा-कंदणया सोयणया, तिप्पणया, परिदेवना। स्थानां० प्र० उ०, सूत्र १२
तथा दे० भगवतीसूत्र शतक २५, उद्दे० ७, औपपातिकसूत्र तपोधिकार
२. लेश्या के विषय में अगला अध्याय देखिए
३. कावोयनीलकालालेस्साओनाइसंकिलिटठाओ।
अट्टज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणियाओ॥ ध्यान श०, गा० १४
तथा दे० ज्ञाना०, २५.४०
४. ज्ञानार्णव, २५.४३
५. रागो दोसो मोहो य जेण संसारहेयवो भणिया।
अट्टंमि य ते तिण्णिवि, तं तं संसारतरुबीयं॥ ध्यान श०, गा० १३

जिससे उनके वियोग में दुःखी होता है। इसलिए इस ध्यान को अशुभ कहा गया है। यह ध्यान संसारभ्रमण का मूल है।[1] आर्तध्यान अविरति, देशविरति और प्रमादनिष्ठ संयमधारी को भी होता है। इसलिए इसे समस्त प्रमादों का मूल समझकर साधुजनों को इसे छोड़ देना चाहिए।[2]

यह ध्यान जीवों को अनादिकाल के अप्रशस्तरूप संस्कार से, बिना पुरुषार्थ के, स्वयं ही उत्पन्न होता है।[3]

रौद्रध्यान

रौद्र का अर्थ है—क्रोध, बर्बर, भयानक आदि।[4] इस अवस्था में मनुष्य जो चिन्तन करता है, उसे ही रौद्रध्यान कहा जाता है। तत्त्वदर्शी पुरुषों ने क्रूर आशय वाले प्राणी को रौद्र कहा है, उस रौद्र प्राणी के भाव, कार्य अथवा परिणाम को ही रौद्र कहते हैं।[5] इसका वर्ण लाल होता है।

चुगली करना, अनिष्ट सूचक वचन बोलना, गाली देना रुखा बोलना यहां तक कि असत्य वचन, जीवघात का आदेश आदि का प्रणिधान (एकाग्र मानसिक चिन्तन) रौद्रध्यान है। यह मायावी, प्रच्छन्न पापी, ठगी करने में निपुण होता है।[6] आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार जीवों की हिंसा में प्रवीणता हो, पापोपदेश में निपुणता हो, नास्तिक मत में चातुर्य हो, जीव घात करने में निरन्तर प्रगति हो तथा

---

१. एवं चउव्विहं रागद्दोसमोहं कियस्स जीवस्स।
अट्टज्झाणं संसारवद्धणं तिरियगइमूलं॥ वही, गा० १०

२. तदविरयदेसविरयपमायपरसंजयाणुगं झाणं।
सव्वप्पमायमूलं वज्जेव्वं जइजणेणं॥ ध्यान श०, गा० १८
तथा ज्ञाना०, २५.३६

३. एतद्विनापि यत्नेन स्वमेव प्रसूयते।
अनाद्यसत्समुद्भूत संस्कारादेव देहिनाम्॥ ज्ञानार्णव, २५.४१

४. दे० संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ८६३

५. रुद्रः क्रूराशयः प्राणी प्रणीतस्तत्त्वदर्शिभिः।
रुद्रस्य कर्मभावो वा रौद्रमित्यभिधीयते॥ ज्ञानार्णव, २६.२

६. पिसुणासब्भासब्भूयभूय घायाइवयणपणिहाणं।
मायाविणोइसंघणपरस्सपच्छन्नपावस्स॥ ध्यान श०, गा० २०

निर्दयी पुरुषों की निरन्तर संगति हो, स्वभाव से ही उसमें क्रूरता हो, दुष्ट भाव हो, तो उसको प्रशान्त चित्तवाले पुरुषों ने रौद्रध्यान कहा है।[1]

यह ध्यान अशुभ अथवा अप्रशस्त है। इसमें कुटिल भावों का चिन्तन होता है। इसमें हिंसा, झूठ, चोरी, धन-रक्षा में लीन होना छेदन-भेदन आदि प्रवृत्तियों में राग आदि आते हैं। पूर्ववत् इसके भी चार भेद शास्त्रों एवं योग ग्रन्थों में बतलाए गये हैं।[2] वे हैं---हिंसानुबंधी, मृषानुबंधी, चौर्यानन्द एवं विषयसंरक्षानुबन्धी।

(१) हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान

अत्यधिक क्रोध से जकड़े हुए मन का लक्ष्य जीवों को पीटने, बींधने, बान्धने, जलाने, चिह्नित करने और मार डालने इत्यादि पर आ जाता है। यह स्थिति निर्दय हृदय वाले को होती है और ऐसा सत्त्व नरकगामी होता है।[4] जीवों के समूह को अपने से तथा अन्य के द्वारा मारे जाने, पीड़ित किए जाने, ध्वंस किये जाने और घात करते-कराने पर जो हर्ष का कारण माना जाता है, उसे ही हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान कहते हैं।[5]

(२) मृषानुबन्धी रौद्रध्यान

दूसरों को ठगने वाले, मायावी, छिपकर पापाचरण करने वाले पिशुन, चुगल खोर, झूठा कलंक लगाने वाले, हिंसाकारी वचन बोलने

---

१. हिंसाकर्माणि कौशलं निपुणतापापोपदेशं भृशं।
दाक्ष्यं नास्तिकशासने प्रतिदिनं प्राणातिपाते रतिः।
संवासः सह निर्दयै विरतं नैसर्गिकी क्रूरता
यत्स्यादेहभृतां तदत्र गदितं रौद्रं प्रशान्ताशयैः॥ ज्ञाना०, २६.६

२. दे० स्थानांगसूत्र, प्रथम उद्दे० सूत्र १२, भगवती सूत्र ३०७, शतक २५; औपपातिसूत्र, तपोधिकार

३. वही, तथा हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रम्। तत्त्वार्थसूत्र ९.३६

४. सत्तवहवेहबंधणडहणंकणमारणाइपणिहाणं।
अइ कोहग्गहघत्थनिग्घिणमणसोऽहमविवागं॥ ध्यान श०, गा० १९

५. हते निष्पीडिते ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते।
स्वेन चान्येन यो हर्षस्तद्धि सा रौद्रमुच्यते॥ ज्ञाना० २६.४

वाले, असत्यभाषी, झूठी गवाही देने वाले, असत्य से सम्बन्धित जितने भी कार्य हैं, उनमें मन लगाकर यह सोचना कि मैं किस प्रकार का झूठ बोल कर, अपना स्वार्थ सिद्ध करूं और लोगों में निर्दोष भी कहला सकूँ इत्यादि रूपों को धारण करने वाला मृषानुबन्धी दूसरे प्रकार का रौद्र-ध्यान है।[1]

जो मनुष्य कल्पनाओं के समूह से पाप रूपी मैल से मलिन चित्त होकर कुत्सित चेष्टाएं करें, उसे निश्चय करके मृषानन्द नामक रौद्र-ध्यानी बतलाया गया है।[2] मृषानन्दी सत्त्व मनोवाञ्छित फल प्राप्ति के लिए झूठ को सत्य बतलाकर लोगों को ठगता है और अपने को दूसरों से चतुर समझता है।

(३) चौर्यानन्द रौद्रध्यान

तीव्र क्रोध, द्वेष, लोभ आदि के वशीभूत होकर परद्रव्य हरण करने के लिए उपाय सोचना, चोरी के संकल्प से लेकर चोरी करने तक जितनी भी क्रियाएं-प्रक्रियाएं हैं वे सभी चौर्यानन्द रौद्रध्यान के अन्तर्गत आती हैं। किसी के अधिकार वाली वस्तु का अपहरण करना चोरी है, ऐसी चेष्टाओं वाले चिन्तनमनन को स्तेयानुबन्धी या चौर्यानन्द रौद्रध्यान कहते हैं[3] और जो चोरी के कार्यों के उपदेश के आधिक्य से युक्त है अथवा चौर्यकर्म में चातुर्य एवं चोरी के कार्यों में ही दत्तचित्त है वह चौर्यानन्द रौद्रध्यान है।[4]

(४) विषय संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान

इन्द्रियों के विषयों शब्द आदि की लालसाओं का पूर्ण करने के

१. ध्यान शतक, गा० २०

२. असत्यकल्पनाजालकश्मली कृतमानसः।
चेष्टते यज्जनस्तद्धि मृषारौद्रं प्रकीर्तितम् ॥ ज्ञाना०, २६.१६

३. दे० स्थानांगसूत्र १२ पर व्याख्या, पृ० ६८१, भगवतीसूत्र, शतक २५ उद्दे०७ पर भाष्य तथा दे० औपपातिक सूत्र, तपोधिकार
तथा-तह तिव्वकोहलहाउलस्समूओव धायणमणज्जं।
परदव्वहरणचित्तं परलोयावायनिरवेक्खं ॥ ध्यान शत०, गा २१

४. चौर्योपदेशबाहुल्यं चातुर्यं चौर्यकर्मणि।
यच्चौर्यैकपरं चेतस्तच्चौर्यानन्द इष्यते ॥ ज्ञाना०, २६.२४

लिए भोग्य पदार्थों का जुटाना, उन्हें सुरक्षित रखने के लिए भोगों के प्रधान साधन रूप धन की रक्षा करना, परिग्रह में लीन रहना, नीति-अनीति, न्याय-अन्याय आदि की उपेक्षा करके धन-संग्रह करने की चिन्ता करना, सभी को शंका की दृष्टि से देखना जो-जो उस धन के भागीदार हैं, उनसे द्वेष करना, इत्यादि रूपों में किया गया चिन्तन ही विषय संरक्षानुबन्धी रौद्रध्यान है।[1] क्रूर परिणामों से युक्त होकर तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्र से शत्रुओं को नष्ट करके, उनके ऐश्वर्य तथा सम्पत्ति को भोगने की इच्छा रखना अथवा शत्रु से भयभीत होकर अपने धन, स्त्री, पुत्र राज्यादि के संरक्षार्थ भांति-भांति की चिन्ता करना ही विषय संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान है।[2]

इस प्रकार रौद्रध्यानी सर्वदा अपध्यान में लीन रहता है और दूसरे प्राणियों को पीड़ा पहुंचाने के उपाय सोचता रहता है। फलतः वह भी दूसरों के द्वारा पीड़ित होता है, ऐहिक परलौकिक भय से आतंकित होता है। अनुकम्पा से रहित, नीचकर्म में निर्लज्ज एवं पाप में आनन्द मनाने वाला होता है। इस तरह यह रौद्रध्यान संसार का मूल तथा नरक गति का कारण है।[3]

रौद्रध्यान के लक्षण

शास्त्रकारों ने रौद्रध्यानी के चार लक्षण बतलाए हैं[4]—

---

१. स्थानांगसूत्र १२ पर व्याख्या, पृ० ६८१, भगवतीसूत्र, शतक २५, उद्दे० ७ पर व्याख्या, औपपातिकसूत्र, तपोधिकार
तथा—सदाइविसयसाहणधणसारक्खणपरायणमणिटठं।
सत्वाभिसंकणपरोवधायकलुसाउलं चित्तं। ध्यान श०, गा० २२

२. आरोप्य चापं निशितैः शरोघैर्निकृत्य वैरिव्रजमुद्धताशम्।
दग्ध्वा पुरग्रामवराकराणि प्राप्स्येऽहमैश्वर्यमनन्यसाध्यम्॥ ज्ञाना० २६ ३०-३३

३. रोद्दज्झाण संसारवद्धणं नरयगइमूले॥ ध्यान शतक, गाथा २४

४. रुदस्सणं झाणस्स चत्तारिलक्खणापण्णता तं जहा-ओसण्णदोसे, बहुदोसे, अन्नाणदोसे, आमरणंतदोसे। स्थानां०, प्र०उ०, सूत्र १२
भगवतीसूत्र उद्दे० ७, शतक २५; तथा—
लिंगाइतस्स उस्सण्ण बहुलनानाविहामरण दोसा।
तेसिंचिय हिंसाइस बाहिरकरणोवउत्तस्स॥ ध्यान श०, गा० २६

(१) रौद्रध्यानी की प्रवृत्ति हिंसादि पांच आस्रवों में पाई जाती है। जिसकी प्रवृत्ति दोषों के सेवन में लगी हुई है और जिसमें प्रायः द्वेष अर्थात् दूसरों को मारने अथवा उन्हें किसी न किसी तरह नुकसान पहुंचाने की तीव्र इच्छा रहती है।

(२) रौद्रध्यानी की प्रवृत्ति दोषों में बहुलता होने के कारण उसमें पापों की अधिकता पाई जाती है।

(३) रौद्रध्यानी की प्रवृत्ति अज्ञानमयी होती है क्योंकि कुशास्त्रों के अध्ययन से उसके ऐसे ही संस्कार बन जाते हैं।

(४) यह रौद्रध्यानी स्वकृत पापों का अन्त तक प्रायश्चित नहीं करता। यही रौद्रध्यानी के चार लक्षण हैं किन्तु आचार्य शुभचन्द्र क्रूरता, दण्ड, पारुष्यता, वञ्चकता और कठोरता ये चार रौद्रध्यान के लक्षण मानते हैं।[1]

रौद्र ध्यानी की लेश्याएं

इस ध्यानी के परिणाम चूंकि क्रूर होते हैं अतः इसकी लेश्याएं भी अप्रशस्त अर्थात् कृष्ण नील और कापोत होती हैं।[2] रौद्रध्यान प्रायः पंचम गुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है।[3] यह क्षायोपशमिकभाव है इसका काल अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त होता है। इस ध्यान का आधार (object) सदैव खोटी वस्तु ही होती है।[4]

आर्त एवं रौद्र दोनों ही ध्यान निन्दनीय हैं। ये प्रायः आरम्भ परिग्रह और कषायों से मलिन अन्तःकरण वाले गृहस्थों में स्वभावतः

---

१. क्रूरता दण्डपारूष्यं वञ्चकत्वं कठोरता।
निस्त्रिंशत्वं च लिङ्गानि रौद्रस्योक्तानि सूरिभिः॥ ज्ञाना० २६.३७

२. कापोय-नील-कालालेस्साओ तिव्वसंकिलिट्ठाओ।
रोद्दज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणाम जणियाओ। ध्यान श०, गा २५
तथा—कृष्णलेश्याबलोपेतं श्वभ्रपातफलाङ्कितम्।
रौद्रमेतद्धि जीवानां स्यात्पञ्चगुणभूमिकम्॥ ज्ञानार्णव, २६.३६

३. अविरय देसासंजय जणमणसंसेवियमहण्णं। ध्यान शत०, गा० १३

४. क्षायोपशमिको भावः कालश्चान्तर्मुहूर्तकः।
दुष्टाशयवशादेतदप्रशस्तावलम्बनम्॥ ज्ञानार्णव, १६.३९

पाये जाते हैं।[1] कभी-कभी ये यति-मुनियों में भी पूर्व कर्म के उदय से पाये जाते हैं। बाहुल्य से ये संसार के कारण हैं।[2] ये दुर्ध्यान हैं, जो जीवों के अनादि काल के संस्कार से बिना ही यत्न के स्वतः निरन्तर उत्पन्न होते हैं।[3] अतः दोनों ही सयत्न त्याज्य हैं।

३. धर्म ध्यान

धर्म का चिन्तन ही धर्मध्यान है। तब प्रश्न उठता है कि धर्म किसे कहते हैं?

धर्म का स्वरूप

धर्म शब्द का प्रयोग भारतीय वाङ्मय में अनेक अर्थों में किया गया है। **अथर्ववेद** में इसका प्रयोग धार्मिक क्रियाओं और संस्कारों से उत्पन्न होने वाले गुण के अर्थ में मिलता है।[4] **छान्दोग्योपनिषद्** में धर्म-शब्द का प्रयोग आश्रमों में विलक्षण कर्त्तव्यों की ओर संकेत करता है।[5] **महाभारत** के अनुशासन पर्व में[6] अहिंसा के लिए और वनपर्व में[7] आनृशंस्य के लिए **परम धर्म** शब्द का उल्लेख किया गया है। **मनुस्मृति** में आचार को ही धर्म माना गया है।[8]

धर्म शब्द की निष्पत्ति संस्कृत की 'धृ' धारणे धातु से हुई है।[9]

---

१. इत्यार्त्तरौद्रे गृहिणामजस्रं ध्याने सुनिन्द्ये भवतः स्वतोऽपि।
परिग्रहारम्भकषायदोषैः कलङ्कितेऽन्तःकरणे विशङ्कम्॥
वही, २६.४१

२. क्वचित्क्वचिदमी भावाः प्रवर्त्तन्ते मुनेरपि।
प्राक्कर्मगौरवाच्चित्रं प्रायः संसारकारणम्॥ वही, २६.४१

३. वही, २६.४३

४. अथर्ववेद. ६.१७

५. छान्दोग्योपनिषद्, १.१३

६. महाभारत, अनुशासनपर्व ११५.१

७. वही, वनपर्व, ३७३.७३

८. आचारः प्रथमो धर्मः। मनुस्मृति, १.१०८

९. धारणात् धर्म इत्याहुः। वाल्मीक रामायण ७.५

इसका अर्थ होता है—धारण करना।[1] कुछ विद्वान् इसे 'धृ' धरणे धातु से निष्पन्न मानते हैं, जिसका अर्थ है—धरना अर्थात् जैसे एक वस्तु को किसी स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर धर देना धर्म है, उसी प्रकार संसार के प्राणियों को बुरी गति में जाने से जो बचाता है या दुःखों से छुटकारा दिलाता है, साथ ही उत्तम सुख की प्राप्ति भी जो कराता है अथवा उच्चगति में ले जाता है, वह धर्म ही तो है।[2]

धर्म गिरे हुए जीवों को उठाकर उन्नत या उच्च स्थान पर स्थापित करता है। इसी लिए यह धर्म है। इस पर जब गहराई से विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि धारण करने और धरने में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं हैं, अपितु ये दोनों ही एक दूसरे पर निर्भर हैं। धर्म में दोनों ही बातें आ जाती हैं। जो जीव संसार के दुःखों में उलझ कर पतित बना पड़ा है, वह यदि उनसे छुटकारा चाहता है तो वह धर्म को धारण करेगा और धर्म भी उसे पतित स्थान से उठाकर उत्तम सुख वाले स्थान में पहुंचा देगा।

इस संसार में जितने भी जीव हैं वे भी सभी दुःखी हैं। अतः सभी कोई ऐसा स्थान चाहते हैं जहां पर थोड़ासा भी दुःख न हो। ऐसे अभीष्ट स्थान पर जो जीव को पहुंचाता है, वही धर्म है।[3]

---

१. दे० धर्मदर्शन मनन और मूल्यांकन, पृ० ५

२. यस्माज्जीवं नरकतिर्यग्योनिकुमानुषदेवत्वेषु प्रपतन्तं धारयतीति धर्मः। उक्त च दुर्गतिप्रसृतान् जीवान् यस्माद्धारयते यतः।
धत्ते चैतान् शुभस्थाने तस्माद् धर्म इति स्थितः। दशवैका०, जिन० चूर्णि, पृ० १५
देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्,
संसार दुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥ रत्नकरण्डक श्रावकाचार, श्लोक १.२

३. (क) इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्मः। सर्वार्थसिद्धि, ९.२
(ख) धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम्।
तत्राजवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदव्ययः॥ पंचाध्य०, उत्तरार्ध, श्लोक श्लोक ७१५
(ग) धत्ते नरकपाताले निमज्जज्जगतां त्रयम्।
योजयत्यपि धर्मोऽयं सौख्यमत्यक्षमङ्गिनाम्॥ ज्ञाना०, धर्म भावना, २.१२ पृ० ४६
(घ) महापुराण, २.२७
(च) तत्त्वार्थवार्तिक, ९.२.३

प्रवचनसार की तात्पर्याख्यावृत्ति[1] के कर्त्ता के अनुसार धर्म वह है—'जो मिथ्यात्व, राग आदि में हमेशा सँसरण कर रहे भवसंसार से जो प्राणियों को ऊपर उठाता है और विकार रहित शुद्ध चैतन्यभाव में परिणत करता है।' **परमात्मप्रकाशकार** के अनुसार धर्म जीव को मिथ्यात्व, रोगादि परिणामों से बचाता है और उसे अपने निजी शुद्धभाव में पहुंचा देता है[2] जिससे सत्त्व अहर्निश कल्याण मार्ग में संलग्न रहता है।

महापुराण[3] और **चारित्रसार**[4] में भी धर्म के विषय में यही आशय प्रकट किया गया है। **द्रव्यसंग्रह** की टीका में भी ऐसा ही मिलता है।[5]

जैन आचार्यों ने धर्म का स्वरूप बताते हुए कहा है कि धर्म उत्कृष्ट मंगल है और वह अहिंसा, संयम और तप रूप है।[6] जबकि तीर्थंकरों ने धर्म को दश लक्षण वाला बतलाया है। वे हैं—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य।[7] इन धर्मों पर वृत्ति लिखते हुए आचार्य अभयदेव ने जो व्याख्या की है, वह भी उपर्युक्त चर्चा की पुष्टि करती है।[8] **समवायांगसूत्र**[9] और **तत्त्वार्थ-**

१. मिथ्यात्वरागादिसंसरणरूपेण भावसंसारे प्राणिनमुद्धृत्य निर्विकारशुद्धचैतन्ये धरतीति धर्मः। प्रवचनसार, तात्पर्याख्यावृत्ति, ७.६

२. भाव विसुद्धणु अप्पाणउ धम्मभणे विणु लेहु।
चणइदुक्खहं जो धरइ जीव पडंतउएहु ॥ परमात्म प्र०, २.६८

३. महापुराण, २.३७

४. चारित्रसार, गा० ३

५. निश्चयेन संसारपतन्तमात्मानं धरतीति विशुद्धज्ञान-दर्शनलक्षण-निजशुद्धात्मा भावनात्मभावनात्मको धर्मः। व्यवहारेण तत्साधनार्थदेवेन्द्रादिवन्द्यपदे धरतीत्युत्तमक्षमादिदशप्रकारो धर्मः। द्रव्यसंग्रह, टीका, पृ० ३५

६. धम्मो मंगलमुकिट्ठं अहिंसा संयमो तवो। दशवै०का० १.१

७. दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते तं जहा-खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, सच्चे, संजमे, तवे, चियाए, बंभचेरवासे ॥ स्थानांगसूत्र १०.१६

८. खंतीयमद्दवज्जव मुत्ती तव संजमे य बोद्धव्वे।
सच्चं सोयं आकिंचण बंभं च जइ धम्मो। स्थानांगसूत्र वृत्ति पत्र १८३

९. दसविहे समण धम्मे पण्णत्ते, तं जहां-खंती, मुत्ती, अज्जवे,
मद्दवे, लाघवे, सच्चे, संजमे, तवे, चियाए बंभचेरवासे ॥ समवायांग १०

सूत्र[1] में भी ऐसा ही मिलता है।

स्वामि कार्तिकेय ने अपने ग्रंथ **स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा** में पूर्व कथित दश लक्षण रूपधर्म से भिन्न परिभाषा दी है। उनके अनुसार वस्तु का जो स्वभाव है वही धर्म है। क्षमा आदि दश प्रकार के भाव धर्म है। रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र) धर्म है और जीवों की रक्षा करना भी धर्म है।[2] इस प्रकार सत्त्वों का जो स्वभावरूप सदाचरण है वही वास्तविक धर्म है।

वत्थु सुहावो धम्मो, खमादि दस विहो धम्मो रयणत्तयं च धम्मो और **जीवाणं रक्खणं धम्मो** में अलग-अलग जिन भावों की अभिव्यक्ति की गई है, वे सब इसमें समाहित हो जाते हैं। आत्मा का अपना जो मूल स्वभाव है, उसके जो निजी परिणाम है, उस स्वभावरूप परिणमन को चारित्र में प्रतिफलित होना बतलाया गया है। इसलिए चारित्र ही धर्म है—**चारित्तं खलु धम्मो**।[3]

रयणत्तयं च धम्मो जिस दृष्टि से कहा गया है वह धर्म के व्यवहारिक-सांसारिक दृष्टिकोण को लक्षित करता है। ऐसे ही **जीवाणं रक्खणं धम्मो** भी व्यवहारिक दृष्टिकोण को ही अभिव्यक्त करता है। और **चरित्तं खलु धम्मो** की दृष्टि निश्चयात्मक और आध्यात्मिक धरातल पर खड़े रहने वाले की दृष्टि है अर्थात् नीचे से ऊपर की ओर देखने से **रयणत्तयं च धम्मो** का कथन किया गया है, जबकि ऊपर से देखने वाली दृष्टि से **चरित्तं खलु धम्मो** का कथन किया गया है। इस प्रकार ये चाहे देखने में भिन्न प्रतीत होते हैं फिर भी तात्त्विक दृष्टि से इनमें कोई अन्तर नहीं है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि मानव का आचरण ही धर्म है।

धर्म ध्यान का अधिकारी

यह प्रशस्त ध्यान माना गया है कारणकि इस ध्यान से जीव का

---

१. उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।
तत्त्वार्थसूत्र, ९.६

२. धम्मो वत्थु सुहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मं जीवाणं रक्खणधम्मो॥ स्वामिकार्ति०, ४.७८

३. दे० प्रवचनसार, गा० ७

उत्थान होता है और आत्म चिन्तन की ओर प्रवृत्त होने से रागभाव का उपशम होता है। अतः यह आत्मविकास का प्रथम सोपान है। स्थानांगसूत्र में इस ध्यान को श्रुत, चारित्र और धर्म से युक्त बतलाया गया है।[1] धर्मध्यान उसमें होता है जो दशविध धर्मों का पालन करता है तथा प्राणियों की रक्षा करने के लिए सदा तत्पर रहता है।[2] प्रमाद से रहित तथा जिनका मोह क्षीण होने लगा है ऐसे ज्ञानी ही धर्मध्यान का अधिकारी है।[3]

धर्मध्यानी के लिए ध्याता, ध्येय, ध्यान उसका फल, स्वामी, ध्यान का स्थान, काल और अवस्था, ध्यान योग्य मुद्राओं को अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए।[4]

निर्विघ्न ध्यान देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार सम्पादित होता है[5] और इसके लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य उपेक्षित है जिनसे सहज मन को स्थिर किया जाता है, कर्मास्रव अवरुद्ध होता है ओर वीतराग भाव को प्राप्त किया जाता है। आचार्य शुभचन्द्र[7] और हेनचन्द्र ने[8] ध्यान की सफलता के लिए मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन चार भावनाओं का चिन्तन उपयोगी बतलाया है।

धर्मध्यान की सिद्धिहेतु आवश्यक निर्देश

ध्यान की सिद्धि के लिए विभिन्न निर्देश प्राचीन आचार्यों ने दिए हैं—जैसा कि 'ध्याता ऐसी जगह कभी ध्यान न करे जहां स्त्री, पशु व

१. स्थानांगसूत्र ४.२४७
२. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, स्वोपज्ञ भाष्य ६.२६
३. दे० ध्यानशतक, गा० ६३
४. तत्त्वानुशासन, श्लोक ३७
५. वही, श्लोक ३८-३६
६. ध्यानशतक, गाथा ३०-३४
७. चतस्रो भावना धन्याः पुराणपुरुषाश्रिताः।
मैत्र्यादयश्चिरं चित्ते विधेया धर्मस्य सिद्धये ॥ ज्ञानार्णव, २७.४
८. मैत्रीप्रमोदकारुण्य माध्यस्थानि नियोजयेत्।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं तद्धि तस्य रसायनम् ॥ यो० शा०, ४.११७

क्षुद्र प्राणी आदि हों। वह साधक ऐसे निर्जन स्थान पर चला जाए, जहां किसी भी प्रकार की बाधा की सम्भावना न हो और वह किसी भी जगह दिन अथवा रात्रि में ध्यान करने के लिए बैठ सके।[2] यह भी निर्देश है कि ध्यान का आसन सुखदायक होना चाहिए जिससे ध्यान में स्थिरता बनी रहे।[3]

धर्म ध्यान की विधि

ध्याता पुरुष जब ध्यान करने के लिए उद्यत हो तब उसे इन बातों का भी ध्यान रखना चाहिए—

(१) ऐसे आरामप्रद आसन पर बैठे कि जिससे लम्बे समय तक बैठने पर भी मन विचलित न हो।

(२) दोनों ओंठ मिले हुए हों।

(३) दोनों नेत्र घ्राण के अग्र भाग पर स्थापित हों।

(४) दांत इस प्रकार रखें कि ऊपर के दांतों के साथ नीचे के दांतों का स्पर्श न हो।

(५) मुख मण्डल प्रसन्न हो।

(६) पूर्व या उत्तर दिशा में मुख हो।

(७) प्रमाद से रहित हो।

(८) मेरुदण्ड को सीधा रखकर सुव्यवस्थित आकार से बैठें।[4]

ध्यान बैठकर, लेटकर अथवा खड़े होकर किसी भी आसन में किया

---

१. तत्त्वानुशासन, श्लोक ९०-९५

२. कालोऽवि सोच्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ।
न उ दिवसनिसावेलाइ नियमणं झाइणो भणियं॥ ध्यानश०, गा० ३८

३. जायते येन येनेह विहितेन स्थिरं मनः।
तत्तदेव विधातव्यमासनं ध्यानसाधनम्॥ यो० शा०, ४.१३४

४. सुखासनसमासीनः सुश्लिष्टाधरपल्लवः।
नासाग्रन्यस्तदृग्द्वन्द्वोदन्तैर्दन्तान् संस्पृशन्॥
प्रसन्नवदनः पूर्वाभिः मुखो वाप्युदङ्मुखः।
अप्रमत्तः सुस्थानो ध्याता ध्यानोद्यतो भवेत्॥ वही, ४.१३५-१३६

जा सकता है ।[1] साधक समस्त चिन्ताओं से मुक्त होकर आत्म स्वरूप में लीन हो जाए। यह नहीं सम्भव है जहाँ शोरगुल झगड़ा और दूषित वातावरण न हो तथा ऐसा स्थान निर्जन, पहाड़, गुफा आदि ही हो सकता है ।[2]

धर्मध्यान के भेद-प्रभेद

शास्त्रकारों ने धर्म ध्यान के प्रमुख चार भेद बतलाए हैं[3], यहां पर क्रमशः उनका विवेचन किया जाता है।

१. आज्ञाविचय धर्मध्यान

प्रमाणपूर्वक बोध कराने वाले प्रवचन को 'आज्ञा' कहते हैं और अर्थों का निर्णय करना 'विचय' कहलाता है। आज्ञा द्वारा पदार्थों के स्वरूप से परिचित होना और अरिहन्त भगवान् की आज्ञा को सत्य मानकर दृढ़ श्रद्धा के साथ तत्त्वों का चिन्तन-मनन करने के लिए मनो-योग लगाना आज्ञाविचय धर्मध्यान है।[4] इस प्रकार से इस ध्यान में मुख्यतः सर्वज्ञ वचनों का आलम्बन लिया जाता है और मन को सूक्ष्म से

---

१. जच्चिय देहावत्थाजियाणझाणोवरोहिणी होई।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा ॥ ध्यान श०, गा० ३९

२. रागादिवागुराजालं निकृत्याचिन्त्यविक्रमः।
स्थानामाश्रयते धन्यो विविक्तं ध्यानसिद्धये ॥ ज्ञानार्णव, २७.२०
तथा—तीर्थं वा स्वस्थताहेतु यत्तद्वा ध्यानसिद्धये।
कृतासनजयो योगी विविक्तं स्थानमाश्रयेत् ॥ यो० शा०. ४.१२३

३. दे० भगवतीसूत्र. शतक २५, उद्दे० ७, स्थानांगसूत्र प्र० उ० सूत्र १२; औपपातिकसूत्र तपोधिकार।
तथा—(क) आज्ञापायविपाकानां संस्थानस्य च चिन्तनात्।
इत्थं वा ध्येयभेदेन धर्मध्यानं चतुर्विधम् ॥ यो० शा०, १०.७
(ख) आज्ञापायविपाकानां क्रमशः संस्थितेस्तथा।
विजयो यः पृथक् तद्धि धर्मध्यानं चतुर्विधम् ॥ ज्ञाना० ३३.५
तथा—तत्त्वानुशासन, श्लोक ९८

४. दे० (क) स्थानांगसूत्र, पर व्याख्या, पृ० ६८४
(ख) योगशास्त्र ४.८-९
(ग) ज्ञानार्णव, अ० ३०

सूक्ष्मता की ओर बढाया जाता है।

२. अपायविचय धर्मध्यान

संसार में जितने भी अनर्थ होते हैं। उन सब का मूल कारण राग, द्वेष, कषाय, प्रमाद, आसक्ति एवं मिथ्यात्व है। इन राग-द्वेषादि दोषों से छुटकारा पाने के लिए मनोयोग लगाना 'अपायविचय' धर्मध्यान है।[1] योगशास्त्र के अनुसार राग-द्वेष से उत्पन्न दुर्गति के कष्टों का चिन्तन 'अपायविचय' धर्मध्यान है।[2] इस ध्यान में कर्मों के विनाश के उपायों पर सोचा जाता है।[3]

३. विपाकविचय धर्मध्यान

निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा का स्वरूप विशुद्ध निर्मल, सत्, चित् और आनन्द रूप है, किन्तु कर्मों के कारण आत्मा के वे गुण दब जाते हैं। कर्मफल का अवसर आने पर उसके विषय में शास्त्र निर्दिष्ट सिद्धान्तों के अनुरूप चिन्तन करना, कर्म सिद्धान्त में उपयोग लगाना एवं जिस रूप में विपाक का उदय हो रहा हो उसके मूल का अन्वेषण करना विपाकविचय धर्मध्यान है।[4] 'विपाक' शब्द कर्मों के शुभ-अशुभ फल के उदय का द्योतक है। अतः कर्मों की विचित्रता अथवा कर्मफल के क्षण-क्षण में उदित होने की प्रक्रियाओं के बारे में विचार करना विपाकविचय धर्मध्यान है[5] अभिप्राय यह है कि इस ध्यान में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से चिन्तन किया जाता है कि उदय, उदीरणा कैसे और

---

१. स्थानांगसूत्र, पृ० ६८४

२. रागद्वेषकषायाद्यैर्जायमानान् विचिन्तयेत्।
यत्रापायांस्तदपायविचयध्यानमिष्यते। यो० शा०, १०.१०

३. अपायविचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः।
अपायः कर्मणां यत्र सोपायः स्मर्यते बुधैः॥ ज्ञानार्णव, ३४.१

४. दे० स्थानांगसूत्र, पृ० ६८१

५. स विपाकः इति ज्ञेयो यः स्वकर्मफलोदयः।
प्रतिक्षणसमुद्भूतश्चित्ररूपः शरीरिणाम्॥ ज्ञानार्णव, ३५.१
तथा—प्रतिक्षणसमुद्भूतो यत्र कर्मफलोदयः।
चिन्त्यते चित्ररूपेः स विपाकविचयोदयः॥ यो० शा०, १०.१२

किस कारण से होती है तथा उनको नष्ट कैसे किया जा सकता है ।[1]

४. संस्थानविचय धर्मध्यान

लोक, द्वीप, समुद्र, द्रव्य, गुण-पर्याय, जीव आदि सभी पदार्थ किसी न किसी संस्थान अर्थात् आकार को लिए हुए हैं । संस्थान रहित अर्थात् निराकार कुछ भी नहीं है, लोक के अन्तर्वर्ती सभी पदार्थ संस्थान वाले हैं, उनका चिन्तन करना अथवा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ इनमें से किसी एक में मनोयोग देना संस्थानविचयधर्मध्यान है ।[2]

अनादि अनन्त किन्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परिणामी स्वरूप वाले लोक की आकृति का जिस ध्यान में विचार किया जाता है वह संस्थानविचय धर्मध्यान है ।[3] इस ध्यान में संसार के नित्य-अनित्य पर्यायों का चिन्तन होने से वैराग्य की भावना दृढ़ होती है और साधक शुद्ध आत्म स्वरूप की ओर बढ़ता है ।

किसी भी कार्य में सफलता के लिए अभ्यास नितान्त अपेक्षित है । ध्यान की सफलता के लिए भी अभ्यास की महती आवश्यकता है । ध्यान में सफलता के लिए पहले किसी स्थूल पदार्थ को आलम्बन बनाया जाता है फिर भी साधक स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है[4] ।

आलम्बन को ही दूसरे शब्दों में ध्येय कहा जाता है । ध्येय के चार भेद किए गए हैं—

---

१. कर्मजातं फलं दत्तं विचित्रमिह देहिनाम् ।
आसाद्य नियतं नाम द्रव्यादिकचतुष्टयम् ॥ ज्ञानार्णव, ३५.२

२. दे० स्थानांगसूत्र, पृ० ६८४

३. अनाद्यनन्तस्य लोकस्य स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मनः ।
आकृतिचिन्तयेत् यत्र संस्थानविचयस्तु सः ॥ यो० शा०, १०-१४
तथा, ज्ञानार्णव, अध्याय ३६

४. (क) अलक्ष्यं लक्ष्यसम्बन्धात् स्थूलात् सूक्ष्मविचिन्तयेत् ।
सालम्बाच्च निरालम्ब तत्त्ववित् तत्त्वमञ्जसा ॥ ज्ञाना०, ३३,४
(ख) स्थूले वा यदि वा सूक्ष्मे साकारे वा निराकृते ।
ध्यानं ध्यायेत स्थिरं चित्तं एकप्रत्ययसंगते ॥ योगप्रदीप, श्लोक १३६

(१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ (३) रूपस्थ और (४) रूपातीत ।[1] इन्हें ही संस्थानविचय ध्यान के चार भेद बतलाया गया है ।[2]

(१) पिण्डस्थध्यान

पिण्ड का अर्थ है—शरीर । इसका अभिप्राय है—शरीर के विभिन्न अंगों पर मन को केन्द्रित करना । **योगशास्त्र** तथा **ज्ञानार्णव** के अनुसार इसके पांच भेद हैं—

(१) पार्थिवी, (२) आग्नेयी (३) वायवी, (४) वारुणी और (५) तत्त्ववती ।[3] इन्हें धारणा भी कहा जाता है ।

इन पांच धारणाओं के माध्यम से साधक उत्तरोत्तर आत्मकेन्द्रित ध्यान में स्थित होता है ।

(१) पार्थिवी[4]

सर्वप्रथम साधक को पार्थिवी धारणा में हम जिस पृथ्वी पर रहते हैं उसका नाम तिर्यग्लोक अथवा मध्यलोक है । मध्य लोक एक रज्जु, प्रमाण विस्तृत है । इस मध्यलोक के बराबर लम्बे चौड़े क्षीरसागर में जम्बूद्वीप के बराबर एक लाख योजनविस्तार वाले और एक हजार पंखुड़ियों वाले कमल का चिन्तन करना चाहिए । उसके बाद उसके मध्य में केसराएं हैं और उसके अन्दर देदीप्यमान पीली प्रभा से युक्त मेरु पर्वत के बराबर एक लाख योजन ऊंची कर्णिका है, ऐसा चिन्तन करना

---

१. पिण्डस्थं च पदस्थं रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
चतुर्धाध्येयमाम्नातं ध्यानस्यालम्बनं बुधैः ॥ यो० शा०, ७.८
तथा योगसार, श्लोक ९८

२. पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
चतुर्धा ध्यानमाम्नातं भव्यराजीवभास्करैः ॥ ज्ञाना०, ३७.१

३. पार्थिवी स्यादथाऽऽग्नेयीमारुतीवारुणी तथा ।
तत्त्वभूः पञ्चमी चेति पिण्डस्थे पञ्च धारणा ॥ यो० शा०, ७.९
तथा—पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना वाथ वारुणी ।
तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥ ज्ञानार्णव, ३७.३

४. दे० योगशा० ७.१०-१२; ज्ञानार्णव, ३७.४-९; योग प्रदीप, २०.४,५,८

चाहिए। उस कर्णिका के ऊपर एक उज्ज्वल सिंहासन है और उस सिंहासन के ऊपर आसीन होकर कर्मों का समूल-उन्मूलन करने में उद्यत अपने आपका चिन्तन करना चाहिए। चिन्तन की इस प्रक्रिया को पार्थिवी धारणा और पिण्डस्थ ध्यान कहते हैं।

(२) **आग्नेयीधारणा**[1]

इस धारणा के विषय में बतलाया गया है कि साधक नाभि के भीतर सोलह पंखुड़ी वाले कमल का चिन्तन करें और तत्पश्चात् उस कमल की कर्णिकाओं पर अर्हं महामन्त्र की स्थापना करके उसको प्रत्यक पंखुड़ी पर क्रमशः अ, आ आदि सोलह स्वरों को स्थापित करना चाहिए। फिर ऐसा चिन्तन करे कि उस महामन्त्र से धुंआ निकल रहा है तथा अग्नि की ज्वाला ऊपर उठ रही है। इसके बाद हृदय में आठ पंखुड़ी से युक्त अधोमुख कमल की अर्थात् अष्ट कर्मों की कल्पना करे। पुनः उसे चिन्तन करना चाहिए कि नाभिस्थित कमल से उठी प्रबल ज्वालाओं से वे कर्म नष्ट हो रहे हैं और 'र' से व्याप्त हासिया चिन्ह से युक्त धूम रहित अग्नि प्रज्वलित है, ऐसा चिन्तन करे।

इसके बाद वह चिन्तन करे कि देह एवं कर्मों को दग्ध करके अग्नि दाह का अभाव होने के कारण धीरे-धीरे वह शान्त हो रहा है। शरीर से बाहर तीन कोण वाले स्वस्तिक से युक्त और अग्निबीज 'रेफ' से युक्त जलते हुए वह्निपुर का चिन्तन उसे करना चाहिए। अनन्तर शरीर के अन्दर महामन्त्र के ध्यान से उत्पन्न हुई शरीर की ज्वाला से तथा बाहर की वह्निपुर की ज्वाला से देह और आठ कर्मों से बने कमल को तत्काल भस्म करके अग्नि को शान्त कर देना चाहिए। इस तरह के चिन्तन को 'आग्नेयीधारणा' कहते हैं।

---

१. त्रिचिन्तयेनथानाभौ कमलं षोडशच्छदम्।
कर्णिकायां महामन्त्रं प्रतिपत्रं स्वरावलिम्॥
रेफबिन्दु कलाक्रान्तं महामन्त्रे यदक्षरम्।
तस्य रेफाद्विनिर्यान्तीं शनैर्धूमशिखां स्मरेत्॥ यो० शा०, ७.१३-१४ तथा १५-१८
तथा—ततोऽसौ निश्चलाभ्यासात्कमलं नाभिमण्डले।
स्मरत्यतिमनोहारि षोडशोन्नतपत्रकम्॥
रेफरुद्धं कलाबिन्दुलाञ्छितं शून्यमक्षरम्।
लसदिन्दुच्छटाकोटिकान्ति व्याप्तहरिन्मुखम्॥ ज्ञानार्णव, ३७.१०
एवं १२ तथा अधिक के लिए दे० वही, गा० १८-१६

(३) वायवीधारणा[1]

इस धारणा में साधक पूर्व वर्णित आग्नेयी धारणा के पश्चात् समग्र तीनों लोकों को भरने वाले, पर्वतों को चलायमान करने वाले और समुद्र को क्षुब्ध करने वाले प्रचण्ड पवन का चिन्तन करता है और इसके बाद वह आग्नेयीधारणा में देह और अष्ट कर्मों के जलने पर जो राख बनी थी उसे उड़ा देने का चिन्तन करता है। अपने दृढ़ अभ्यास से वह उस पवन को शान्त भी कर देता है जिससे चिन्तन एवं ध्यान में और साधुता आती है। वही वायवीधारणा है।

(४) वारुणीधारणा

वारुणीधारणा में अमृत-सी वर्षा करने वाले मेघों से व्याप्त आकाश का चिन्तन किया जाता है। अनन्तर 'अर्ध चन्द्राकार कलाबिन्दु से युक्त वरुण बीज 'वं' से उत्पन्न हुए अमृत के समान जल से आकाश-तल भर गया है तथा पहले जो राख उड़ी थी वह इस जल से धुल कर साफ हो रही है' ऐसा साधक चिन्तन करता है।

इस प्रकार इस अमृत वर्षा का चिन्तन होना ही वारुणीधारणा है।[2]

---

१. ततस्त्रिभुवनाभोगं पूरयन्तं समीरणम्।
चालयन्तं गिरीनब्धीन् क्षोभयन्तं विचिन्तयेत्॥
तच्चभस्मरजस्तेनशीघ्रमुद्धूयवायुना।
दृढाभ्यासः प्रशान्तिं तमानयेदिति मारुती॥ योगशास्त्र ७.१९,२०
तथा—विमानपथमापूर्य संचरन्तं समीरणम्।
स्मरत्यविरतं योगी महावेगं महाबलम्॥
चालयन्तं सुरानीकं ध्वनन्तं त्रिदशाचलम्।
दारयन्तं घनव्रातं क्षोभयन्तं महार्णवम्॥ ज्ञानार्णव, ३७,२०-२१
तथा दे० गा० २२-२३

२. (क) स्मेद्वर्षत्सुधासारैर्घनमालाकुलं नभः।
ततोऽर्धेन्दु समाक्रान्तं मण्डलं वारुणांकितम्॥ यो० शा० ७.२१
तथा २२

(ख) वरुण्यां स हि पुण्यात्मा घनजालचितं नभः।
इन्द्रायुधतडिद्गर्जच्चमत्काराकुलं स्मरेत्॥ ज्ञाना० ३७.२४ तथा
दे० अधिक के लिए २५, २६-२७

(५) तत्त्ववतीधारणा

इसमें सात धातुओं से रहित चन्द्रमा के समान उज्ज्वल तथा सर्वज्ञ के समान शुद्ध आत्म स्वरूप का चिन्तन करना बतलाया गया है। पुनः सिंहासनस्थ अतिशयों से युक्त महिमासम्पन्न अपने शरीर में स्थित निराकार आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। यही तत्त्ववती धारणा है। इस पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करने वाला योगी मोक्ष के अनन्त सुख को प्राप्त करता है।[1]

इन धारणाओं से युक्त पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करने वाले साधक पर दुष्ट विधाएं उच्चाटन मारण आदि का कोई प्रभाव नहीं होता और शाकिनी, पिशाच आदि शक्तियां भी उसके समक्ष निस्तेज हो जाती हैं। दुष्ट हाथी, सिंह आदि हिंसक प्राणी भी उस साधक पर घात करने में असमर्थ रहते हैं।[2]

पदस्थध्यान

इस ध्यान के अन्तर्गत साधक अपने को बार-बार एक ही केन्द्र पर स्थिर करता है और मन को अन्य विषयों से पराङ्मुख बनाकर केवल सूक्ष्म वस्तु को ध्यान का विषय बनाता है। अपनी रुचि तथा अभ्यास के अनुसार मन्त्राक्षर पदों का आलम्बन करके जो ध्यान किया जाता है,

---

१. (क) सप्तधातुविनाभूतं पूर्णेन्दुविशदद्युतिम्।
सर्वज्ञकल्पमात्मानं शुद्धबुद्धिः स्मरेत्ततः॥ यो० शा०, ७.२३ तथा २४-२५

(ख) सप्तधातुविनिर्मुक्तं पूर्णचन्द्रामलत्विषम्।
सर्वज्ञकल्पमात्मानं ततः स्मरति संयमी॥ ज्ञाना०, ३७.२८ तथा अधिक के लिए दे० गा० २९-३०

२. (क) अश्रान्तमितिपिण्डस्थे कृताभ्यासस्य योगिनः।
प्रभवन्ति न दुर्विधा मन्त्रमण्डलशक्तयः॥ यो० शा० ७.२६ तथा २७-२८

(ख) विद्यामण्डलमन्त्रयन्त्रकुहककूराभिचाराः क्रियाः,
सिंहाशीविषदैत्यदन्तिशरभा यान्त्येव निःसारताम्।

(ग) शाकिन्यो ग्रहराक्षसप्रभृतयो मुञ्चन्त्यसद्वासनां।
एतद्ध्यानधनस्य सन्निधिवशाद् भानोर्यथाकौशिकाः॥ ज्ञाना० ३७.३३

उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं।[1] पदस्थ का अर्थ ही है पदों (अक्षरों) पर ध्यान केन्द्रित करना। इस ध्यान का मुख्य आलम्बन है—शब्द, क्योंकि आकाशादि स्वर तथा ककरादि व्यंजन से ही शब्दों की उत्पत्ति होती है। अतः इसे वर्णमातृका ध्यान भी कहते हैं[2], जो पांच प्रकार से निष्पन्न होता है।

अक्षरध्यान के बाद शरीर के तीन केन्द्रों अर्थात् नाभिकमल, हृदय-कमल और मुखकमल की कल्पना की जाती है और नाभिकमल में सोलह पंखुड़िया वाले कमल की कल्पना करके उसमें अ, आ आदि सोलह स्वरों का ध्यान करने का विधान है।[3]

हृदयकमल में कार्णिका एवं पत्रों सहित चौबीस दल वाले कमल की कल्पना करके उस 'क' वर्ग आदि पांच वर्गों के व्यंजनों का ध्यान करने का विधान है[4] तथा मुखकमल में अष्ट पत्रों से सुशोभित कमल के ऊपर प्रदक्षिणा क्रम से विचार करते हुए प्रत्येक य, र, ल, व, श, ष, ह, इन आठ वर्णों का ध्यान करने का विधान है।[5] इस प्रकार से ध्यान करने वाला योगी सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञाता हो जाता है और उसका संदेह नष्ट हो जाता है : **श्रुतज्ञानाम्बुधेः पारं प्रयाति विगतभ्रमः।**[6]

---

१. क) यत्पदानि पवित्राणि समालम्ब्य विधीयते।
तत्पदस्थं समाख्यातं ध्यानं सिद्धान्तपारगैः॥ यो० शा० ८.१
(ख) पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते।
तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः॥ ज्ञाना० ३८.१

२. (क) संस्मरन मातृकामेवं स्यात् श्रुतज्ञानपारगः॥ यो० शा०, ८.४
(ख) ध्यायेदनादिसिद्धान्तप्रसिद्धां वर्णमातृकाम्।
निःशेषशब्दविन्यासजन्मभूमिं जगन्नुताम्॥ ज्ञाना०, ३८.२

३. दे० योगशा० ८.२

४. वही, ८.३
तथा—चतुर्विंशतिपत्राढ्यं हृदि कञ्जं सकर्णिकम्।
तत्र वर्णानिमान्ध्यायेत्संयमी पञ्चविंशतिम्॥ ज्ञाना० ३८.४

५. (क) वक्त्राब्जेऽष्टदले वर्णाष्टकमन्यत्ततःस्मरेत्। योगशास्त्र. ८.४
(ख) ततो वदनराजीवे पत्राष्टकविभूषिते।
परं वर्णाष्टकं ध्यायेत्सञ्चरन्तं प्रदक्षिणम्॥ ज्ञानार्णव, ३८.५

६. वही, ३८.६

मन्त्र एवं वर्णों के ध्यान में समस्त पदों का स्वामी 'अर्हं' माना गया है, जो रेफ से युक्त कला एवं बिन्दु से आक्रान्त अनाहत मन्त्रराज है ।[1] इस ध्यान के विषय में बतलाया गया है कि साधक को एक सुवर्ण-कमल की कल्पना करके उसके मध्यवर्ती कर्णिका पर विराजमान निष्कलंक निर्मल चन्द्र की किरणों जैसे आकाशवाणी एवं सम्पूर्ण दिशाओं में व्याप्त 'अर्हं' मन्त्र का स्मरण करना चाहिए । तत्पश्चात् मुखकमल में प्रवेश करते हुए भ्रूलता में भ्रमण करते हुए, नेत्र पत्रों में स्फुरायमान होते हुए, भालमण्डल में स्थित होते हुए, उज्ज्वल चन्द्रमा के साथ स्पर्धा करते हुए ज्योतिर्मण्डल में भ्रमण कर सम्पूर्ण अवयवों में व्याप्त कुंभक के द्वारा इस मन्त्रराज का चिन्तन एवं मनन करना चाहिए ।[2]

इस प्रकार इस मन्त्रराज की स्थापना करके मन को क्रमशः सूक्ष्मता की ओर 'अर्हं' मन्त्र पर केन्द्रित किया जाता है अर्थात् अलक्ष्य में अपने को स्थिर करने पर साधक के अन्तःकरण में एक ऐसी ज्योति प्रकट होती है । जो अक्षय तथा इन्द्रियों के अगोचर होती है ।[3] इस ज्योति का नाम आत्मज्योति है तथा इसी से साधक को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है ।

प्रणव का ध्यान

इसमें साधक हृदयकमल में स्थित शब्द ब्रह्म-वचन विलास की उत्पत्ति के अद्वितीय कारण, स्वर, व्यंजन से युक्त, पंच परमेष्ठी के वाचक मूर्धा में स्थित-चन्द्रकला से झरते हुए अमृत के रस से सराबोर

---

१. यद्वामन्त्राधियं धीमानूर्ध्वाधोरेफसंयुतम् ।
कलाबिन्दुसमाक्रान्तमनाहतयुतं तथा ॥ यो० शा०, ८.१८
तथा मिलाइए ज्ञानार्णव, ३८.७-८

२, (क) कनकाम्भोजगर्भस्थं सान्द्रचन्द्रांशुनिर्मलम् ।
गगने संचरन्तं च व्याप्नुवन्तं दिशः स्मरेत् ॥ यो० शा० ८.१९
तथा दे० वही, ८.२०-२२
(ख) ज्ञानार्णव, ३८.१६-१९

३. क्रमात्प्रच्याव्य लक्ष्येभ्यस्ततोऽलक्ष्ये स्थिरं मनः ।
दधतोऽस्य स्फुरत्यन्तर्ज्योतिरत्यक्षमक्षयम् ॥ ज्ञानार्णव, ३८.२८

महामन्त्र प्रणव का ध्यान करता है[1]। इसकी विशेषता यह है कि वह स्तम्भन कार्य में पीत, वशीकरण में लाल, क्षोभित कार्य में मूंगे के समान, द्वेष में कृष्ण, कर्मनाशक अवस्था में चन्द्रमा के समान उज्ज्वल वर्ण का होता है।[2] इस ध्यान से यह सूचित होता है कि ओंकार का ध्यान आश्चर्यजनक एवं लौकिक कार्यों के लिए भी उपयोगी होता है और कर्मक्षय में भी उपयोगी होता है।

पंच परमेष्ठी मन्त्र का ध्यान

इसके अन्तर्गत आठ पंखुड़ी वाले सफेद कमल का चिन्तन होता है। उस कमल की कर्णिका में स्थित सात अक्षर वाले **नमो अरिहंताणं** इस पवित्र मन्त्र का चिन्तन किया जाता है। फिर साधक सिद्ध आदिक चार मन्त्रों का दिशाओं के पत्रों में क्रमशः अर्थात् पूर्वदिशा में **नमो सिद्धाणं** का, दक्षिण दिशा में **नमो आयरियाणं** का पश्चिम दिशा में **नमो उवज्झायाणं** का और उत्तर दिशा में **नमो लोए सव्वसाहूणं** का चिन्तन करता है। विदिशा वाली चार पंखुड़ियों में अनुक्रम से चार चूलिकाओं का अर्थात् आग्नेय कोण में **एसो पंच णमुक्कारो** का, नैऋत्य-कोण में **सव्वपावप्पणासणो** का, वायव्य कोण में **मङ्गलाणं च सव्वेसिं** का और ईशान कोण में **पढमं हवइ मंगलं** का ध्यान होता है।[3]

आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार पूर्वादि चार दिशाओं में तो **नमो अरिहंताणं** आदि का तथा चार विदिशाओं में क्रमशः रत्नत्रय **सम्यग्-दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः सम्यक्चारित्राय नमः** तथा **सम्यक्तपसे**

---

१. तथा हृत्पद्ममध्यस्थं शब्द ब्रह्मैककारणम्।
स्वरव्यञ्जनसंवीतं वाचकं परमेष्ठिनः॥ यो० शा०, ८.२६ तथा ३०
तथा मिलाइए ज्ञानार्णव, ३८.३३-३५

२. पीतं स्तम्भेऽरुणं वश्ये क्षोभणे विद्रुमप्रभम्।
कृष्णं विद्वेषणं ध्यायेत् कर्मघातिशशिप्रभम्। यो० शा०, ८.३२
तथा—जाम्बूनदनिभं स्तम्भे विद्वेषे कज्जलत्विषम्।
ध्येयं वश्यादिकं रक्तं चन्द्राभं कर्मशातने॥ ज्ञाना० ३८.३७

३. अष्टपत्रेसिताम्भोजे कर्णिकायां कृतस्थितिम्।
आद्यं सप्ताक्षरं मन्त्रं पवित्रं चिन्तयेत्ततः॥ यो० शा० ८.३३ व ३४

नमः का चिन्तन किया जाता है।[1]

इस मन्त्र के ध्यान के विषय में कहा है कि इस लोक में जिन योगियों ने आत्यन्तिकी मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त किया है, उन सभी ने एक मात्र इसी महामन्त्र की आराधना की है।[2]

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी मन्त्र हैं जिनका नित्य प्रति जप करने से मनोरोग शान्त होते हैं, कष्टों का निवारण होता है और कर्मों का आस्रव अवरुद्ध हो जाता है, क्योंकि यह मत्र पंच पदों तथा पंच परमेष्ठी की महिमा से ओतप्रोत है। षोडशाक्षर मन्त्र है—**अरिहंत-सिद्ध-आयरिय-उवज्झाय-साहू**[3], छः अक्षरों का जप है—**अरिहंत-सिद्ध**, चार अक्षर वाला है—**अरिहंत**, दो अक्षरों वाला है—**सिद्ध** एव एक अक्षर वाला है **अ**।[4] इन मन्त्रों का जप पवित्र मन से करना चाहिए, क्योंकि समस्त कर्मों को दग्ध करने की शक्ति इन्हीं में समाविष्ट है।[5]

इसी प्रकार **ओं, ह्रां, ह्रीं, ह्रूं, ह्रौं, ह्रः असि आ उसा नमः** इस पंचाक्षरमयी विद्या का जप करन से साधक संसार के कर्मबन्धन सदा-सदा के लिए तोड़ देता है[6] और एकाग्र चित्त से मंगल, उत्तम, शरण पदों का जाप करता हुआ मोक्षलाभ करता है।[7]

---

१. दिग्दलेषु ततोऽन्येषु विदिकपत्रेष्वनुक्रमात् ।
सिद्धादिकं चतुष्कं च दृष्टिबोधादिकं तथा ॥ ज्ञाना० ३८.४०

२. वही, ३८.४१

३. गुरुपंचकनामोत्था विद्या स्यात् षोडशाक्षरा ।
जपन्शतद्वयं तस्याश्चतुर्थस्याप्नुयात्फलम् ॥ यो० शा० ८.३८
तथा—मिलाइए-स्मर पंचपदोद्भूतां महाविद्यां जगन्नुताम् ।
गुरुपंचकनामोत्थां षोडशाक्षरराजिताम् ॥ ज्ञानार्णव. ३८.४८

४. दे० ज्ञानार्णव, ३८.५०-५३

५. वही, ३८.५४

६. पञ्चवर्णमयी पञ्चतत्वा विद्योद्धृता श्रुतात् ।
अभ्यस्यमाना सततं भवक्लेशं निरस्यति ॥ यो० शा० ८.४१
तथा मिलाइए ज्ञानार्णव ३८.५५-५६

७. यो० शा०, ८.४२ तथा तुलना कीजिए-ज्ञानार्णव, ३८.५७

'क्ष्वीं' विद्या का जाप करने का भी विधान है, जिसे भाल प्रदेश पर स्थित करके एकाग्र मन से चिन्तन करने से कल्याण होता है।[1] अतः साधक को कभी ललाट पर क्ष्वीं विद्या का तो कभी नासाग्र पर प्रणव ॐ का तथा कभी शून्य अथवा अनाहत[2] का अभ्यास करना चाहिए। इससे अनेक सिद्धियों तथा निर्मल ज्ञान का उदय होता है।[3]

इस प्रकार पदस्थ ध्यान में पदों का आलम्बन चित्त को एकाग्र करने हेतु लिया जाता है और जप विधियों का अभ्यास किया जाता है, इससे अनेक लब्धियां प्राप्त होती हैं किन्तु जो राग-द्वेषादि से पूरित होकर ध्यान करता है, उसको कोई भी सिद्धि नहीं मिलती।[4]

इन मन्त्र पदों के अभ्यास से विलीन हुए समस्त कर्मों के बाद आत्मा के शुद्ध स्वरूप का प्रतिभास होता है[5] और उस स्वरूप में उपयोग प्राप्त होने से घातिया कर्मों का नाश हो जाता है, और केवलज्ञान की उपलब्धि होती है यही इसका फल है। यही निर्वाण व मुक्ति भी है।

रूपस्थ ध्यान

इस ध्यान में साधक अपने मन को तीर्थंकर अथवा सर्वज्ञदेव पर

---

१. शशिबिम्बादिवोद्भूतां स्रवन्तीममृतं सदा।
विद्या क्ष्वीं इति भालस्थां ध्यायेत्कल्याणकारणम्॥ यो० शा० ८.५७
तथा—स्मरसकलसिद्धविद्यां प्रधानभूतां प्रसन्नगम्भीराम्।
विधुबिम्बनिर्गतामिव क्षरत्सुधार्द्रां महाविद्याम्॥ ज्ञानार्णव, ३८.८१

२. उबिन्द्वाकारहरोर्द्ध्वरेफबिन्द्वानवाक्षरम्।
भालाधः स्यन्दिपीयूषबिन्दुं विदुरनाहतम्॥ ज्ञानार्णव, पृ० ३६८ पर उद्धृत गाथा १

३. नासाग्रे प्रणवःशून्यमनाहतमितित्रयम्।
ध्यायन् गुणाष्टकं लब्ध्वा ज्ञानमाप्नोति निर्मलम्॥ यो० शा० ८.६०
तथा—नासाग्रदेशसंलीनं कुर्वन्नत्यन्तनिर्मलम्।
ध्याताज्ञानमवाप्नोति प्राप्य पूर्वं गुणाष्टकम्॥ ज्ञाना० ३८.८७

४, वीतरागस्य विज्ञेयाध्यानसिद्धिध्रुवं मुनेः।
क्लेश एव तदर्थं स्याद्रागार्त्तस्येह देहिनः॥ वही, ३८.११४

५. विलीनाशेषकर्माणं स्फुरन्तमतिनिर्मलम्।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत्॥ ज्ञाना० ३८.११६

केन्द्रित करता है। वह तीर्थंकर के गुणों एवं आदर्शों को अपने समक्ष रखता है तथा उन्हें अपने जीवन में आरोपित करता हुआ अपने चित्त को स्थिर करता है। अरिहन्त के स्वरूप का आलम्बन करके की जाने वाली साधना ही रूपस्थध्यान कहलाती है।[1]

रूपस्थध्यान का साधक राग-द्वेषादि विकारों से रहित, शान्त कान्तादि समस्त गुणों से युक्त तथा योग मुद्रा समन्वित, अमन्द आनन्द के प्रवाह को बहाने वाले जिनेन्द्र देव के दिव्य भव्य रूप का निर्मल चित्त से ध्यान करने वाला योगी भी रूपस्थध्यान वाला होता है।[2] वह सर्वज्ञदेव परम ज्योति का आलम्बन करके उनके गुणों का बारम्बार चिन्तवन करता हुआ अपने मन में विक्षेप से रहित होकर उनके स्वरूप को प्राप्त करता है।[3] जबकि इसके विपरीत राग-द्वेष का ध्यान करने वाला स्वयं रोगी द्वेषी बन जाता है।[4] कारण कि साधन के परिणाम जिन-जिन भावों से युक्त होते हैं, उन्हीं के अनुरूप वे परिणत हो जाते हैं। साधक की आत्मा उस-उस भाव से वैसी ही तन्मयता को प्राप्त हो जाती है जैसे निर्मल स्फटिकमणि जिस वर्ण से युक्त होता है वह तद्रूप हो जाता है।[5] अतः जगत् के अद्वितीय नाथ शिवस्वरूप निष्कलंक

---

१. सर्वातिशययुक्तस्य केवलज्ञानभास्वतः।
अर्हतां रूपमालम्ब्य ध्यानं रूपस्थमुच्यते ॥ यो०शा० ९.७
तथा—आर्हन्त्यमहिमोपेतं सर्वज्ञं परमेश्वरम्।
ध्यायेद्देवेन्द्रचन्द्रार्कसभान्तस्थं स्वयम्भुवम् ॥ ज्ञानार्णव, ३९.१

२. रागद्वेषमहामोहविकारैरकलङ्कितम्।
शान्तं कान्तं मनोहारिसर्वलक्षणलक्षितम् ॥
तीर्थङ्करपरिज्ञातयोगमुद्रा मनोरमम्।
अक्षणरमन्दमानन्दनिःस्यन्दं दददद्भुतम् ॥ यो०शा० ९.८-९ तथा १०

३. (क) अनन्यशरणं साक्षात्संलीनैकमानसः।
तत्स्वरूपमवाप्नोति ध्यानी तन्मयतां गतः ॥ ज्ञानार्णव, ३९.३२
(ख) योगी चाभ्यासयोगेन तन्मयत्वमुपागतः।
सर्वज्ञीभूतमात्मानमवलोकयति स्फुटम् ॥ यो०शा० ९.११

४. दे० यो०शा०, ९.१३

५. दे० वही, ९.१४

वीतराग भगवान् का ध्यान करना चाहिए ।[1]

रूपातीतध्यान

रूपातीत ध्यान का अर्थ है—निराकार, चैतन्य स्वरूप, निरंजन सिद्ध परमात्मा का ध्यान[2] अथवा जिस ध्यान में ध्यानी मुनि चिदानन्दमय शुद्ध अमूर्त परमाक्षररूप आत्मा को आत्मा से ही स्मरण करते हैं, यही रूपातीत ध्यान कहलाता है ।[3]

इस ध्यान में ध्याता और ध्येय का भेद समाप्त होकर एक रूपता प्रकट होती है अर्थात् साधक सिद्ध स्वरूप को प्राप्त हो जाता है । इसलिए ध्याता और ध्येय की इस एकरूपता को समरसी भी कहा जाता है ।[4]

इस प्रकार पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत ध्यानों द्वारा क्रमशः शरीर, अक्षर, सर्वज्ञदेव और सिद्धात्मा का चिन्तन किया जाता है क्योंकि स्थूल ध्येयों के बाद क्रमशः सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ध्येय का ध्यान करने से मन में स्थिरता आती है और ध्याता एवं ध्येय में कोई अन्तर नहीं रह जाता ।

---

१. त्रैलोक्यानन्दबीजं जननजलनिधेर्यानपात्रं पवित्रं
लोकालोकप्रदीपं स्फुरदमलशरच्चन्द्रकोटिप्रभाढ्यम् ।
कस्यामप्यग्रकोटौ जगदखिलमतिक्रम्य लब्धप्रतिष्ठं
देवं विश्वैकनाथं शिवमजनघं वीतरागं भजस्व ॥ ज्ञानार्णव, ३९.४६

२. अमूर्तस्य चिदानन्दरूपस्य परमात्मनः ।
निरन्जनस्य सिद्धस्य ध्यानं स्याद्रूपवर्जितम् ॥ यो०शा० १०.१

३. चिदानन्दमयं शुद्धममूर्तं परमाक्षरम् ।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते ॥ ज्ञानार्णव, ४०.१६

४. अनन्यशरणीभूय स तस्मिन् लीयते तथा ।
ध्यातृध्यानोभयाभावे ध्येयैनैक्यं तथा व्रजेत् ॥
सोऽयं समरसमिवास्तदेकीकरणं मतम् ।
आत्मा यदपृथक्त्वेन लीयते परमात्मनि ॥ योगशास्त्र २०.३-४
तथा—पृथक्भावमतिक्रम्य तथैक्यं परमात्मनि ।
प्राप्नोति स मुनिः साक्षाद्यथान्यत्वं न बुध्यते ॥ ज्ञानार्णव, ४०,३०

धर्मध्यान के चार आलम्बन

धर्म ध्यान की सफलता के लिए शास्त्रों में इसके चार आलम्बनों का कथन किया गया है।[1] वे हैं—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा।

(१) वाचना

विनय, संवर और निर्जरा पूर्वक सूत्रों का पठन पाठन करना वाचना है।

(२) पृच्छना

शंका होने पर गुरुओं से पूछना एवं मन को समाहित करना पृच्छना है।

(३) परिवर्तना

अध्ययन किए हुए शास्त्रों की पुनरावृत्ति करते रहना परिवर्तना है।

(४) अनुप्रेक्षा

सूत्र में वर्णित भावों का विशेष चिन्तन मनन करना तथा अनुसंधान पूर्वक अध्ययन करना, भूले हुए सूत्र एवं अर्थों पर पुनःपुनः उपयोग लगाकर उन्हें स्मरण करना अनुप्रेक्षा है। इन चार आलम्बनों से धर्म ध्यान में सफलता प्राप्त होती है।

धर्मध्यान के चार लक्षण[2]

शास्त्रों में इसके चार लक्षण बतलाए गए हैं। जिस आत्मा में धम

---

१. धम्मस्सणं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता तं जहा वायणा, पडिपुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा। स्थानांगसूत्र, सूत्र १२, प्र०उ०
तथा—दे० भगवतीसूत्र, उ० ७. शतक २५; औपपातिकसूत्र तपोधिकार

२. धम्मणस्सणं झाणस्स चत्तारिलक्खणा पण्णत्ता, तं जहा, आणारुई, णिसग्गरुई, सुत्तरुई, ओगाढरुई। स्थानां० सूत्र १२, प्र०उ०; भगवती सूत्र, ३०६, शतक २५०; औपपातिक सूत्र, तपोधिकार
तथा—आगमउवएसाणाणिसग्गओजं जिणप्पणीयाणं।
भावाणं सद्दहणं धम्मज्झाणस्स तं लिंगं॥ ध्यान, शतक गा० ६७

का अवतरण हो जाता है उसमें स्वभाविक रूप से चार प्रकार की रुचि उत्पन्न हो जाती है, उन्हीं से मालूम हो जाता है कि साधक के मन में धर्मध्यान अंकुरित हो गया है, वे लक्षण हैं—

(१) **आज्ञारुचि**

सूत्रों की व्याख्या को आज्ञा कहते हैं अथवा आप्त वचन ही आज्ञा है। अरिहन्त सर्वोत्कृष्ट आप्त हैं। इसलिए उनकी वाणी ही आज्ञा है। इस आज्ञा के अनुकूल जीवन यापन करने वाले श्रेष्ठ साधक भी आप्त ही हैं। अतः उनकी आज्ञा में रुचि उत्पन्न होना ही आज्ञारुचि है।

(२) **निसर्गरुचि**

बिना किसी उपदेश के स्वतः ही जातिस्मरणज्ञान के रूप में देव-गुरु-धर्म मे रुचि हाना ही निसर्गरुचि है।

(३) **सूत्ररुचि**

सूत्रों के अध्ययन, चिन्तन एवं मनन में रुचि होना ही सूत्ररुचि है।

(४) **अवगाढ़रुचि**

द्वादशाङ्ग का विस्तार पूर्वक ज्ञान प्राप्त करके जो श्रद्धा जागृत होती है अथवा गुरुओं के उपदेश से जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह अवगाढ़रुचि है।[1]

धर्मध्यान की अनुप्रेक्षाएं

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं शास्त्रों में कही गई हैं[2] वे हैं—
(१) एकत्वानुप्रेक्षा, (२) अनित्यानुप्रेक्षा, (३) अशरणानुप्रेक्षा, (४) संसारानुप्रेक्षा।

(१) एकत्व भावना से भावित होना अर्थात् एक आत्मा ही अपना है, ऐसा चिन्तन करना **एकत्वानुप्रेक्षा** है।
(२) संसार में आत्मा के लिए कोई भी स्थान, पर्याय अथवा शक्ति शरणभूत नहीं हैं, ऐसा चिन्तन करना **अशरणानुप्रेक्षा** है।
(३) संसार के सभी पदार्थ अनित्य हैं, ऐसा चिन्तन करना **अनित्यानुप्रेक्षा** है।

---

१. विशेष के लिए दे०—स्थानांगसूत्र, प्रथम भाग, पृ० ६८५

२. धम्मस्सणं झाणस्य चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—एगाणुप्पेहा, अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा। स्थानांग सूत्र, प्र०उ० सूत्र १२, तथा भगवतीसूत्र ३०६, शतक २५; औपातिकसूत्र, तपोधिकार

(४) चारों गतियों और सभी अवस्थाओं में होने वाले आत्मा के आवागमन का चिन्तन करना **संसारानुप्रेक्षा है।**

इनमें से पहली अनुप्रेक्षा के ज्ञान की परिपक्वता विज्ञानरूप, संयम और तप में दृढ़ता लाने वाली वैराग्य की जननी है। तीसरी भावना आसक्ति को हटा कर निर्मोहत्व को जगाती है और चतुर्थ त्यागभावना को पुष्ट करती है।

धर्मध्यान की लेश्याएं

धर्मध्यान में स्थित साधक के भावों के अनुसार तीव्र, मन्द और मध्यम प्रकार की पीत, पद्म एवं शुक्ल ये तीन लेश्याएं होती हैं। जैसे-जैसे ध्यान की तीव्रता बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे क्रमशः साधक का चित्त अधिकाधिक विशुद्धि वाला होता जाता है[1] और लेश्याएं भी विशुद्धतर होती जाती हैं। इसी कारण आचार्य शुभचन्द्र धर्मध्यान में शुक्ललेश्या ही मानते हैं।[2]

धर्म ध्यान के इस विश्लेषण एवं भेद प्रभेदों के द्वारा योगी ध्यान की स्थिरता को प्राप्त करता है। उसका चित्त किसी एक ही ध्येय में केन्द्रित हो जाता है। ऐसी स्थिति में योगी शरीरादि परिग्रहों एवं इन्द्रियादिक विषयों से सर्वथा निवृत होकर निज स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।[3] उस अवस्था में प्राप्त आनन्द अनुभवगम्य होता है, जो कि इन्द्रियों से अगम्य होता है।[4] इस ध्यान को साधना वही कर सकता है, जो प्राणों के नाश होने का अवसर आने पर भी साधना का परित्याग नहीं करता, जो जीवों के सुःख दु.ख का ज्ञाता, परीषह विजेता मुमुक्षु,

---

१. होन्ति कम्मविशुद्धाओ लेस्साओ पीयपद्मसुक्काओ।
धम्मज्झाणोवगयस्स तिव्वमंदाइ भेयाओ ॥ वही, गा० ६६
तथा—धर्मध्याने भवेद् भावः क्षायोपशमिकादिकः।
लेश्याक्रमविशुद्धा स्युः पीतपद्मसिताः पुनः ॥ यो०शा०, १०.१६

२. अतिक्रम्य शरीरादिसङ्गानात्मन्यवस्थितः।
नैवाक्षमनसो योगं करोत्येकाग्रताश्रितः ॥ ज्ञानार्णव, ४१.११

३. अस्मिन्नितान्तवैराग्यव्यतिषंगतरङ्गिते।
जायते देहिनां सौख्यं स्वसंवेद्यमतीन्द्रियम् ॥ यो०शा० १०.१७

४: वही, ७.२-७

राग्द्वेषादि एवं निन्दा-प्रशंसा से मुक्त है, जो समता धारी है, परोपकार में रत और जो प्रशस्त बुद्धि भी है।

४. शुक्लध्यान

शुक्ल का अर्थ है—धवल, किन्तु यहां इसे विशद (निर्मल) के अर्थ में ग्रहण किया गया है। यह सर्वोत्तम ध्यान है। इसकी पूर्णता केवलज्ञान की प्राप्ति में होती है। शुक्लध्यान का मूल हेतु कषायों का निश्शेषतः क्षय होना अथवा उपशम होना बतलाया गया है।[1] ध्यानशतक में शुक्लध्यान का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है कि 'जो निष्क्रिय, इन्द्रियातीत ध्यान, धारणा से रहित है और जिसमें चित्त अन्तर्मुख है, वह शुक्लध्यान है।[2] शुक्लध्यान की अवस्था प्रत्येक साधक को सहज उपलब्ध नहीं होती। इसको धारण करने का अधिकार उसे ही होता है, जो वज्रऋषभ नाराच संहनन और संस्थान वाला, ग्यारह अंग एवं चौदह पूर्वों का ज्ञाता है, जिसका आचरण विशुद्ध है, ऐसा वह मुनि ही शुक्लध्यान के समस्त अंगों का धारक होता है[3] अर्थात् विचक्षण ज्ञान के पुञ्जीभूत सत्त्व विशेष को ही शुक्लध्यान की अवस्था धारण करने का सुयोग मिलता है।

शुक्लध्यान के भेद

आगमों[4] एवं योग ग्रंथों[5] में शुक्लध्यान के चार भेद प्रतिपादित

---

१. (क) कषायमलविश्लेषात्प्रशमाद्वा प्रसूयते।
यतः पुंसामतस्तज्ज्ञैः शुक्लमुक्तं निरुक्तिकम्॥ ज्ञाना० ४२.६
(ख) शुचं क्लमयतीति शुक्लं, शोकं गलपयतीत्यर्थः। ध्यानशतक, श्लोक १ पर टीका

२. निष्क्रियं करणातीतं ध्यानाधारणवर्जितम्।
अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते॥ ज्ञानार्णव, ४२.४

३. आदिसंहननोपेतः पूर्वज्ञः पुण्यचेष्टितः।
चतुर्विधमपि ध्यानं स शुक्लं ध्यातुमर्हति॥ वही, ४२.५
तथा योगशास्त्र, ११.२

४. सुक्के झाणे चउव्विहेउप्पडोआरे पण्णते, तं जहां-पुहुत्तवियक्के सवियारी, एगत्तवियक्केअवियारी, सुहुमकिरिए, अणियट्ठी, समुच्छिन्नकिरिए अवयडिवाई स्थानांगसूत्र १२, पृ० ६७५

५. ज्ञेयं नानात्वश्रुतविचारमैक्यं श्रुताविचारं च।
सूक्ष्मक्रियमुत्सन्नक्रियमिति भेदैश्चतुर्धा तत्॥ यो०शा० ११.५

किए गए हैं। वे हैं—पृथकत्व वितर्कसविचारी, (२) एकत्व वितर्क अविचारी, (३) सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति और (४) उत्सन्न क्रिया अप्रतिपाती।

(१) पृथकत्ववितर्क सविचारी

पृथकत्व, वितर्क एवं विचार ऐसे इन तीन शब्दों के प्रयोग से यह पद बना है। पृथकत्व का अर्थ है—एक द्रव्य के आश्रित उत्पाद आदि पर्यायों का पृथक्-पृथक् भाव से चिन्तन करना। वितर्क शब्द श्रुत ज्ञान का परिचायक है और शब्द से अर्थ में और अर्थ से शब्द में तथा एक योग से दूसरे योग में संक्रमण करना ही सविचारी है। जब कोई ध्यान करने वाला पूर्वधर हो तब पूर्वगत श्रुत के आधार पर और पूर्वधर न हो तब अपने में सम्भावित श्रुत के आधार पर किसी भी जड़ या चेतन द्रव्य में उत्पत्ति, स्थिति और द्रव्य आदि पदार्थों का नैगम आदि विविध नयों के द्वारा चिन्तन करना और यथासम्भावित श्रुतज्ञान के आधार पर किसी एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य पर, किसी एक पर्याय से दूसरे पर्याय पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर तथा एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, एक योग से दूसरे योग पर विचारधारा को प्रवाहित करना, विचार सहित ध्यान को ही पृथक् वितर्क सविचारी शुक्लध्यान कहते हैं।[1]

---

१. (क) स्थानाङ्गसूत्र, पृ० ६८७-८८

(ख) उप्पायट्ठिइ भंगाइ पज्जयाणं जमेगवत्थुंमि।
नाणानयाणुसरणं पुव्वगय सुयाणुसारेणं॥
सविचारमत्थवं जणजोगंतरओ तयं पढमसुक्कं।
होइ पुहुत्तवितक्कं सविचारमरागभावस्स॥ ध्यानशा० ७७-७८

(ग) एकत्रपर्यायाणां विविधनयानुसरणं श्रुताद्द्रव्ये।
अर्थव्यञ्जनयोगान्तरेषु संक्रमणयुक्तमाद्यं तत्॥ यो०शा० ११.६

(घ) पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र विद्यते।
सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं तदिष्यते॥ ज्ञानार्णव, ४२.१३

(ङ) समाधितन्त्र, श्लोक ६२

(२) एकत्वश्रुत अविचारी

इस ध्यान में भी श्रुत के आधार पर ही अर्थ, व्यञ्जन और योग के संक्रमण से रहित एक पर्याय विषयक ध्यान किया जाता है।[1] इसमें वितर्क का संक्रमण नहीं होता और इसके विपरीत एक रूप में स्थिर होकर चिन्तन किया जाता है। जहां पहले प्रकार के ध्यान के अन्तर्गत योगी का मन अर्थ, व्यञ्जन और योग में चिन्तन करते हुए एक ही आलम्बन में उलट फेर करता है, वहीं इस ध्यान में योगी का मन स्थिरत्व को धारण कर सबल हो जाता है और आलम्बन का उलटफेर भी बन्द हो जाता है इसके साथ ही एक ही द्रव्य के विभिन्न पर्यायों के विपरीत एक ही पर्याय को ध्येय बना लिया जाता है। इस तरह जिसने प्रथम ध्यान के द्वारा अपने चित्त को जीत लिया है, जिसके समस्त कषाय शान्त हो गए हैं तथा जो कर्मरज को सर्वथा नष्ट करने के लिए तत्पर है ऐसे साधक ही द्वितीय ध्यान के धारक बनते हैं।[2] फलतः इस ध्यान की सिद्धि होने के बाद सदा के लिए घातिया कर्म विनष्ट हो जाते हैं।[3] आत्मा की अत्यन्त विशुद्ध अवस्था केवलदर्शन एवं केवलज्ञानमय हो जाती है[4] जिससे योगी साधक को सम्पूर्ण जगत् हस्तामलकवत् दृष्टिगोचर होने लगता है।[5] केवली इतना समर्थ होता है कि वह समस्त संसार के भूत, भविष्य एवं वर्तमान इन तीनों कालों की घटनाओं को एक साथ निरन्तर जानता है, वह उसे प्रत्यक्ष देखता है। केवली अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि चार अनन्त चतुष्टय के धारी होते हैं।[6] समस्त जगत् इनके चरणों में

---

१. जं पुण सुणिक्कंपं निवाय सरणप्पईवमियचित्तं।
उप्पाय ठिइ भंगाइ याणमेगंमि पज्जाए।
अवियारमरत्थवंजणजोगंतरओ तयं वितिय सुक्कं।
पुव्वगय सुयालंबणमेगत्तवितक्कमविचारं। ध्यानश० ७९-८० तथा दे० योगशा० ११.७

२. अविचारो वितर्कस्य यत्रैकत्वेन संस्थितः।
सवितर्कमवीचारं तदेकत्वं विदुर्बुधाः॥ ज्ञाना० ४२.१४

३. दे० योगशा०, ११.२२

४. दे० ज्ञानार्णव, ४२.३०

५. योगशास्त्र, ११.२३

६. दे० ज्ञानार्णव, ४२.४४

नतमस्तक हो जाता है। सभी उनके धर्म प्रवचनों-उपदेशों को अपनी-अपनी भाषा में समझते हैं। वे जहां भी जाते हैं वहां किसी भी प्रकार का दुःख, महामारी अथवा दुर्भिक्ष आदि नहीं होते। ऐसे केवललब्धि प्राप्त तीर्थङ्कर देव सहज रूप से स्व-पर कल्याणकारी होते हैं। तीर्थंकर नामकर्म के उदय के कारण उन्हें अनेक देव देवाङ्नाएं आकर वन्दना करने लगते हैं। उनके उपदेश श्रवण के लिए देवों द्वारा वृहद् समवशरण की रचना की जाती है। पशु-पक्षी सभी आपसी वैर-भाव छोड़कर उनके पास एक स्थान पर बैठते हैं और सभामण्डप के मध्य में स्थित तीर्थंकर भगवान् चार शरीर के रूप में (चतुर्मुख) दिखाई देते हैं।[1] यद्यपि इन्हें अनेक अन्य लब्धियों भी प्राप्त होती हैं, परन्तु उनका भोग करने की उनकी इच्छा नहीं होती।

जिन साधकों के तीर्थङ्कर नाम कर्म का उदय नहीं होता, वे भी अपने इस ध्यान के बल से केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं। आयुष्कर्म के निःशेष क्षय होने तक ये साधारण जीवों को उपदेश देते हैं और अन्त में आयु के क्षय होने पर निर्वाण प्राप्त करते हैं।[2] इस प्रकार चाहे तीर्थंकर हों अथवा सामान्य केवली, जिन्होंने योग के चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर लिया है, वे विशुद्ध आत्मा परमात्मा हैं और वे ही हम सभी के ध्यातव्य हैं।

(३) सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति

चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश करने से पूर्व आयुष्कर्म के अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर जब केवली भगवान् मन और वचन इन दो योगों का सर्वथा निरोध कर लेते हैं, और उनके काययोग का भी निरोध हो जाता है, तब उस समय केवली भगवान् की कायिकी उच्छ्वास आदि सूक्ष्मक्रिया ही रह जाती है। उनके इस योग का क्रम है कि पहले स्थूल काययोग के आश्रय से मन और वचन के स्थूल योग को सूक्ष्म बनाया जाता है। उसके बाद मन और वचन के सूक्ष्मयोग का आलम्बन करते हैं। मन और वचन के सूक्ष्मयोग का भी जब निरोध कर लिया जाता है, तब वह सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती शुक्लध्यान पूर्ण होता है। यह क्रिया

१. दे० यो० शा० ११.२४-४४

२. तीर्थङ्कर नाम संज्ञं न यस्य कर्मास्ति सोऽपि योगबलात्।
उत्पन्नकेवलः सन् सत्यायुषि बोधयत्युर्वीम्॥ यो०शा० ११.४८

तेरहवें गुणस्थान की है।[1]

यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि जब कभी वेदनीय नाम और गोत्रकर्मों की स्थिति आयु कर्म से अधिक होती है, तब वे तीर्थङ्कर अथवा सामान्य केवली, वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म को आयुष्कर्म के समान के लिए समुद्घात क्रिया करते हैं[2] जिससे केवली तीन समय में अपने आत्मप्रदेशों को दण्ड, कपाट एवं प्रस्तर के रूप में फैला देते हैं और चौथे समय में सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो जाते हैं। लोक में अपने आत्म-प्रदेशों को व्याप्त करके योगी तीनों घातिया कर्मों (वेदनीय, नाम और गोत्र) की स्थिति घटाकर उन्हें आयुकर्म के बराबर कर लेते हैं। तत्पश्चात् उसी क्रम में वे आत्म प्रदेशों को पूर्ववत् शरीर में प्रविष्ट कर अवस्थित होते हैं। इस प्रकार समुद्घातक्रिया पूर्ण हो जाती है।[3]

समुद्घात करने के पश्चात् आध्यात्मिक विभूतियों से सम्पन्न तथा अचिन्तनीय वीर्य से युक्त वह योगी बादरकाययोग का अवलम्बन करके बादरवचनयोग और बादरमनोयोग का शीघ्र निरोध कर लेते हैं। फिर सूक्ष्मयोग में स्थित होकर बादरकाययोग का निरोध करते हैं क्योंकि बादर काययोग का निरोध किए बिना सूक्ष्मकाययोग का निरोध सम्भव नहीं है। अनन्तर सूक्ष्मकाययोग के अवलम्बन से सूक्ष्ममनोयोग और सूक्ष्म-वचनयोग का भी निरोध हो जाता है इसके बाद सूक्ष्मकाययोग से सूक्ष्म-क्रिया नामक तीसरा शुक्लध्यान धारण किया जाता है।[4]

इस ध्यान में योगी को मोक्ष प्राप्ति का समय समीप आ जाने पर तीन योगों में मनोयोग एवं वचन का निरोध होकर भी केवल सूक्ष्मकाय-योग की क्रिया अर्थात् श्वासोच्छ्वास ही शेष रहता है।[5] इस प्रकार इसमें

---

१. स्थानांगसूत्र, व्याख्या, पृ० ६८६ तथा
मिला०-ध्यान श० गा० ८१; ज्ञाना० ४२.४२, यो०शा० ११.४६

२. यदायुरधिकानि स्युः कर्माणि परमेष्ठिनः।
समुद्घातविधिं साक्षात्प्रागेवारभते तदा॥ ज्ञाना० ४२.४३
तथा—आयुः कर्मसकाशादधिकानि स्युर्यदान्यकर्माणि।
तत्साम्याय तदोपक्रमते योगी समुद्घातम्॥ यो० शा० ११.५०

३. ज्ञानार्णव ४२.४६, ४७; यो०शा० ११.५१-५२

४. ज्ञानार्णव ४२.४८-५१; योग शा० ११.५३-५५

५. योगशा० ११.८ तथा अध्यात्मसार, ५.७८

मन, वचन एवं काय का निरोध होता है और काययोग के अन्तर्गत केवल श्वांस जैसी सूक्ष्मक्रिया ही अवशिष्ट रहती है। साधक योगी अन्तिम समय में इसका भी त्याग करके मुक्त हो जाता है।[1]

(४) उत्सन्न क्रियाप्रतिपाति

यह ध्यान चौदहवें गुणस्थान से होता है। इसमें उपर्युक्त ध्यान की अवशिष्ट सूक्ष्मक्रिया की भी निवृत्ति हो जाती है तथा अ, इ, उ, ऋ, ऌ इन पांच ह्रस्व स्वरों का उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतने समय में केवली भगवान् शैलेशी अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, जहां वे पर्वत की भांति निश्चल रहते हैं।[2] यहां पर केवलज्ञानी उपान्त्य में ७२ कर्म प्रकृतियों तथा इसके भी अन्तिम समय में अवशिष्ट १३ कर्म प्रकृतियों को भी नष्ट कर देते हैं।[3] इस प्रकार समस्त कर्मों का नाश करके केवली भगवान् इस संसार से पूर्णतः अपना सम्बन्ध समाप्त कर लेते हैं और सीधे ऊर्ध्वगमन करके लोक के शिखर सिद्धशिला पर विराजमान हो जाते हैं कारण कि उससे आगे लोकाकाश नहीं है और न ही धर्मास्तिकाय ही है। अतः आगे गति नहीं है। यह सिद्ध परमात्मा लोक के शिखर पर अवस्थित होकर स्वाभाविक गुणों के वैभव से परिपूर्ण अनन्तकाल तक रहता है।[4]

शुक्लध्यानी के लक्षण

जो मुमुक्षु शुक्लध्यान में अवस्थित है, उसकी पहचान कैसे हो सकती है, इसकी जानकारी के लिए आगम संग्रह कर्त्ताओं ने चार लक्षण बतलाए हैं।[5] वे हैं—(१) अपीड़ित (२) असम्मोह (३) विवेकयुक्त

---

१. स्थानांगसूत्र व्याख्या, पृ० ६८६
२. योगशा० ११.५६-५७
३. ज्ञानार्णव, ४२.५२ एवं ५४
४. अशेषकर्मनिर्मुक्तो लोकाग्रं समये प्रभुः।
धर्माभावे ततोऽप्यूर्ध्वगमनं नानुमीयते॥
धर्मो गतिस्वभावोऽधर्मः स्थिति लक्षणः।
तयोर्योगात्पदार्थानां गतिस्थिती उदाहृतः॥ वही, ४२.६०-६१
५. सुक्कस्स ण झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा-अव्वहे, असम्मोहे, विवेगे, विउस्सग्गे। स्थानांगसूत्र १२, पृ० ६७६
तथा भगवतीसूत्र शतक २५, उद्देशक ७, औपपातिकसूत्र ३० तपोधिकार

और (४) ममता से रहित।

(१) अव्वहे

शुक्लध्यान में अवस्थित साधक भयंकर से भयंकर परीषह और घोर उपसर्गों से विचलित नहीं होता, वह किसी प्रलोभन में भी नहीं फंसता, वह किसी भी समय व्याकुल भी नहीं होता, विश्व की कोई भी शक्ति उसे ध्यान से विचलित नहीं कर सकती और वह कभी भी व्यथित भी नहीं हो सकता। इसी कारण सूत्रकार ने उसका पहला लक्षण 'अव्वहे' कहा है, जिसका अर्थ है—व्यथा का अनुभव न करना। ऐसी ज्ञान दशा शुक्लध्यान में ही हो सकती है।

(२) असम्मोह

शुक्ल ध्यानी का दूसरा लक्षण है—असंमोह। साधक देवादिक माया से मोहित नहीं होता। मोह की २८ प्रकृतियां उसमें उदित नहीं हो पातीं, उसे मोह जनक निमित्त कितने ही मिलें परन्तु वह अपने ध्येय में ही स्थिर रहता है, ममता भी उसका स्पर्श करने से डरती है।

(३) विवेक

यह शुक्लध्यान का तीसरा लक्षण है। जब ध्यानी को यह निश्चय हो जाता है कि मैं देह नहीं, आत्मा हूं, तब वह देह नाशक कष्ट होने पर भी खेद नहीं मानता, क्योंकि उसे ज्ञात है कि कष्ट की अनुभूति देह को होती है, आत्मा को नहीं। वह तो शुद्ध है, व्यथा मुक्त है और आनन्द स्वरूप है।

(४) व्युत्सर्ग

यह शुक्लध्यानी साधक का चतुर्थ लक्षण है अनासक्तभाव पूर्वक देह और उपधि का परित्याग करना व्युत्सर्ग कहलाता है। जिसको अपनी देह पर भी ममत्व नहीं है, वह बाह्य उपकरणों पर क्या ममत्व कर सकता है? इस प्रकार शुक्ल ध्यानी में उक्त चारों लक्षण पाए जाते हैं।[1]

---

१. चालिज्जेइ बीहेइ व धीरो न परीसहोवसग्गेहिं।
सुहुमेसु न संमुज्झइ भावेसु न देवमायासु॥
देहविवित्तं पेच्छइ अप्पाणं तह य सव्वसंजोगे।
देहोवहि वुस्सग्गं निस्संगो सव्वहा कुणइ॥ स्थानांगसूत्र, प्रथम भाग, पृ० ६६० पर उद्धृत

शुक्लध्यान के आलम्बन[1]

कोई भी आत्मा उन्नति के शिखर पर किसी न किसी आलम्बन से ही पहुंच सकता है। जब तक पूर्ण विकास नहीं हो जाता तब तक साधक को आलम्बन की आवश्यकता रहती है। शुक्लध्यानी के चार आलम्बन होते हैं और वे हैं—क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोष।

(१) क्षमा

क्रोध के अभाव में उत्पन्न होने वाले गुण को क्षमा कहते हैं। किसी के द्वारा प्राणान्तकारी व्यथा देने पर भी उस पर क्रोध न करना, अपितु उसका हित चिन्तन करना, उसे उपकारी समझकर कृतज्ञता प्रकट करना, उससे मैत्रीभाव स्थापित करना, परम शान्त रहकर आत्मा में रमण करना ही क्षमा है।

(२) मार्दव

मान के अभाव से उत्पन्न हुए गुण को मार्दव कहते हैं। आत्मा में अभिमान से कठोरता उत्पन्न होती है। अभिमान सभी बुराइयों का मूल है और सभी गुणों का मूल विनय अर्थात् मार्दव है। जिसके जीवन में सुकोमलता एवं मृदुता उत्पन्न हो जाती है, वही शुक्लध्यान का ध्याता होता है।

(३) आर्जव

आत्मवंचना और परवंचना का नाम माया है। अपने दोषों को ढकना तथा दूसरे को ठगना परवंचना कहलाती है। इस माया को समाप्त कर देना ही आर्जव है। यह आत्मा का परम गुण है। इस गुण के होने पर ही शुक्लध्यान और अधिक पुष्ट होता है।

(४) सन्तोष

शुक्लध्यान का चौथा गुण सन्तोष है। लोभ से मुक्ति पाना ही

---

१. सुक्कस्सणं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता, तं जहां खंती, मुत्ती, मद्दवे, अज्जवे। स्थानांग सूत्र, सूत्र १२; पृ० ६७६ तथा भगवतीसूत्र शतक २५, उद्देशक, ७; औपपातिकसूत्र ३०, तपोधिकार

सन्तोष है। आत्मस्वरूप में अवस्थित होने के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को पाने की इच्छा न करना ही सन्तोष है। जब आत्मा में ऐसी परिणति हो जाती है तब शुक्लध्यान के प्रासाद पर आरोहण करने के लिए सन्तोष सोपान की तरह आलम्बन बन जाता है।

शुक्लध्यान की अनुप्रेक्षाएं

शुक्लध्यान की सार्थकता अनुप्रेक्षा के साथ है। इसी को वैदिक-दर्शन में निदिध्यासन कहते हैं। अनुप्रेक्षा से श्रुतज्ञान विज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है और परमानन्द की अनुभूति होने लगती है। इन्हीं से कर्मों की महान् निर्जरा होती है। शुक्लध्यान की अनुप्रेक्षाएं हैं—(१) अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा, (२) विपरिणामानुप्रेक्षा, (३) अशुभानुप्रेक्षा और (४) अपायानुप्रेक्षा।[1] ये चार अनुप्रेक्षाएं आती हैं।

(१) अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा

इस संसार चक्र से आत्मा ने अनन्त बार जन्म मरण किए हैं, क्योंकि संसार भी अनादि है और आत्मा भी अनादि है। इस संसार सागर से पार होना अत्यन्त दुष्कर है। आत्मा अनन्त बार भव भ्रमण कर चुका है। इस प्रकार के चिन्तन अथवा भावना का नाम ही अनन्त-वर्तितानुप्रेक्षा है --

एसअणाइ जीवो संसारो सागरोव्व दुत्तारो।
नारयतिरियनरामरभवेसु परिहिंडए जीवो ।।[2]

(२) विपरिणामानुप्रेक्षा

वस्तुओं के परिणमन पर विचार करना जैसे कि संसार और देव-लोक के सभी स्थान विनाशशील हैं। उत्तम भौतिक ऋद्धि और सुख सभी अनित्य हैं, इत्यादि विपरिणमनरूप चिन्तन को विपरिणामानुप्रेक्षा कहते हैं—

---

१. सुक्कस्सणंझाणास्स चत्तारि अणुप्पेहा पण्णत्ता, तं जहा अणंतवत्तियाणुप्पेहा, विपरिणामाणुप्पेहा, असुभाणुप्पेहा, अपायाणुप्पेहा। स्तानांगसूत्र, सूत्र १२, पृ० ६७६ तथा भगवतीसूत्र शतक २५ उद्देशक ७; औपपातिकसूत्र ३०, तपोधिकार

२. दे० स्थानांगसूत्र, पृ० ६९२ पर उद्धृत गाथा

सव्वट्ठाणाइं असासयाइं इह चेव देवलोगे य।
सुरअसुरनाईणं सिद्धिविसेसासुहाइं च।।[1]

(३) अशुभानुप्रेक्षा

संसार के अशुभ स्वरूप पर विचार करना अशुभानुपेक्षा है, जैसे यह सर्वांग सुन्दर रूप से गर्वित मनुष्य मर कर स्वयं अपने ही कलेवर में कृमि के रूप में उत्पन्न होता है ऐसी भावना के चिन्तन का नाम अशुभानुप्रेक्षा है—

धीसंसारगे जम्मि जुवाणओ परमरुवगव्विओ।
मरिऊण जायई किमतित्थेव कडेवरे नियए।।[2]

(४) अपायानुप्रेक्षा

आस्रवों से होने वाली हानि जीवों को दुःख देने वाले घोर आत-घोर संकट में डालने वाले उपायों का चिन्तन करना अपायानुप्रेक्षा है। अतः वश में नहीं किया हुआ क्रोध और मान, बढ़ता हुई माया और लोभ ये चार कषायें संसार एवं पुनर्जन्म के मूल को सींचने वाली हैं। ऐसी एकाग्र विचार धारा ही अपायानुप्रेक्षा है—

कोहो य माणो य अणिग्गहीया माया य लोहो य पवड्ढमाणा।
चत्तारिएएकसिणा कसाया, सिंचति मूलाइ पुणब्भवस्स।।[3]

शुक्लध्यान के प्रथम दो चरणों में श्रुतज्ञान का यथासम्भव आलम्बन लेना ही होता है। अतः इन्हीं दो में अनुप्रेक्षाओं की उपयोगिता होती है।

शुक्लध्यान में लेश्या

प्रथम दो शुक्ल ध्यानों में शुक्ललेश्या और तृतीय शुक्लध्यान में परमशुक्ललेश्या होती है, जबकि चतुर्थ शुक्लध्यान लेश्या से रहित होता है।[4]

---

१. दे० वही,
२. स्थानांगसूत्र, पृ० ६६२ पर उद्धृत गाथा
३. वही
४. सुक्का लेसाए दो, ततियं पुण परमसुक्क लेसाए।
थिरयाजियसेलेसं लेसाईयं परमसुक्कं।। ध्यान शतक, गा० ८६

(ख) योगबिन्दुगत योग के भेद

आचार्य हरिभद्रसूरि योगमार्ग के अनुभवी महान् साधक थे। इसीलिए इन्होंने स्वानुभव के आधार पर योग के विषय में महत्त्वपूर्ण मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है। उनके ग्रंथ योगबिन्दु में उन्होंने योग के सर्व प्रथम पांच भेद किए हैं—अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय—

अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद् योग एव श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥[1]

ये योग हैं, कारण कि ये आत्मा को मोक्ष से जोड़ते हैं अथवा इनके माध्यम से आत्मा सर्वबन्धनों से मुक्त हो जाती है। ये पांचों उत्तरोत्तर उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ हैं अर्थात् अध्यात्म से भावना' भावना से ध्यान, ध्यान से समता तथा समता से वृत्तिसंक्षय क्रमशः एक से एक उच्चतर आध्यात्मिक विकास के सूचक हैं।[2]

इसके अतिरिक्त आचार्य हरिभद्र ने एक अन्य प्रकार से भी योग के भेद किए हैं—

तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चायं सानुबन्धस्तथापरः।
सास्रवोऽनासक्तश्चेति संज्ञाभेदेन कीर्तितः ॥[3]

अर्थात् तात्त्विक, अतात्त्विक, सानुबन्ध, निरनुबन्ध सास्रव और अनास्रव ये योग के छः भेद हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर हरिभद्र के अनुसार योग के ११ भेद हो जाते हैं। यहां पर इनमें अन्तिम छः का विश्लेषण करेंगे।

(१) तात्त्विक योग

इसके अन्तर्गत साधक केवल निर्वाण को लक्ष्य में रखकर ही साधना में प्रवृत्त होता है।[4] जब साधक सभी लौकिक कामनाओं को

---

१. योगबिन्दु, श्लोक ३१
२. विशेष के लिए देखिए—प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्याय ३
३. योगबिन्दु, श्लोक ३२
४. योगबिन्दु, श्लोक ३२ पर संस्कृत टीका

छोड़कर साधना में प्रवृत्त होता है तो वही साधना तात्त्विकयोग है। अध्यात्मयोग तथा भावना योग अपुनर्बन्धक के व्यवहारदृष्टि से और चारित्री के निश्चयदृष्टि से साधे जाते हैं।[1] यद्यपि इस श्लोक में सम्यक्दृष्टि का उल्लेख नहीं है किन्तु टीककार के अनुसार प्रस्तुत सन्दर्भ में उसे अपुर्नबन्धक के साथ जोड़ा जा सकता है।[2]

चारित्री को ध्यान, ममता, तथा वृत्तिसंक्षय संज्ञकयोग उसकी शुद्धि आन्तरिक निर्मलता के अनुरूप निश्चितरूप में प्राप्त होते हैं। वे ही तात्त्विकयोग होते हैं।[3]

(२) अतात्त्विक योग

निजस्वरूपस्थ होने के लिए प्रवृत्त न होकर केवल लोक रंजनार्थ यौग का जो अभिप्राय लिया जाता है, वही अतात्त्विक योग है।[4] अथवा जो केवल मौज-मस्ती और भरण-पोषण के लिए जो साधक वेश धारण करते हैं और वैसी चेष्टाएं करते हैं उनका योग अतात्त्विक है। सकृत् आवर्तन में विद्यमान तथा उन जैसे और व्यक्तियों के अध्यात्मयोग और भावनायोग भी अतात्त्विक होते हैं क्योंकि उनमें साधकों जैसा वेश आदि केवलबाह्य प्रदर्शन मात्र होता है, जो आचरण वे करते हैं, प्रायः अनिष्टकर तथा दुर्भाग्यपूर्ण फलप्रद होता है।[5]

(३) सानुबन्धयोग

जिस योग में साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त करने तक निरन्तर

---

१. अपुनर्बन्धकस्यायं व्यवहारेण तात्त्विकः।
अध्यात्मभावनारूपो, निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥ यो० वि० श्लोक ३६६

२. निश्चयेन निश्चयनयमतेनोपचारपरिहारूपेण उत्तरस्य तु अपुनर्बन्धकसम्यक् दृष्ट्याऽपेक्षया चारित्रिण इति। यो० वि० श्लोक ३६६ पर संस्कृत टीका हारिभद्रीय योग भारती, पृ० २५२

३. योगबिन्दु, श्लोक ३७१

४. तात्त्विकीभूत एव स्यादन्यो लोकव्यपेक्षया।
अविच्छिन्नः सानुबन्धस्तु छेदवानपरो मतः ॥ यो० बि०, श्लोक ३३

५. सकृदावर्तनादीनामतात्त्विक उदाहृतः।
प्रत्यपायफलप्रायस्तथावेषादिमात्रतः ॥ वही, श्लोक ३७०

विघ्न बाधाओं को पार करता हुआ, आगे बढ़ता रहता है, उसे ही सानुबन्धयोग कहते हैं।[1] उसको उत्तरवर्ती विकास श्रृंखला सहित यथावत् रूप से इस योग की प्राप्ति होती है।[2]

(४) निरनुबन्धयोग

जिस योग में साधक की साधना भंग हो जाए, उसका बीच में विच्छेद होना अर्थात् जब गतिरोध साधक को आगे बढ़ने से रोक देते हैं, तब उसकी इस अवस्था को निरनुबन्धयोग कहा जाता है।[3] आचार्य हरिभद्रसूरि ने साधना में आने वाले विघ्नों को अपाय संज्ञा दी है। जिसकी साधना अपायों से मुक्त नहीं, उसके योग को ही निरनुबन्धयोग बतलाया गया है।[4]

अपायरहित साधना परायण महापुरुषों ने अतीत में संचित पापाशय हिंसा, असत्य, चौर्य, लोभ, अहंकार, छल, क्रोध, द्वेष, व्यभिचार आदि से सम्बन्धित त्रिविध कर्मों को अपाय कहा है, उन्हें 'निरूपक्रम संज्ञा' दी गइ है। उनका फल अवश्य ही भोगना होता है।[5]

(५) सास्रवयोग:

सास्रव का अर्थ है—आस्रव से युक्त। आस्रव का विश्लेषण करते हुए आचार्य हरिभद्रसूरि ने कहा है कि—**आस्रवो बन्धहेतुत्वाद् बन्ध एवेह यन्मतः**। अर्थात् कर्म बन्ध का जो हेतु है वही आस्रव है और वह आत्मा के लिए बन्धन रूप है। वस्तुतः कर्म बन्ध का मुख्य कारण कषाय है और आस्रव कषाय से अनुप्रेरित होता है क्योंकि बन्धन के साथ उसकी वास्तविक संगति है।[6] जो कषायों से युक्त होता है, उसका योग ही

---

१. दे० योगबिन्दु, श्लोक ३७१
२. वही,
३. वही, श्लोक ३३
४. अस्यैव त्वनपायस्य सानबन्धस्तथा स्मृतः।
   यथोदितक्रमेणैव सोपायस्य तथाऽपरः॥ वही, श्लोक ३७२
५. अपायमाहुः कर्मैव निरपायाः पुरातनम्।
   पापाशयकरं चित्रं निरूपक्रमसंज्ञकम्॥ वही, ३७३
६. योगबिन्दु, श्लोक ३७६

सास्रवयोग कहा जाता है और वह सास्रवयोगी अनेक जन्म मरण ग्रहण करने के बाद मोक्ष पाता है।[1] अतः इसे दीर्घसंसारी भी कहा गया है।[2] सास्रवयोग उस साधक के सधता है जिसके अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करने में अभी अनेक जन्म पार करने शेष हैं। जो अनास्रवा है, वह चरमशरीरी है और जो सास्रवी है वह अचरमशरीरी होता है।[3]

अनास्रवयोग

अनास्रव का अर्थ है निश्चयनय के अनुसार सर्वथा आस्रव रहित अवस्था तथा व्यवहारनय के अनुसार साम्परायिक आस्रवरहित अवस्था का नाम अनास्रवयोग है यह लगभग आस्रव रहित अर्थात् अल्प आस्रव वाली अवस्था विशेष है। यहां साधक शीघ्र ही अनास्रव दशा प्राप्त कर लेता है।[4]

व्यवहारनय द्वारा प्रतिपादित अर्थ भी निश्चयनय के विपरीत नहीं जाता क्योंकि वह सर्वत्र तत्संगत ही होता है। यों तो निश्चय और व्यवहार दोनों ही अभिमत यथार्थतः स्वीकृत अर्थ को ही प्रकट करते हैं। इस प्रकार अनास्रवयोग उसके सधता है जो उसी जन्म में मुक्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अनास्रवी केवल एक ही जन्म से गुजरता है, उसे अगला जन्म नहीं लेना पड़ता।[5]

जो चमरशरीरी हैं, वे वर्तमान शरीर के बाद और शरीर धारण नहीं करते। जिनके सम्परायवियोग अर्थात् कषाय वियाग होता है अर्थात् जिनके कषाय नहीं रहे हैं, उसके साम्परायिक आस्रव बन्ध नहीं होता। ऐसी स्थिति में अन्य अतिसामान्य आस्रव के गतिमान रहने पर भी वह अनास्रव कहा जाता है क्योंकि वह बन्ध बहुत मन्द, अल्प एवं लघु होता है।

---

१. अस्यैव सास्रवः प्रोक्तो बहुजन्मान्तरावहः ॥ यो० बि०, श्लोक ३७५

२. सास्रवो दीर्घसंसारस्ततोऽन्योऽनास्रवः परः ।
अवस्थाभेदविषयाः संज्ञा एता यथोदिताः ॥ वही, श्लोक ३४

३. एवं चरमदेहस्य संपरायवियोगतः ।
इत्वरास्रवभावेऽपि स तथाऽनास्रवो मतः ॥ वही, ३७७

४. निश्चयेनात्र शब्दार्थः सर्वत्र व्यवहारतः ।
निश्चयव्यवहारौ च द्वावायभिमतार्थदौ ॥ वही, ३७८

५. पूर्वव्यावर्णितन्यायादेकजन्मा त्वनास्रवः । वही, श्लोक ३७५

जैनदर्शन के अनुसार बारहवें, गुणस्थान क्षीण-मोह और तेरहवें सयोगी-केवली गुणस्थानों में इसी प्रकार का कर्म बन्ध होता है। वस्तुतः इस विवेचन के अनुसार जो पारिभाषिक रूप में अनास्रव कोटि के अन्तर्गत जाता है।

(ग) गुणस्थान और योग

गुणस्थानों का वर्णन कर्मबन्ध की प्रक्रिया में जितना प्रचुर रूप से देखा जाता है, उतना ही उनका योगसाधना में भी प्रयोग आवश्यक है। ये योगसाधना के स्थल हैं। उसकी भूमि विशेष हैं। इन्हें साधना की श्रेणियां भी कहा जा सकता है। साधना की पूर्णता के लिए एक साधक को इन्हें पूर्ण करना भी अनिवार्य है।

गुणस्थान का स्वरूप

आगमों में जीव के स्वभावज्ञान, दर्शन और चारित्र, का नाम गुण है और इन गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के उत्कर्ष एवं अपकर्ष कृतस्वरूप विशेष का भेद गुणस्थान कहलाता है।[1] आत्मा के गुणों की शुद्धि-अशुद्धि के उत्कर्ष अथवा अपकर्ष के कारण आश्रव, बन्ध, संवर और निर्जरा हैं। कर्मों का आश्रय और बन्ध होने पर आत्म-गुणों में अशुद्धि का उत्कर्ष होता है तथा संवर एवं निर्जरा के द्वारा कर्मों का आश्रव और बन्ध के रुकने वा क्षय होने से गुणों की विशुद्धि में उत्कर्ष और अशुद्धि में अपकर्ष होता है।

इस तरह जीवों के परिणामों में उत्तरोत्तर अधिकाधिक शुद्धि बढ़ती जाती है, विशुद्धि से आत्मगुणों का विकास होता है। आत्मगुणों के इसी विकास क्रम को गुणस्थान कहते हैं।[2] **समवायांगसूत्र**[3] **समयसार**[4] और **प्राकृत पंचसंग्रह**[5] आदि ग्रंथों में गुणस्थान को जीवस्थान भी कहा

१. दे० कर्मग्रन्थ ४, पृ० ११

२. वही, पृ० १२, १३

३. कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दसजीवट्ठाणा पण्णत्तो।
समवायांगसूत्र, समवाय १४,५

४. समयसार, गाथा ५५

५. दे०, प्राकृत पंचसंग्रह

गया है जबकि गोम्मट्टसार में इसी को जीवसमास बतलाया गया है।[1]

कर्म ग्रंथों में जीवस्थान और गुणस्थान को अलग-अलग बतलाया गया है।[2] यद्यपि इनमें संज्ञा भेद होने पर भी कोई अर्थ भेद नहीं है फिर भी व्याख्याकारों के मतानुसार इनमें पर्याप्त अन्तर हैं।

जीवस्थान

जीवों के स्थान अर्थात् जीवों के सूक्ष्म बादर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जीव के विभिन्न भेदों को जीवस्थान कहते हैं।[3] इस दृष्टि से जीवस्थान तथा गुणस्थान में पर्याप्त अन्तर है किन्तु धवलाकार इनमें अभेद मानते हुए कहते हैं कि चौदह जीवस्थानों से यहां चौदह गुणस्थान ही अपेक्षित हैं।[4]

गुणस्थानों की संख्या

प्रायः सभी ने गुणस्थानों की संख्या चौदह मानी है। वे हैं—[5]

(१)	मिथ्यादृष्टि	(८)	निवृत्तिबादर
(२)	सासादनदृष्टि	(९)	अनिवृत्तिबादर
(३)	मिश्रदृष्टि	(१०)	सूक्ष्मसाम्पराय
(४)	अविरतसम्यग्दृष्टि	(११)	उपशान्तमोहनीय
(५)	देशविरति सम्यग्दृष्टि	(१२)	क्षीणमोहनीय
(६)	प्रमत्त संयत	(१३)	सयोगकेवली और
(७)	अप्रमत्तसंयत	(१४)	अयोगकेवली

१. मिच्छो सासणमिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदापमत्तइदरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य॥
उवसंतखीणमोहो सजोगकेवलि जिणो अजोगीय।
चउद्दस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा॥ गो० जीव काण्ड, गा० ९-१०

२. इह सुहुमबायरेगिंदिबितिचउअसन्निसन्निपंचिंदी।
अपजत्ता पज्जत्ता कमेण चउदस जियट्ठाणा॥ कर्मग्रन्थ ४, गा० २

३. दे० वही, ४, पृ० ६

४. चतुर्दशानां जीवस्थानां चतुर्दशगुणस्थानामित्यर्थः। धवला १.१-२

५. मिच्छादिट्ठी, सासायणसम्मादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी, विरयाविरए, पमत्तसंजए, अप्पमत्तसंजए, निअट्टिबायरे, अनिअट्टिबायरे सुहुमसंपराए, उवसामए, खीणमोहे, सजोगीकेवली, अयोगीकेवली। समवायांगसूत्र, समवाय १४

(१) मिथ्यादृष्टि

मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होने वाले परिणामों के कारण जीव विपरीत श्रद्धान करने वाला हो जाता है। इस प्रकार के विपरीत श्रद्धा वाले जाव के स्वरूप विशेष को मिथ्यात्व गुणस्थान अथवा मिथ्यात्व दृष्टि गुणस्थान कहते हैं।[1] इस गुणस्थानवर्ती जीव को यथार्थ धर्म उसी प्रकार अच्छा नहीं लगता जैसे पितज्वर से पीड़ित व्यक्ति को मीठारस अच्छा नहीं लगता।

यद्यपि इस गुणस्थान में जीवों को कषायों की तीव्रता और मन्दता की अपेक्षा संक्लेश की हीनाधिकता होती रहती है। फिर भी उनकी दृष्टि विपरीत ही बनी रहने से उन्हें आत्म स्वरूप का यथार्थ भाव नहीं हो पाता और जब तक निजस्वरूप का यथार्थ बोध नहीं होता तब तक जीव मिथ्यादृष्टि ही बना रहेगा।

(२) सासादनगुणस्थान

जब कोई जीव मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का और अनन्तानुबन्धी कषायों का उपशम करके सम्यक्दृष्टि बनता है, तब वह उस अवस्था में अन्तर्मुहूर्त काल तक ही रहता है। उस काल के भीतर कुछ समय शेष रहते हुए यदि अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय आवे तब वह नियम से गिरता है और एक समय से लेकर छह आवली काल तक छोड़े गए सम्यक्त्व का कुछ आस्वाद लेता रहता है। इसी मध्यवर्ती पतनोन्मुखी दशा का नाम सासादन गुणस्थान हैं। इसमें जीव क्योंकि सम्यक्त्व की विराधना करके गिरता है। अतः इसे सासादन सम्यग्दृष्टि भी कहते हैं।

(३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि अथवा मिश्रदृष्टि गुणस्थान

प्रथम बार उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता हुआ जीव मिथ्यात्व कर्म के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति ये तीन विभाग करता

---

१. मिच्छुत्तं वेदंतो जीवो विवरीय दंसणो होदि।
णयधम्मं रोचिदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो॥ गोम्मट्टसार जीव काण्ड, गा० १७ तथा मिला० कर्म ग्रन्थ २, पृ० १३

२. दे० कर्मग्रन्थ भा० २, पृ० १५

है। इनमें से उपशम सम्यक्त्व का अन्तर्मुहूर्त काल पूर्ण होते ही यदि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय हो जाता है, तो वह अर्धसम्यक्त्वी और अर्धमिथ्यात्वी जैसी दृष्टि वाला हो जाता है। इसे ही तृतीय सम्यग्-मिथ्यात्वदृष्टि गुणस्थान कहते हैं। इसका काल अन्तर्मुहूर्त ही है। अतः उसके पश्चात् यदि सम्यक्त्वप्रकृति का उदय हो जाए तो वह ऊपर चढ़कर सम्यक्त्वी बन जाता है और यदि मिथ्यात्व प्रकृति का उदय हो जाए तो वह नीचे गिरकर मिथ्यात्वदृष्टि गुणस्थान में आ जाता है।[1]

गोम्मट्टसार के अनुसार जिस प्रकार दही और गुड़ को परस्पर इस तरह से मिलाने पर कि फिर उन दोनों को पृथक्-पृथक् न कर सकें उस द्रव्य के प्रत्येक परमाणु का रस मिश्ररूप (खट्टा और मीठा मिला हुआ) होता है। इसी प्रकार मिश्र परिणामों में भी एक ही काल में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप परिणाम रहते हैं।[2]

(४) अविरतसम्यक्दृष्टि गुणस्थान

दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम करके जीव सम्यक्दृष्टि बनता है। उसे आत्मस्वरूप का यथार्थ बोध हो जाता है। फिर चारित्रमोहनीय कर्म के उदय के कारण वह उस सत्य मार्ग पर चलने पर असमर्थ रहता है और संयम आदि के पालन करने की भावना होने पर भी व्रत आदि का लेशमात्र भी पालन नहीं कर पाता। इस प्रकार विरति या त्याग के अभाव के कारण इसे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है।[3] **गोम्मट्टसार** के अनुसार दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति तथा चार अनन्तानुबन्धी कषाय इन सात प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक और सर्वथा क्षय से क्षायिक

---

१. दे० कर्मग्रन्थ, भाग-२, पृ० २०
तथा मिला०—सम्मामिच्छुदयेण य, जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण।
णयसम्मंमिच्छंपि य सम्मिस्सो होदि परिणामो॥ गो० जी०, गा० २१

२. दहिगुडमिव वा मिस्सं, पुहभावंणंवकारिदु सक्कं।
एवं मिस्सयभावो, सम्मामिच्छोत्ति णादव्वो॥ गोम्मट्टसार, जीव काण्ड, गा० २२

३. दे० कर्मग्रन्थ, भाग-२, पृ० २३

सम्यग्दर्शन होता है। यहां पर अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहा करता है। यही कारण है कि इस गुणस्थान वाले जीव को असंयत-सम्यग्दृष्टि कहते हैं।[1]

(५) विरताविरत गुणस्थान

जब सम्यग्दृष्टि जीव के अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम या क्षयोपशम होता है, तब वह त्रस-हिंसादि स्थूल पापों से विरत होता है, किन्तु स्थावर हिंसादि सूक्ष्म पापों से तो वह अविरत ही रहता है। ऐसे देशविरत अणुव्रती जीव को विरताविरत गुणस्थान वाला कहा जाता है।[2] गोम्मट्टसार में इसे देशविरत या देशसंयत भी कहा गया है।[3]

(६) प्रमत्तसंयत गुणस्थान

जब सम्यग्दृष्टि जीव के प्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम अथवा क्षयोपशम होता है तब वह स्थूल और सूक्ष्म सभी हिंसादि पापों का त्याग कर महाव्रतों को जिसे सकल संयम भी कहते हैं, धारण करता है फिर भी उसके संज्वलन और नोकषायों के तीव्र उदय होने से कुछ प्रमाद बना ही रहता है। ऐसे प्रमाद युक्त संयमी को प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाला कहा जाता है।[4]

(७) अप्रमत्तसंयत गुणस्थान

जब प्रमत्तसंयत जीव के संज्वलन और नोकषायों का मन्द उदय होता है, तब वह इन्द्रिय विषय विकथा निद्रादि रूप समस्त प्रमादों से रहित होकर शील संयम का पालन करता है। ऐसे साधु को अप्रमत्त-संयत गुणस्थान वाला कहा जाता है[5]

---

१. सत्तण्हं उवसमदो उवसमसम्मो खया दु खइयो य।
विदियकसायुदयादो, असंजदो होदि सम्मो य ॥ गो० जीवकाण्ड गा० २६

२.. दे० कर्मग्रन्थ, भाग-२, पृ० २५

३. पच्चक्खाणुदयादो संजयभावो ण होदि णावरि तु।
थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पंचमओ ॥ गो० जीवकाण्ड गा० ३०

४. समवायांगसूत्र समवाय १४, तथा मिला०-गोम्मट्टसार, जीवकाण्ड, गा० ३२

५. दे० कर्मग्रन्थ २, तथा गोम्मट्टसार, जीव काण्ड, गा० ४५

सातवें गुणस्थान से ऊपर साधक को दो श्रेणियां पार करनी होती हैं वे हैं— उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी। जो जीव चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय करने के लिए उद्यत होता है, वह क्षपकश्रेणी पर आरोहण करता है। दोनों अवस्थाओं का काल अन्तर्मुहूर्त ही होता है।

(८) निवृत्तिबादर उपशमाक क्षपक गुणस्थान :

अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक इन सात प्रकृतियों का उपशमन करने वाला जीव इस आठवें गुणस्थान में आकर अपनी अपूर्व विशुद्धि के द्वारा चारित्रमोहनीय की अवशिष्ट २१ प्रकृतियों का उपशम करते हुए उपर्युक्त सात प्रकृतियों को विशेषतः क्षय करने में तत्पर होता है। इस गुणस्थान वाले समसमयवर्ती जीवों के परिणामों में भिन्नता रहती है और बादर संज्वलन कषायों का उदय रहता है। इसीसे इसे निवृत्तिबादर गुणस्थान कहते हैं।[1]

(९) अनिवृत्तिबादर उपशामक क्षपक गुणस्थान

इसमें आने वाले एक समयवर्ती सभी जीवों के परिणाम एक से होते हैं, उनमें भिन्नता नहीं होती, अतः इसे अनिवृत्तिबादर गुणस्थान कहते हैं। इसका दूसरा नाम अनिवृत्तिबादर सम्पराय गुणस्थान भी है। बादर का अर्थ है—स्थूल और संपराय का अथ है-कषाय। अर्थात् इसमें स्थूल कषाय का उदय होता है। इसमें दो श्रेणी उपशम और क्षपक है। उपशमश्रेणी वाला जीव चारित्र-मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम और क्षपकश्रेणी वाला जीव उन सभी का क्षय करके दसवें गुणस्थान में प्रविष्ट हो जाता है।[2]

गोम्मटसार के लेखक के अनुसार अन्तर्मुहूर्तमात्र अनिवृत्तिकरण के काल में आदि, मध्य अथवा अन्त के एक समयवर्ती अनेक जीवों में जिस प्रकार शरीर की अवगाहना आदि बाह्य कारणों से तथा ज्ञानावरण आदि कर्म को क्षयोपशम आदि अन्तरंग कारणों से परस्पर में भेद पाया जाता है, उसी प्रकार जिन परिणामों के निमित से परस्पर में भेद नहीं पाया जाता उनको अनिवृत्तिकरण कहते हैं।

---

१. दे० कर्मग्रन्थ, भाग-२, पृ० २८; समवायांग, सूत्र १४

२. दे० कर्मग्रन्थ २, पृ० ३३ तथा समवायांग सूत्र १४

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का जितना काल है, उतने ही, उसके परिणाम हैं। इसलिए उसके काल के प्रत्येक समय में अनिवृत्तिकरण का एक ही परिणाम होता है। तथा ये परिणाम अत्यन्त निर्मल ध्यान रूप अग्नि की शिखाओं की सहायता से कर्मवन को भस्म कर देते हैं।[1]

(१०) सूक्ष्मसम्पराय उपशामक क्षपक गुणस्थान

इसमें आने वाले सभी श्रेणीयों के जीव सूक्ष्म लोभ का वेदन करते है। अतः इसे सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान कहते हैं। सूक्ष्मसम्पराय का अर्थ है सूक्ष्म कषाय। उपशमश्रेणी वाला जीव उस सूक्ष्म लोभ का उपशम करके ग्यारहवें गुणस्थान में पहुंचता है और क्षपकश्रेणी वाला जीव उसका क्षय करके बारहवें गुण में पहुंचता है। दोनों श्रेणियों के इस भेद को बतलाने के लिए ही इस गुणस्थान का नाम सूक्ष्मसम्पराय उपशामक क्षपक नाम दिया गया है। इसमें सूक्ष्म लोभ संज्वलन व लोभ के सूक्ष्म खण्डों का वेदन होता है। इसकी काल स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।[2]

गोम्मट्टसार के अनुसार जिस प्रकार धुले हुए गुलाबी वस्त्र में लालिमा-सूक्ष्म रह जाती है उसी प्रकार जो जीव अत्यन्त सूक्ष्म राग एव लोभकषाय से युक्त है, उसको सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान कहते हैं।[3]

(११) उपशान्तमोह गुणस्थान

निर्मली फल से युक्त जल की तरह अथवा शरद ऋतु में ऊपर से स्वच्छ हो जाने वाले सरोवर के जल की तरह, सम्पूर्ण मोहनीयकर्म के उपशम से होने वाले निर्मल परिणामों को उपशान्तकषाय गुणस्थान कहते हैं।[4] इसका दूसरा नाम उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थगुण स्थान भी है।

---

१. एकम्हि कालसमये, संठाणादीहिं जह णिवट्टंति।
णणिवट्टंति तहावि य परिणामेहिंमिहोजेहिं ॥ गो० जीवकाण्ड गा० ५६

२. दे० कर्मग्रन्थ, भाग 2, पृ० ३५ तथा समवायांगसूत्र, समवाय १४

३. गोम्मट्टसार, जीव काण्ड, गा० ५८

४. गोम्मट्टसार, गा० ६१

उपशमश्रेणी वाला जीव दशवें गुणस्थान के अन्तिम समय में सूक्ष्म लोभ का उपशमन करके इस गुणस्थान में आता है और मोहकर्म की सभी प्रकृतियों का पूर्ण उपशम कर देने से यह उपशान्तमोह गुणस्थान वाला कहा जाता है।[1] इसका काल लघु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इसके समाप्त होते ही वह नीचे गिरता हुआ सातवें गुणस्थान को प्राप्त होता है। यदि उसका संसार परिभ्रमण शेष है, तो वह मिथ्यात्व गुणस्थान तक को प्राप्त कर सकता है।

(१२) क्षीणमोह गुणस्थान

क्षपकश्रेणी पर चढ़े हुए दसवें गुणस्थानवर्ती जीव उसके अन्तिम समय में सूक्ष्म लोभ का भी क्षय करके क्षीण मोही होकर बारहवें गुणस्थान में पहुंचता है क्योंकि उसका मोहनीयकर्म सर्वथा नष्ट हो जाता है। अतः उसका 'क्षीणमोहगुणस्थान' यह नाम सार्थक है। इस गुणस्थान का काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। साधक इसमें ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण कर्म की नौ और अन्तराय कर्म की पांच इन उन्नीस प्रकृतियों की असंख्यात गुणी निर्जरा प्रतिसमय करता है और अन्त में सब का पूर्णरूप से क्षय करके केवल-ज्ञान-दर्शन का लाभ करता है और तेरहवें गुणस्थान को धारण कर लेता है।[2]

गोम्मटसार के अनुसार जब साधक का चित्त मोहनीयकर्म से सर्वथा मुक्त हो जाता है तब वह स्फटिक के निर्मल पात्र में रक्खे हुए जल के समान विशुद्ध हो जाता है। उसकी इसी स्थिति को क्षीणमोह अथवा क्षीणकषाय नामक बारहवां गुणस्थान कहते हैं।[3]

(१३) सयोगीकेवली गुणस्थान

इस गुणस्थान में केवली भगवान् के योग विद्यमान रहते हैं। यद्यपि वे इस गुणस्थान में घातीय चार कर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय) का क्षय करके केवलज्ञान-केवलदर्शन को प्राप्त कर चुके हैं फिर भी योग का प्रयोग होने से वे संयोगकेवली ही कहे जाते हैं। इस

१- दे० कर्मग्रंथ, भाग-२, पृ० ३७

२. समवायांगसूत्र समवाय १४, तथा मिला० कर्मग्रंथ, भाग-२, पृ० ४०

३. णिस्सेसखीणमोहो फलिहामलभायणुदयसमचित्तो।
खीणकसाओ भण्णदि, णिग्गथो वीयरायेहिं ॥ गो० जीवका०, गा० ६२

स्वरूपावस्थिति विशेष को संयोगीकेवली गुणस्थान कहते हैं। संयोग-केवली को जिन, जिनेन्द्र और जिनेश्वर भी कहा जाता है।[1]

(१४) अयोगीकेवली गुणस्थान

इस गुणस्थान में योगों का पूर्णतः अभाव हो जाता है। इससे उन्हें अयोगीकेवली कहा जाता है। इस गुणस्थान का काल अ, इ, उ, ऋ और लृ इन पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण काल प्रमाण है। इतने ही भीतर वे वेदनीय आयु, नाम और गोत्रकर्म की सत्ता में स्थित प्रकृतियों का क्षय करके शुद्ध निरजंन सिद्ध होते हुए सिद्ध स्थिति में प्रतिष्ठित होते हैं। ये अनन्त असीम सुख के स्वामी बन जाते हैं। क्योंकि इस गुणस्थान में योग विशेष रूप से नष्ट हो जाता है। इसलिए इसे अयोगकेवली गुणस्थान कहते हैं।[2]

इस तरह शीलसम्पन्न, निरुद्ध, अशेष आस्रव, सभी कर्मों से विमुक्त और योग रहित साधक के ये चतुर्दश गुणस्थान होते हैं।[3]

योग और गुणस्थान का सम्बन्ध

जैनदर्शन में मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का नाम योग है[4] और इसे बन्धन का कारण भी माना गया है क्योंकि उससे कर्मों का आश्रव होता है।[5] मन और वचन के चार-चार तथा काय के सात भेद मिलाकर योग के १५ प्रकार होते हैं[6]—

---

१. समवायांगसूत्र, समवाय १४ तथा मिला० कर्मग्रंथ, २, पृ० ४१
तथा—असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण।
जुत्तोत्ति सजोगजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो। गो० जीव काण्ड, गा० ६४

२. समवायांगसूत्र, पृ० ४१ से ४४ तथा कर्मग्रन्थ, भाग २, पृ० ४३

३. सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेस-आसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगी केवली होदि॥ गो० जीवकाण्ड, गा० ६५

४. तत्त्वार्थसूत्र, ६.१

५. वही, ६.२

६. कर्मग्रन्थ, भा० ४, पृ० ६०-६१ तथा गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गा० ३४

(क) मनोयोग के चार भेद

१. सत्यमनोयोग
२. असत्यमनोयोग
३. मिश्रमनोयोग
४. और व्यवहार मनोयोग

(ख) वचनयोग के चार भेद

१. सत्य वचन योग
२. असत्य वचन योग
३. मिश्रवचन योग
४ और व्यवहार वचन योग

(ग) काययोग के सात भेद

(१) औदारिक काययोग
(२) औदारिक मिश्र काययोग,
(३) वैक्रियकाय योग
(४) वैक्रिय मिश्र काययोग,
(५) आहारक काय योग,
(६) आहारक मिश्रकाय योग और
(७) कामणकाय योग

इस प्रकार ये कुल मिलाकर योग के १५ भेद हैं।

गुणस्थान और योगों का परस्पर एक दूसरे के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योंकि इन योगों में से प्रत्येक जीव में (एक इन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक) कोई न कोई योग अवश्य पाया जाता है। इस प्रकार योग का जो आधार है, वही आत्मा गुणस्थान का भी आधार है। अत: इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रत्येक जीव में तीन प्रमुख योगों में से कम से कम एक योग और उसके भावों के अनुसार कोई न कोई गुणस्थान अवश्य रहता है। यहां पर यह भी उल्लेखनीय है कि चौदवें गुणस्थान में पहुंचकर आत्मा का पूर्ण विकास होने से वह सिद्ध, बुद्ध पद को प्राप्त हो जाता है।

एक समय में एक जीव में गुणस्थान तो एक ही होता है, किन्तु योगों की संख्या १ से लेकर १५ तक हो सकती है।

६ से १३ गुणस्थान तक की श्रेणी पार करना

छठा गुणस्थान है--'अप्रमत्तसंयत', इसमें साधक पांच महाव्रत अहिंसा आदि का पालन करते हुए अपने भावों को विशुद्ध से विशुद्धतर बनाता जाता है। यद्यपि इसमें संकल्पों को रोकने वाली, प्रत्याख्याना-

वरण कषाय का अभाव होने से पूर्व संयम तो हो जाता है किन्तु संज्वलन आदि कषायों के उदय से संयम में दोष उत्पन्न करने वाले प्रमाद के होने से इसे प्रमत्तसंयत कहते हैं।[1]

इस गुणस्थान में साधक साधना की उत्कृष्ट अवस्था में पहुंचने के कारण चौदह पूर्व का धारी तो बनता ही है और साथ ही उसे आहारकलब्ध की भी प्राप्ति हो जाती है।[2]

छठे प्रमत्तसंयत और सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में इतना ही अन्तर है कि छठे गुणस्थान में प्रमादयुक्त होने से साधना में अतिचार-आदि दोष लगने की सम्भावना रहती है जबकि सातवें गुणस्थान में अंशमात्र भी प्रमाद नहीं रह जाता है। इसीलिए इसका नाम भी अप्रमत्तसंयत है। ये दोनों गुणस्थान एक समय में नहीं होते, किन्तु गति सूचक यन्त्र की सुई की भांति अस्थिर रहते हैं अर्थात् कभी सातवें से छठा और कभी छठे से सातवां गुणस्थान क्रमशः होते रहते हैं।[3]

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान की समय स्थिति जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक की होती है। उसके बाद वे अप्रमत्त मुनि या तो आठवें गुणस्थान में पहुंचकर उपशम क्षपक श्रेणी में हैं याकि फिर छठे गुणस्थान में ही रहते हैं।[4]

इस छठे और सातवें गुणस्थान के स्पर्श से जो साधक विशेष प्रकार की विशुद्धि प्राप्त करके उपशम या क्षपकश्रेणी में पहुंचता है, उसे अपूर्वकरण या निवृत्तिवादर नामक आठवां गुणस्थान कहा जाता है, क्योंकि इसमें अप्रमत्तसाधक की अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्यख्यानावरण और सज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ इन बादर कषायों की निवृत्ति हो जाती है।

यद्यपि उपशम और क्षपक श्रेणियों का प्रारम्भ नौवे गुणस्थान में होता है फिर भी उनकी आधार शिला इसी आठवें गुणस्थान निवृत्ति-

---

१. दे० कर्मग्रंथ, भाग-२, पृ० २६
२. वही, पृ० २७
३. वही, पृ० २८
४, वही,

बादर में ही रखी जाती है।[1]

नौवां गुणस्थान है—अनिवृत्तिबादर। इससे बादर (स्थूल) संपराय (कषाय) उदय में होता है क्योंकि इसमें जितने समय होते हैं, उतने ही परिणाम होते हैं। एक समय में एक ही परिणाम होता है। अतएव इसमें भिन्न समयवर्ती परिणामों में विसादृश्य और एक समयवर्ती परिणामों में सादृश्य होता है। इन परिणामों के द्वारा कर्मक्षय हो जाता है।[2]

इस गुणस्थान में सूक्ष्मकषाय और उनमें भी संज्वलन लोभ के सूक्ष्म लोभ की ही अनुभूति साधक को होती है। इसका वेदन करने वाला चाहे उपशमश्रेणी वाला हो, अथवा क्षपकश्रेणी वाला, वह यथाख्यातचारित्र के अत्यन्त निकट होता है।[3]

सम्पूर्ण मोहनीयकर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले साधक के निर्मलपरिणामों को उपशान्त कषाय नामक ग्यारहवां गुणस्थान बतलाते हैं। जैसे कीचड़युक्त जल में निर्मली डालने से कीचड़ नीचे बैठ जाता है और ऊपर स्वच्छ जल रह जाता है अथवा शरद ऋतु में निर्मल हुए सरोवर के जल की तरह इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म के उदयरूप कीचड़ का उपशम तथा ज्ञानावरण का उदय होने से इस गुणस्थान का यथार्थ नाम उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थ है।[4]

---

१. दे० कर्मग्रंथ, भाग-२, पृ० २८

२. णणिवट्टंति तहावि य परिणामेहि मिहोजेहिं ।
होंति अणियट्टिणो ते, पडिसमयं जेस्सिमेकपरिणामा।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहिंणिद्दड्ढकम्मवणा ॥ गो० जीवकाण्ड, गा० ५६-५७ तथा मिला० कर्मग्रन्थ, भाग-२, पृ० ३३

३. अणुलोहंवेदंतो जीवो उवसामगो व खवगो वा।
सो सुहमसापराओ, जहखादेणूणओ किंचि ॥ गो० जीवकाण्ड, गा० ६०
तथा मिला०—कर्मग्रंथ, भाग-२, पृ० ३५

४. कदकफलं जुदजलं वा, सरए सरवाणियं व णिम्मलयं।
सयलोवसंतमोहो उवसंतकसायओ होदि ॥ गो० जीवकाण्ड, गा० ६१
तथा—कर्मग्रन्थ, भाग-२, पृ० ३६

जब साधक सूक्ष्मकषाय को भी साधना के द्वारा क्षय कर देता है तब वह बारहवें गुणस्थान क्षीणकषाय में पहुंच जाता है।[1] ज्योंहि साधक सम्पूर्ण कषाय को नष्ट कर चार घातिकर्मों को भी नष्ट कर देता है, तब वह उसी समय तेरहवें गुणस्थान सयोगीकेवली में पहुंच जाता है[2] और संसारचक्र से सदा-सदा के लिए छूट जाता है। यही उसका निर्वाण व मुक्तिलाभ है।

---

१. गो०, जीवकाण्ड, गा० ६२ तथा कर्मग्रन्थ, भाग-२, पृ० ३९-४०

२. गो०, जीवकाण्ड, गा० ६३ व ६४ तथा कर्मग्रन्थ, भाग-२, पृ० ४०, जैनतत्वकलिका, पृ० २०२

परिच्छेद—पंचम

योगबिन्दु एवं तत्त्वविश्लेषण

जब आत्मा की खोज होने लगी, तब यह कहा जाने लगा कि अन्नमय आत्मा जिसे शरीर भी कहा जाता है, रथ के समान है, उसे चलाने वाला रथी ही वास्तविक आत्मा है।[1] आत्मा प्राण का भी प्राण है।[2] जैसे मनुष्य की छाया का आधार स्वयं मनुष्य ही है, उसी प्रकार प्राण भी आत्मा पर अवलम्बित है।[3] विश्व का आधार भी प्राण ही है[4] और वह देवों का भी देव है।[5] आत्मा को प्रज्ञा और प्रज्ञान[6] और उसे ही विज्ञान भी बतलाया गया है।[7]

वैदिक दार्शनिकों ने आत्मा को आनन्दमय स्वीकार किया है[8] किन्तु इन दार्शनिकों के विचारों और मतों में भी निरन्तर परिष्कार होता गया और उन्होंने कहा कि आत्मा स्वयं प्रकाश स्वरूप और अन्तर्यामी है।[9] वही द्रष्टा श्रोता और विज्ञाता है।[10] आत्मा ही चिन्मात्र सूर्य के प्रकाशरूप और ज्योतिमय है।[11]

इसके अतिरिक्त आत्मा को उन्होंने अजर अमर, अक्षर, अमृत

---

१. दे० छान्दोग्योपनिषद् का सार, हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग-२, पृ० १३१
२. केनोपनिषद्, १.४.६
३. प्रश्नोपनिषद्, ३.३
४. छान्दोग्य-उपनिषद्, ३.१५
५. बृहदारण्यक-उपनिषद्, १.५.२२-२३
६. ऐतरेय-उपनिषद्, ३.३
७. वही, ३,२
८. तैत्तिरीय-उपनिषद्, २.५
९. बृहदारण्यक-उपनिषद् ३.७.२२ तथा ४.५.१३
१०. वही, ३७,२३ व ३.८.११
११. मैत्रेय्युपनिषद्, ३.१६.२१

अव्यय, नित्य, ध्रुव और शाश्वत भी माना है।[1]

भगवान् बुद्ध ने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान, चक्षु आदि इन्द्रियां, उनके विषय और ज्ञान, मन, मानसिकधर्म और मनोविज्ञान इन सब पर एक-एक करके विचार किया और सब को अनित्य और अनात्म की संज्ञा दी है। वे श्रोताओं को कहते हैं कि आत्मा जैसी कोई वस्तु ढूंढने पर भी नहीं मिल सकती।[2] अतः आत्मा नहीं है।

भगवान् बुद्ध ने रूपादि सभी वस्तुओं को जन्य माना है और यह व्याप्ति बनाई हैं कि जो जन्य है, उसका निरोध आवश्यक है।[3] अतः बौद्धमत में अनादि अनन्त आत्मतत्त्व का कोई स्थान नहीं है।

बुद्ध केवल इतना ही प्रतिपादित करते हैं कि प्रथम चित्त था। इसीलिए दूसरा उत्पन्न हुआ, उत्पन्न होने वाला वही नहीं है और उससे भिन्न भी नहीं है, किन्तु वह उसकी धारा में ही है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि बुद्ध का उपदेश था कि जन्म जरा, मरण आदि किसी स्थायी ध्रुव जीव के नहीं होते किन्तु वे सब अमुक कारणों से उत्पन्न होते हैं।

इतना होते हुए भी बुद्धमत की दृष्टि में जन्म, जरा, मरण इन सबका अस्तित्व तो है परन्तु बौद्ध यह स्वीकार नहीं करते कि इन सब का स्थायी आधार भी है।[4] तात्पर्य यह है कि बुद्ध को जहां चार्वाक का देहात्मवाद अमान्य है वहीं उपनिषद् सम्मत सर्वान्तर्यामी नित्य, ध्रुव, शाश्वत-स्वरूप आत्मा भी स्वीकार्य नहीं है।

(क) जैन दर्शन में आत्मा

जैन दर्शन द्वैतवादी है। वह जीव और अजीव ये दो प्रमुख तत्त्व मानता है। अजीव जड़तत्त्व है जबकि जीव चैतन्य। जैन जीव को

---

१. कठोपनिषद्. ३.२, बृहदा० ४.४.२०, श्वेता० १.६ इत्यादि

२. संयुक्तनिकाय १२.७० तथा ३२-३७
दीर्घनिकाय, महनिदान सुत्त १५, एवं विनयपिटक, महाग्ग १.६.३८-४६

३. यंकिंचि समुदयधम्मं सब्बं तं निरोधधम्मं। महावग्ग १.६.२६
सब्बे सङ्खारा अनिच्चा, दुक्खा, अनत्ता॥ अंगुत्तर निकाय तिकनिपात १३४

४. संयुत्तनिकाय १२-३६, अंगुत्तर निकाय, ३; विशुद्धिमग्ग, १७.१६१-१७४

आत्मा भी कहते हैं। इसके अनुसार जीव, आत्मा, चेतना और चैतन्य ये सभी एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं।

जीव के विषय में कहा गया है कि आयुष्कर्म के योग से जो जीते हैं एवं जीवेंगे उन्हें 'जीव' कहा जाता है।[1] दूसरे प्रकार से जो प्राणों के आधार पर जिए हैं, जी रहे हैं और जीएंगे, उन्हें जीव कहा जाता है। प्राण के दो भेद हैं—द्रव्य और भाव प्राण। बल, इन्द्रिय, आयुष्य और श्वासोच्छ्वास 'द्रव्यप्राण' कहे जाते हैं जबकि ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग 'भावप्राण' माने जाते हैं।[2]

जैन दर्शन में जीव का लक्षण 'उपयोग' (चेतना व्यापार) किया गया है।[3]

आत्मा अनेक शक्तियों का पुञ्ज है, उनमें प्रमुख शक्तियां हैं—ज्ञानशक्ति, वीर्यशक्ति, संकल्पशक्ति आदि।[4] दूसरे शब्दों में इन्हें उपयोग कहा जाता है—**द्रव्यं कषाययोगावुपयोगो ज्ञानदर्शने चेति**।[5] जीव स्वरूपतः अनादि निधन, अविनाशी और अक्षय है। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से उसका स्वरूप कभी नष्ट नहीं होता, तीनों कालों में एक समान रहता है, इसलिए वह नित्य है किन्तु पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से वह भिन्न-भिन्न रूपों में परिणत होता रहता है। अतः अनित्य है। जैसे सोने के मुकुट, कुण्डल आदि अनेक आभूषण बनते हैं। मूल रूप में फिर भी वह

---

१. जीवः प्राणधारणे अजीवन् जीवन्ति जीविष्यन्ति आयुर्योगेनेति निरुक्तवशाद्-जीवाः। जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः। प्रशमरति, भाग-२, पृ० १

२. पाणेहि चदुहि जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं।
सो जीवो, पाणा पुण बलमिंदियमाऊ-उस्सासो॥ पंचास्तिकाय, गा० ३०

३. जीवो उवओगलक्खणो। उत्तरा० २८.१०
तथा—उपयोगो जीवस्य लक्षणम्॥ तत्त्वार्थसूत्र २.८
सामान्यं खलु लक्षणमुपयोगो भवति सर्वजीवानाम्। प्रशमरति, भाग-२, श्लोक १९४

४. नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवयोगो य एयं जीवस्स लक्खणं॥ उत्तरा० २८.११

५. दे० प्रशमरति, भाग २, श्लोक १९९

सोना ही रहता है, केवल उसके नाम और रूप में अन्तर पड़ जाता है, वैसे ही चार गतियों और चौरासी लाख जीव योनियों में भ्रमण करते हुए आत्मा की पर्यायें बदलती रहती हैं। उसके नाम और रूप परिवर्तित होते हैं, किन्तु जीवद्रव्य सदैव वैसा का वैसा ही रहता है।[1]

आत्मा शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित है, वह अमूर्त है और अरूपी सत्ता वाला है।[2] अमूर्त होने के कारण वह इन्द्रियों और मन के द्वारा नहीं जाना जा सकता।[3] अतः अतीन्द्रिय है।

आत्मा का कर्तृत्व

जैन दर्शनानुसार मानव जीवन में जो सुख-दुःख, ऊंच-नीच, छोटा-बड़ा, अमीर-गरीब की जो विचित्रता दिखाई देती है। उसका कारण कोई अन्य शक्ति न होकर स्वयं मानव शरीर में विद्यमान उसका आत्मा ही है। अपने पूर्वजन्म में आत्मा जैसे-जैसे कर्म करता है, वैसे-वैसे ही परिणामों का यहां उसे भुगतान भी करना पड़ता है। कर्मों से बन्धा जीव अमूर्त होते हुए भी मूर्त शरीर को धारण करके[4] अन्य सुख-दुःख आदि को भोगता है। कर्मों से बन्धा हुआ यह आत्मा ही वेतरणी नदी का रूप लेता है और यही कूटशाल्मलीवृक्ष भी होता है। आत्मा ही कामदुहा धेनु है और नन्दनवन भी यही आत्मा है।[5]

अतः जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त का जितना सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। इसके प्रमाण के रूप में जैन दर्शन में उपलब्ध विपुल कर्मसिद्धान्त साहित्य को देखा जा

---

१. दे० जैनतत्त्वकलिका. आत्मवाद, पृ० ११६

२. दे० आचारांगसूत्र, श्रुतस्कन्ध १, अ० ५, ३, ६ सूत्र ५६३-६६

३. नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावाविय होइ निच्चं। उत्तरा० १४.१६

४. (क) कम्मुणा उवाही जायइ। आचारांगसूम १.३.१

(ख) एको दरिद्रो एकोहि श्रीमानिति च कर्मणः॥ पंचाध्यायी, २.५०

(ग) कम्मओ णं भन्ते। जीवे नो अकम्मओ विभुत्तिभावं परिणमई॥ भगवतीसूत्र १२.१२०

(घ) अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य। अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ॥ उत्तरा० २०.३७

५. अप्पा नईवेयरणी, अप्पा मे कूडसामली। अप्पा कामदुहा धेणु, अप्पा मे नन्दनं वणं॥ उत्तरा० २०,३६

सकता है।[1] सूत्रकृतांगसूत्र में बताया गया है कि जीव पूर्वजन्म में जैसा कर्म करता है वैसा ही फल उसे मिलता है।[2]

इसके अतिरिक्त कोई अन्य शक्ति किसी को सुख-दुःख देने वाला नहीं है। कर्मों के कारण ही आत्मा अतिमूढ़, दुःखित और अत्यन्त वेदना से युक्त मनुष्येतर योनियों में जन्म लेकर पुनः-पुनः पीड़ित होता है।[3] विविध प्रकार के कर्मों को करके नानाविध जातियों में उत्पन्न होकर पृथक्-पृथक् रूप में प्रत्येक संसारी जीव समस्त विश्व को स्पर्श कर लेता है।[4]

अपने पूर्वकृत कर्मों के कारण ही जीव कभी देवलोक में देव, तो कभी नरक में नारकी, कभी असुरयोनि में असुर तथा कभी तिर्यग्योनि में पशु-पक्षी बन जाता है।[5] जैसे चिरकाल तक भौतिक पदार्थों का भोग करके भी क्षत्रिय लोग भोगों से विरक्त नहीं होते, वैसे ही कर्मों से बद्ध जीव विविध योनि में भ्रमण करता हुआ भी उनसे मुक्ति की इच्छा नहीं करता।[6]

इस तरह कर्मबद्ध यह आत्मा ही अपने को कर्त्ता समझती है। उसके कर्मबन्ध का कारण भी राग और द्वेष ही है।[7] राग-द्वेष से मोह उत्पन्न होता है और मोह से कषाय उत्पन्न होती है। अतः प्रकारान्तर से मोह[8] भी कर्मबन्ध का कारण माना गया है और कषाय[9] भी।

---

१. कर्मग्रन्थ, कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह, सप्ततिका, महाकर्म, प्रकृतिप्राभृत, षट्खण्डागम आदि प्रमुखरूप से द्रष्टव्य हैं।

२. जं जारिसं पुव्वमकासिकम्मं तमेव आगच्छति संपराए। सूत्रकृतांगसूत्र ५.२.२३

३. कम्मसंगेहिं सम्मूढा दुक्खिया बहुवेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु विणिहम्मन्ति पाणिणो॥ उत्तरा० ३.६

४. समावन्नाण संसारे नाणा गोत्तासु जाइसु।
कम्मानाणा विहा कट्टु पुढो विस्संभिया पया॥ वही, ३.२

५. एगया देवलोएसु नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं आहाकम्मेहिं गच्छई॥ वही, ३.३

६. उत्तरा० ३.२

७. रागो य दोसो वियकम्मबीयं। वही, ३२.७

८. कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति। वही,

९. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते। तत्त्वार्थसूत्र ८.२

आत्मा का भोक्तृत्व

जो आत्मा कर्म करता है वही उनका भोग भी कर्ता है, जैसे सेंध लगाता हुआ, पकड़ा गया चोर अपने कृतकर्मों के फलानुसार दण्ड को भोगता है। इसी प्रकार जीव भी अपने कृतकर्मों के कारण लोक तथा परलोक में विविध प्रकार से सुख-दुःख पाता है। किए हुए कर्मों को भोगे बिना उसका छुटकारा नहीं होता।[1] आत्मा स्वयं अकेला ही कृतकर्मों के सुख-दुःख रूप फल को भोगता है क्योंकि कर्म कर्त्ता के ही पीछे चलता है।[2] इन प्रमाणों के आधार पर यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि आत्मा ही कर्मों का भोक्ता है, किन्तु जैसे उपनिषदों में जीवात्मा को कर्त्ता और भोक्ता मानकर भी परमात्मा को दोनों से रहित माना गया है, वैसे ही जैनदर्शन में जीव के कर्म कर्तृत्व और भोक्तृत्व को व्यावहारिक दृष्टि से ही माना गया है। निश्चय दृष्टि से तो जीव कर्म का कर्ता भी नहीं है तो फिर वह भोक्ता कैसा होगा ?[3]

जैनदर्शन व्यवहार और निश्चय इन दो दृष्टियों से ही किसी भी पदार्थ का निर्णय करता है। व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा कर्मों का कर्त्ता है, कारण कि व्यवहार में आत्मा का कर्तृत्व स्पष्ट प्रकट है। फिर भी व्यवहार में उसे कर्मों का कर्त्ता तभी तक माना जाता है, जब तक वह कषाय और योग से युक्त है किन्तु जब वही अकषायी और अयोगी हो जाता है तब वही आत्मा अकर्ता भी होता है।

तत्त्वज्ञ आत्मा

जो आत्मा नौ तत्त्वों को जानता है और उनपर श्रद्धा करता है, वही तत्त्वज्ञ कहलाता है, उसे जैनदर्शन में बुद्ध[4] और सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। इसे ही ज्ञानी आत्मा भी कहा जाता है।[5] बौद्धदर्शन में इसे

---

१. तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ॥ उत्तरा०, ४.३

२. एक्को सयं पच्चणु होई दुःखं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं। वही, १३,२३

३. परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पिय परं अकुव्वनो।
सोणाणमओ जीवो कम्माणमकारओ होदि ॥ समयसार, गा० ९३

४. बुद्धे परिनिव्वुडे चरे। उत्तरा० १०.३६

५. ज्ञानसम्यग्दृष्टेर्दर्शनमथ भवति सर्वजीवानाम्।
चारित्रं विरतानां तु सर्वसंसारिणां वीर्यम् ॥ प्रशमरति भा०, २, श्लोक २०१

बोधिसत्त्व कहा गया है। सम्यक्दृष्टि और बोधिसत्व में तात्त्विक रूप से कोई अन्तर नहीं होता।

परोपकार में हार्दिक अभिरुचि, प्रवृत्ति में बुद्धिमत्ता, विवेकशीलता, धर्ममार्ग का अनुसरण, भावों में उदात्तता, उदारता तथा गुणों में अनुराग ये सब बोधिसत्त्व तथा सम्यग्दृष्टि में समानरूप से पाए जाते हैं।[1] सम्यग्दर्शन और बोधि वास्तव में एक ही वस्तु है। बोधिसत्त्व वही पुरुष होता है, जो बोधि से युक्त हो तथा कल्याण पथ पर सम्यग्गतिशील हो। सम्यग्दृष्टि भी ऐसा ही होता है।[2] दानों एक दूसरे के पर्यायवाची हैं।

करुणा आदि गुणों से युक्त, परहित साधन में विशेष अभिरुचि, सदाचारी, प्रज्ञावान्, उत्तरोत्तर विकास पथ पर अग्रसर आध्यत्मिक गुणों से युक्त सत्पुरुष यत्नशील रहता है।[3] जो उत्तमबोधि से युक्त है, भव्यत्व के कारण अपनी उद्दिष्ट मोक्ष यात्रा में आगे चलकर तीर्थङ्कर पद प्राप्त करने वाला है, वह बोधिसत्त्व है।[4] सम्यग्दृष्टि भी ऐसा ही होता है।

चारित्र के बिना सम्यक्त्व तो हो सकता है, किन्तु सम्यक्त्व के बिना न तो ज्ञान और न चारित्र ही हो सकता है। अत: चारित्र से पूर्व सम्यक्त्व होना आवश्यक है।[5] इसी कारण से मोक्षमार्ग का कथन करते हुए आचार्य ने सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का ही उल्लेख किया है।[6]

सर्वज्ञ आत्मा

जैनदर्शन में सर्वज्ञ के लिए केवली शब्द का प्रयोग हुआ है। केवली

---

१. परार्थरसिको धीमान् मार्गगामी महाशयः।
गुणरागी तथेत्यादि सर्वं तुल्यं द्वयोरपि॥ योगबिन्दु, श्लोक २७२

२, वही, श्लोक २७३

३. योगबिन्दु, श्लोक २८७

४. वही, श्लोक २७४

५. नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्तचरित्ताइं जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं॥ उत्तरा० २८,२९
नादंसणिस्स नाणं नाणेण विना न हुन्ति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥ वही, २८.३०

६. सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्ष मार्गः। तत्त्वार्थसूत्र १.१

अथवा सर्वज्ञ वही होता है, जो साधक १२वें गुणस्थान में पहुंचकर अन्तमुंहूर्तकाल में ही एक विविध प्रकार के कर्मावरण (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अन्तराय) को क्षय करके[1] शाश्वत निरतिशय, अनुपम, अनुत्तर, निरवशेष, सम्पूर्ण वस्तुओं को जानने के कारण भूत, वर्तमान और भविष्यत्काल के द्रव्य-गुण और पर्यायों को सभी प्रकार से देखता है।[2] यही सर्वज्ञ है और यही केवली भी है।

केवली (सर्वज्ञ) केवलज्ञानरूपी नेत्र से अतीन्द्रिय-इन्द्रियों द्वारा अगम्य पदार्थों को साक्षात् देखते हुए धर्मोपदेश करने में प्रवृत्त होते हैं, जिसके लिए वे अधिकृत भी हैं।[3] ऐसे निर्मम, निरहंकारी, वीतरागी तथा अनास्रवी मुनि केवलज्ञान को प्राप्त कर शाश्वत परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं।[4]

चैतन्य आत्मा का स्वरूप भी यही है। वह ज्ञान से पृथक् नहीं। इसलिए सर्वज्ञत्व मुक्तावस्था से पूर्व तथा पश्चात् दोनों ही स्थितियों में होता है। आत्मा का स्वभाव ही है—स्वस्वरूप में प्रगटना या अवस्थित होना।[5] **योगदर्शन** के अनुसार पुरुष के कार्य का सम्पादन कर चुकने पर निष्प्रयोजन हुए गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना और चितशक्ति का अपने स्वरूप मे अवस्थित हो जाना कैवल्य है, जिसकी प्राप्ति का

---

१. छद्मस्थवीतरागः कालं सोऽन्तमुंहूर्तमथ भूत्वा।
युगपद्विविधावरणान्तरायकर्मक्षयमवाप्य। प्रशमरति, भाग-२, श्लोक २६८

२. शाश्वतमनन्तमनतिशयमनुत्तरनिरवशेषम्।
सम्पूर्णमप्रतिहतं सम्प्राप्तः केवलज्ञानम्॥
कृत्स्ने लोकालोके व्यतीतः साम्प्रतं भविष्यतः कालान्।
द्रव्यगुणपर्यायाणां ज्ञात्वादृष्ट्वा च सर्वार्थैः॥ वही, २६९-७०
तथा मिला०—मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।
तत्त्वार्थ० १०.१

३. साक्षादतीन्द्रियानर्थान् दृष्ट्वा केवलचक्षुषा।
अधिकारवशात् कश्चित् देशनायां प्रवर्तते॥ यो० बि०, श्लोक ४२५

४. निम्ममो निरहंकारो वीयरागो अणासवो।
सम्पत्तो केवलं नाणं, सासयं परिणिव्वुए॥ उत्तरा०, ३५.२१

५. चैतन्यमात्मनो रूपं न च तज्ज्ञानतः पृथक्।
युक्तितो युज्यतेऽन्ये तु ततः केवलमाश्रिता॥ यो० बि० श्लोक ४२८

अनन्यतम साधन विशुद्ध विवेकज्ञान है।[1]

जैनदर्शन में साधक की यह अवस्था आठवें गुणस्थान के द्वितीय चरण से प्रारम्भ होती है जिसमें साधक क्षपकश्रेणी द्वारा चार घातिया कर्मों को नष्ट करके पूर्णकर्म सन्यासयोग प्राप्त करता है और बिना किसी बाधा के केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।[2]

(ख) आत्मा एवं कर्म

सामान्य लोगों में विभिन्न व्यवसायों, कार्यों या व्यवहारों के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग होता है। खाना-पीना आदि जितने भी दैनिक जीवन के कार्य हैं उनके लिए भी कर्म शब्द प्रयुक्त होता है। नैयायिकों ने उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि सांकेतिक कर्मों के लिए इसका व्यवहार किया है।

पौराणिक लोग व्रत आदि धार्मिक क्रियाओं को, कर्मकाण्डी मीमांसक यज्ञयाग आदि को, स्मृतिकार विद्वान् चार आश्रम और चार वर्णों के नियत कार्यों को कर्म रूप में मानते हैं। जबकि कुछ दार्शनिक संस्कार, आशय, अदृष्ट और वासना आदि अर्थों में इसका प्रयोग करते हैं।[3]

जैनदर्शन में कर्म शब्द इन सबसे विलक्षण एवं विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जो मनोविज्ञान सम्मत भी है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन कारणों से जीव द्वारा जो किया जाता है, उसे तथा उसके निमित्त से जो कर्म योग्य पुद्गल द्रव्य अपने आत्म प्रदेशों के साथ मिला लिया जाता है, उस आत्म सम्बद्ध पुद्गल द्रव्य को कर्म कहते हैं।[4]

---

१. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रति प्रसवकैवल्यं।
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्तिशक्तेरिति ॥ यो० द०, ४.३४
तथा —विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। वही, ३.२६

२. द्वितीयाऽपूर्वकरणे मुख्योऽयमुपजायते।
केवलश्रीस्ततश्चास्य निःसपत्नासदोदया ॥ योगदृ० समु०, श्लोक १७७

३. दे० जैनतत्त्वकलिका, पृ० १५५

४. कीरइजिएण हेउहिं, जेणं तो भण्णए कम्मं ॥ कर्मग्रंथ, भाग-१ गा १

अष्ट मूल कर्म

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय को मिलाकर ये आठ मूल कर्म होते हैं।[1] जो कर्म आत्मा के ज्ञानगुण और दर्शनगुण को आवृत अथवा ढक लेते हैं। उन्हें क्रमशः ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। ऐसे ही जिस कर्म से आत्मा सुख-दुःख की अनुभूति करता है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। जिस कर्म से आत्मा में सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति (मोह) उत्पन्न होती है वह मोहनीय कर्म है। आत्मा विभिन्न योनियों में रहने की आयु का बन्ध जिससे करता है, उसे ही आयुः कर्म विशेष कहते हैं। जिस कर्म से आत्मा शुभ-अशुभ अथवा मान अपमान को प्राप्त करता है। वह नामकर्म तथा जिससे आत्मा ऊंच-नीच कुल अथवा गोत्र में जन्म लेता है उसे गोत्रकर्म कहते हैं। आत्मा के दान-भोग आदि कार्यों में जो बाधा अथवा रुकावट उत्पन्न करता है, उसे ही अन्तरायकर्म कहते हैं।[2]

कर्म यद्यपि पुद्गलात्मक होने से जड़ और मूर्त है; फिर भी चेतन आत्मा के सान्निध्य में आने से जैसे साइकिल आदि वाहन मनुष्य के सम्पर्क से गतिशील होते हैं वैसे ही ये चेतन की भांति कार्य करते हैं।

मूर्तकर्म का अमूर्त आत्मा से सम्बन्ध

जैसे मूर्त घट का अमूर्त आकाश से सम्बन्ध होता है वैसे ही मूर्तकर्म का अमूर्त आत्मा से संयोग होता है[3] किन्तु आत्मा एकान्तरूप से अमूर्त नहीं, वह मूर्त भी है। जैसे अग्नि और लोहे का सम्बन्ध होने पर लोहा अग्निरूप हो जाता है वैसे ही संसारी जीव तथा कर्म का अनादि काल से सम्बन्ध होने के कारण जीव भी कर्म के परिणामरूप हो जाता है। अतः वह उस रूप में मूर्त भी है।

---

१. नाणस्सावरणिज्जं दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य॥
नामकम्मं च गोयं च अन्तरायं तहेव य।
एवमेयाइ कम्माइ अट्ठेव उसमासवो॥ उत्तरा० सू० ३३.३-४

२. दे० जैनतत्त्वकलिका, पृ० १६५

३. मुत्तस्सामत्तिमत्ता जीवेण कथं हवेज्ज संबधो।
सोम्मघडस्स व णभसा जधं वा दव्वस्स किरियाए॥
गणधरवाद गा० १६३५

इस प्रकार मूर्त कर्म से कथंचित् अभिन्न होने के कारण जीव भी कथंचित् मूर्त हो जाता है। इसलिए अमूर्त आत्मा से मूर्तकर्म का सम्बन्ध होने में कोई भी बाधा अथवा आपत्ति नहीं है। जैनदर्शन के अनेकान्तवाद सिद्धान्त के अनुसार संसारी आत्मा चेतन तथा मूर्तामूर्त है। अतः उस पर मूर्त कर्म का प्रमुख होना स्वाभाविक है।[1]

आत्मा और कर्म का अनादि सान्त सम्बन्ध

कर्म प्रवाह अनादिकालीन होने से संसारी जीव अनादिकाल से कर्म-परमाणुओं से बन्धा हुआ चला आ रहा है। जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बीज की बीजांकुर-सन्तति अनादि है वैसे ही देह से कर्म और कर्म से देह सन्तति अनादि है। इसी प्रकार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध भी है। जिनका परस्पर कार्य-कारण भाव होता है, उनकी सन्तति भी अनादि होती है।[2] इसे जैन आगमों में बलाका और अण्डे से समझाया गया है, जैसे अण्डे से बलाका और बलाका से अण्डा उत्पन्न होता है[3] कारण कि इनका सम्बन्ध अनादि है। इसी प्रकार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध भी अनादि स्वीकार किया गया है।[4]

---

१. मुत्तेणामुत्तिमतो उवघाताणुग्गहा कधं होज्ज।
जह विण्णाणादीणं मदिरापाणोसधादीहिं॥ गणधरवाद, गा० १६३७-३८

तथा निशा०—जीवपरिपाकहेउ कम्मता पोग्गलापरिणमंति।
पोग्गलकम्मनिमित्तं जीवो वि तहेव परिणमई॥ प्रवचनसारवृत्ति, ४५५

जम्हाकम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुंजदे-णिययं।
जीवे सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि।
मुत्तो फासदिमुत्तं मुत्तो मुत्तेण बन्धमणुहवदि।
जीवो मुत्तिविरहिदो गाहिदत तेहिं उग्गहदि॥ पंचास्तिकाय, गा० १४१-४२

२. देहस्स नत्थि गोव्वत्ति णिण यसोत्थिणणुविरुद्धमितं।
सव्वाभावे विणसो घेव्वति किं खरविसाणस्य॥ गणधरवाद, गा० १६३९

३. जहा य अण्डप्पभवा बलागा, अण्डं बलागप्पभवं जहाय। उत्तरा०सू०, अ० ३२.६

४. यथाऽनादिः सजीवात्मा, यथाऽनादिश्च पुद्गलः।
द्वयो बन्धोऽप्यनादि स्यात् सम्बन्धो जीवकर्मणोः। पंचाध्यायी, २.३५

कर्म और आत्मा का यह सम्बन्ध अनादि और सान्त है, क्योंकि इन दोनों के आदि का तो पता नहीं किन्तु इनका सम्बन्ध विच्छेद जरूर होता है। आत्मा उग्र, तप, त्याग, वैराग्य, संयम, ज्ञान-दर्शन और चारित्र की आराधना से उपलब्ध प्रबल ज्ञानशक्ति को परास्त कर देता है[1] अथवा आत्मा की प्रबल शक्ति के सामने कर्मशक्ति एक क्षण भी स्थिर नहीं रह पाती। यदि कर्मशक्ति पर आत्मशक्ति की जीत न मानी जाए तब तो तप त्यागमय साधना का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।

कर्म का कर्तृत्व और अकर्तृत्व

कर्म के बिना जीव कर्तृत्व रहित है, ठीक वैसे ही जैसे मदिरा जब तक बोतल में बन्द होती है, उसका कोई प्रभाव नहीं होता, किन्तु जैसे ही उसका प्रयोग किया जाता है, तो फिर उसका प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित होने लगता है। ऐसे ही कर्म में कर्तृत्व अथवा अकर्तृत्व कुछ भी नहीं होता है। वास्तव में तो आत्मा कथंचिद् कर्ता और कथंचित् अकर्त्ता है।

(ग) कर्म एवं लेश्या

लेश्या का कर्मों के साथ अपरिहार्य सम्बन्ध है। संसार में जितने भी प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं, वे सभी रूप-रंग और आचार-विचारों में एक जैसे नहीं हैं। इसका कारण कर्म-वैचित्र्य को ही माना गया है। इस कर्म-वैचित्र्य को केवल जैन-बौद्ध[2] ही स्वीकार नहीं करते, बल्कि हिन्दू-धर्म[3] में भी लेश्यागत कर्म-वैचित्र्य की बहुल चर्चा की गई है।

कर्मगत आत्म परिणामी लेश्या

प्राणी जैसे-जैसे चिन्तन मनन अथवा विचार करता है, उनका

---

१. खवित्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो॥ उत्तरा० २५.४५

२. अभिधर्मकोश, २.५६-६०, पर भाष्य

३. षड्जीववर्णा परमं प्रमाणं कृष्णः धूम्रो नील यथास्यमध्यम्॥
रक्तं पुनः सह्यतरं सुखं तु हारिद्रवर्णं सुसुखं च शुक्लम्॥
महाभारत, शान्ति पर्व, २८०.३३

वैसा-वैसा ही वर्ण और पुद्गल का आकर्षण होता जाता है। मन के विचारों में जो चंचल लहरियां होती हैं वे पुद्गलों से सम्मिश्रित होती हैं। इस कारण वैचारिक समूह पुद्गलरूप होता है। जैसे स्फटिक स्वस्वरूप से उज्ज्वल होता है परन्तु उसके समीप में जिस वर्ण की वस्तु रख दी जाती है, वह स्फटिक भी उसी वर्ण का प्रतिभाषित होने लगता है। ऐसे ही आत्मा स्फटिक के समान उज्ज्वल और निर्मल है। उसके पास जिस वर्ण के परिणाम होगें वह आत्मा भी उसी वर्ण वाला प्रतिभाषित होने लगेगा। इस प्रकार लेश्या कर्मगत आत्मपरिणामी है।

लेश्या कर्मश्लेष के कारणभूत शुभाशुभ परिणाम वाली होने पर भी आचार्यों ने उसको भिन्न-भिन्न अर्थों-अध्यवसाय[1], अन्तःकरण[2] की वृत्ति, तेज[3] दीप्ति[4], ज्योति[5], किरण[6], देहसौन्दर्य[7], ज्वाला[8], सुख[9] एवं वर्ण[10] में प्रयोग किया है। कुछ एक आधुनिक विद्वान् लेश्या का अर्थ मनोवृत्ति, विचार अथवा तरंग भी करते हैं।[11] लेश्या 'लिश्' धातु में यत् और टाप् (स्त्री लिंग) प्रत्यय लगकर बना है, जिसका मूल अर्थ-जाना, सरकना, छोटा होना[12] और पकड़ना[13] आदि है।

जिसके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त होता है वह लेश्या—**लिश्यते-श्लिष्यते कर्मणा सह आत्मा अनयेति लेश्या।**[14] योग परिणाम को भी

१-२. दे० अभिधान राजेन्द्र, पृ० ६७४
३-४. दे० पाइअसद्दमहण्णवो, पृ० ९०५
५. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ० ९६७
६-७. पाइसद्दमहण्णवो, पृ० ९०५
८. वही, पृ० ७२९
९. दे० भगवतीसूत्र, १४.९.१०-१२
१०. वही, १४.९.१०-१२
११. दे० (मुनि सुशील कुमार), जैनधर्म, पृ० १२२
१२. (मैकडानल), संस्कृत अंग्रेजी कोष
१३. (मोनियर विलियम) संस्कृत-अंग्रेजी कोष
१४. दे० प्रशमरति, भाग १, परिशिष्ट, पृ० २२५ पर उद्धृत तथा
मिला०-स्थानाङ्गसूत्र, ७५ पर टीका

आचार्यों ने लेश्या बतलाया है।[1] उनका कहना है कि काले-नीले इत्यादि द्रव्यों के सान्निध्य से उत्पन्न हुए जीव का जो परिणाम है, वही लेश्या है।[2] जीव जिसके द्वारा अपने को पुण्य-पाप में लिप्त करे उसी का नाम लेश्या बतलाया गया है।[3] आचार्य नेमिचन्द्र चक्रवर्ती गोम्मट्टसार में लेश्या को कषाय के उदय से रंगी हुई मन-वचन-काय की प्रवृत्ति मानते हैं।[4] इस तरह लेश्या योग से मिश्रित कषाय की प्रवृत्ति मात्र है।

लेश्या का कोई क्रम नहीं, यह शाश्वत भाव है। यह लेश्या लोका-लोक, लोकान्तालोक दृष्टि, ज्ञान एव कर्म आदि की तरह अनादि काल से विद्यमान है और अनन्तकाल तक रहेगी।

भेद-दृष्टि से यह लेश्या द्रव्य और भाव इन दो रूपों में उपलब्ध होती है।[5] श्लेष की तरह इसे तीन भागों में भी बांटा गया है—वर्ण-बन्ध, कर्मबन्ध और स्थितिबन्ध।[6] वर्णभेद से लेश्या-कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पद्म् और शुक्ल छ प्रकार की बतलायी गई है।[7] इनमें से प्रथम तीन अशुभ और अपवित्र होती हैं तो शेष तीन-पीत, पद्म और

---

१. योगपरिणामो लेश्या। स्थानांगसूत्र १.५१ टीका तथा तथा दे० भग० १,२,१८ पर टीका
२. कृष्णादिद्रव्यसान्निध्यजनितो जीवपरिणामो लेश्या। भग० १२.३.५
आत्मनः सम्बन्धनी कर्मणो योग्यलेश्याकृष्णादिकावर्मणो वा लेश्या।
वही, १४.६.१ पर टीका
३. लिम्पइ अप्पो कीरइ एदीए णिय अपुण्णपुण्णं च।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा॥ गोम्मट्टसार जीव काण्ड, गा० ४८६
४. जोगपउत्तीलेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होई। वही, गा० ४९०
तथा मिला०—कृष्णायोदयतो योगप्रवृत्तिरूप दर्शिता।
लेश्याजीवस्सकृष्णादि…॥ तत्त्वार्थश्लोक वा० २,६.११
कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या॥ तत्त्वार्थवा० २.६.८
तथा दे० तत्त्वार्थवृत्ति २.६ पर व्याख्या
५. द्विविधालेश्या-द्रव्यलेश्या भावलेश्याभेदात्॥ तत्त्वार्थवृत्ति, २.६
६. श्लेष इव वर्णबन्धस्य कर्मबन्धस्थिति त्रिविधस्त्रयः। स्थानांगसूत्र १.५१ पर टीका
७. साषडविधा-कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या। तत्त्वार्थवृत्ति, २.६ तथा उत्तराध्ययनसूत्र, ३४.३

शुक्ल, शुभ और प्रशस्त बतलायी गई हैं।[1] इनके वर्ण भी छः होते हैं— काला, नीला, लाल, काला और मिश्रित जैसा लाल, पीला और सफेद।[2]

द्रव्य लेश्या पुद्गल विपाक की शरीर नामकर्म के उदय से होती है।[3] यह अजीव पदार्थ अनन्त प्रदेशी, अष्ट स्पर्शी पुद्गल है। इसकी अनन्त वर्गणाएं होती हैं। इसके द्रव्यार्थिक और प्रादेशिक स्थान अनन्त हैं। यह परस्पर में द्विविध परिणामी-अपरिणामी भी होती है। द्रव्यलेश्या आत्मगत और अजीवोदय निष्पन्न है। गुरु-लघु अज्ञेय है। प्रथम तीन अमनोज्ञ रसवाली और बाद की तीनों मनोज्ञ रसवाली हैं। शीत-रूक्ष, उष्ण-स्निग्ध स्पर्शवाली, अविशुद्ध-विशुद्ध वर्णवाली, स्थूल द्रव्य कषाय मन भाषा से सूक्ष्म-औदारिक शरीर पुद्गलों एवं शब्द पुद्गलों से तैजस एवं वैक्रियिक शरीर भी सूक्ष्म है। इन्द्रियग्राह्य योगात्मा के समकालीन [illegible]ह्य, नौकर्म पुद्गल-रूप पाप-पुण्य बन्ध से परे प्रायोगिक पौद्गलिक [illegible] संस्थान और पारिणामिक-भाव वाली द्रव्य लेश्या होता है।[4] इस तरह यह आत्म भावों मे ग्रहीत नही होती। यह सूक्ष्म भौतिक तत्त्वों से निर्मित [illegible] संरचना है। यह हमारे मनोभावों और तज्जनित कर्मों की सापेक्षरूप में कारण अथवा कार्य बनती है।

मोहनीयकर्म के उदय, क्षयोपशम, उपशम और क्षय से जो जीव के प्रदेशों की चंचलता होती है, वही भावलेश्या है।[5] कषायोदय से रञ्जित योगप्रवृत्तिरूप भावलेश्या औदयिकी कही गयी है।[6] यह जीव परिणामी लेश्या वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से रहित होती है।[7] यह अगुरुलघु

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र. गा७ ५६.५७

२, वही, गा० ४-६

३. दे० तत्त्वार्थवार्तिक, २.६

४. दे० (बांठिया) लेश्या कोश

५. वही

६. तत्त्वार्थवार्तिक, २.६ : भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदायिकीत्युच्यते।

७. भावलेस्सं पडुच्च अवण्णा अरसा, अगंधा, अफासा, एवं जाव सुक्कलेस्सा। भगवती, सूत्र १२.३.५

असंख्य संस्थान और जीवोदयनिष्पन्न होती है।[1] यह भावलेश्या आत्मा का अध्यवसाय अथवा अन्तःकरण की प्रवृत्ति है। यह लेश्या सुगति और दुर्गति का हेतु बनती है। अतः लेश्याओं का भाव की अपेक्षा अधिक महत्त्व है।

(१) कृष्ण-लेश्या

आश्रवों में प्रवृत्त, गुप्तियों-मन वचन काय के संयम का जो पूर्णपालन नहीं करते, जो षट्काय के जीवों की हिंसा में रत हैं, ऐसे तीव्र आरम्भ परिणत क्षुद्र, साहसी, निर्दयी, क्रूर और अजितेन्द्रिय पुरुष की कृष्ण लेश्या होती है।[2] कृष्णलेश्या वर्ण से स्निग्ध, अञ्जन और नेत्र की तारिका के समान अत्यन्त काली होती है।[3] रस, गन्ध और स्पर्श की अपेक्षा यह अत्याधिक कड़वी, दुर्गन्धयुक्त और कर्कश होती है।[4] इसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट एक मुहूर्त अधिक तैंतीस सागर की होती है।

(२) नील-लेश्या

जो कदाग्रही, ईर्ष्यालु, मायावी, निर्लज्ज विषयासक्त, द्वेषी, प्रमादी और रस लोलुप हैं, वह नील-लेश्या का धारक होता है।[5] यह नील-लेश्या स्निग्ध वैडूर्यमणि के तुल्य वर्ण वाली होती है। रस में अत्यधिक कटु है। गन्ध एवं स्पर्श में कृष्णलेश्या के समान होती है। इस लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दश सागर की होती है।

(३) कापोतलेश्या

कापोतलेश्या का धारक वचन से वक्र, दुराचारी, कपटी, सहृदयता-हीन, अपने दोषों को ढकने वाला परिग्रही, मिथ्यादृष्टि, अनार्य मर्मभेदक,

---

१. दे० लेश्याकोश
२. उत्तराध्ययनसूत्र, ३४.२१-२२
३. वही, ३४.१-४
४. वही, ३४.१८
५. वही, ३४.२४

चोर और स्वयं अपने में जलने वाला होता है।[1] यह रस में अधिक कषैली और वर्ण में कुछ काला और लाल से मिश्रित होती है। रस गन्ध और स्पर्श से यह पहले जैसी ही होती है। इसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागर की होती है।[2]

(४) तेजोलेश्या

जो स्वभावतः नम्र, निष्कपट, अचंचल, विनीत, इन्द्रियवशी, स्वाध्याय एवं तप में रत, दृष्टि में ऋजु पापभीरु और हितैषी होता है। उसे ही पौद्गलिक तेजोलेश्या होती है। इस लेश्या का वर्ण दीपक की लौ के समान लाल होता है। यह रस में पके हुए आम के रस की तरह मीठी, पुष्प की तरह सुगन्धित और कोमल स्पर्श वाली होती है।

(५) पद्मलेश्या

जो व्यक्ति प्रसन्नचित है और जिसमें कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ की मात्रा स्वल्प है। जो जितेन्द्रिय एवं अल्प भाषी, योगी है, वह पद्मलेश्या का धारक होता है। रस में यह कसैली और सुगन्धित होती है। इसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति मुहूर्त अधिक तेंतीस सागर की होती है।

(६) शुक्ललेश्या

जो खोटे ध्यान से रहित धर्म्य और शुक्ल ध्यान का धारक है। जिसका चित्त प्रशान्त और इन्द्रियां पूर्ण रूप से वश में है। जो समिति और गुप्ति का धारक सरागी अथवा वीतरागी है उसे शुक्ललेश्या होती है। शुक्ललेश्या का वर्ण शंख के समान श्वेत होता है। यह रस से मीठी और सुगन्ध वाली लेश्या होती है। जघन्य स्थिति इसकी अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट मुहूर्त अधिक तैंतीस सागर की होती है।[3]

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र, ३४,२५-२६
२. वही, ३४.३६
३. दे० वही, ३४.२१-३२

आचार्य श्रुतसागरसूरि ने इन लेश्याओं को एक दृष्टान्त के द्वारा यों समझाय है—

आम के फल खाने के लिए छः पुरुषों के छह प्रकार के भाव होते हैं इनमें से एक आम खाने के लिए पेड़ को जड़ से उखाड़ना चाहता है। दूसरा पेड़ को पीड़ से काटना चाहता है। तीसरा फलों के लिए डालियां मात्र काटने की इच्छा व्यक्त करता है। चाथा इनमें से फलों के गुच्छों को तोड़ना चाहता है जबकि पांचवा केवल पके-पके फलों को तोड़ने की बात सोचता है। छठा परमतृप्त है। यह नीचे गिरे हुए फलों को खाने की सोचता है। ऐसे ही भाव कृष्ण आदि लेश्याओं के परिणाम वाले जीवों के होते हैं।[1]

स्वर्ग एवं नरक में लेश्या

देवों में क्रमशः पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याएं होती हैं। पहले चार स्वर्गों में पीत, पांच से दशवें स्वर्ग तक तीन कल्पयुगलों में पद्म और ग्यारहवें से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक के देवों में शुक्ल लेश्या होती है। इस तरह ऊपर-ऊपर के देवों की लेश्या निर्मल होती जाती है।[2]

नारकियों में लेश्या अशुभ-अशुभतर होती है। प्रथम एवं द्वितीय नरक में कापोत, तृतीय वालुका प्रभा में कापोत और नील, पंक प्रभा नामक चौथे नरक में नील लेश्या, पांचवें धूम-प्रभा में नील और कृष्ण, तम प्रभा में कृष्ण तथा सातवें महातम प्रभा में परम कृष्ण लेश्या होती है। यद्यपि ये अन्तर्मुहूर्त में बदलती रहती हैं परन्तु जहां जिस लेश्या के जितने अंश बतलाये गये हैं उन्हीं के अन्तर्गत परिवर्तन होता है। नारकी लेश्या से लेश्यान्तर नहीं होते।

लेश्या और ध्यान

आर्त और रौद्रध्यान में कापोत, नील और कृष्ण ये तीन लेश्याएं होती हैं। रौद्रध्यानी जीव में तीव्र और संक्लिष्ट परिणामी लेश्याएं होती

---

१. उम्मूलखंध साहगुच्छा चूणिऊण तहय पडिदावो।
जह एदेसिं भावा तहविध लेस्सा मुणेयव्वा॥ पंचसंग्रह १.१९२

२. दे० तत्त्वार्थवार्तिक, ४.२२, पृ० २३७

हैं जबकि आर्त ध्यान में उपगत जीव के लेश्या कम संक्लिष्ट होती है। धर्म्य और शुक्लध्यान में अवशिष्ट शुभ लेश्याएं होतीं हैं किन्तु किसमें कौन लेश्या होती है, यह स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। चौदहवें गुणस्थान में जब जीव अयोगी और अलेशी हो जाता है तब भी उसके शुक्लध्यान का चौथा समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपातीभेद होता है किन्तु यहां उसके कोई लेश्या नहीं होती।

गुणस्थानों में प्रथम से लेकर छठवें गुणस्थान तक छहों लेश्याएं होती हैं किन्तु सप्तम में अन्तिम तीन और आठवें से बारहवें तक एकमात्र शुक्ललेश्या होती है तथा तेरहवें गुणस्थान में भी एकमात्र शुक्ललेश्या पायी जाती है[1] जबकि ११वें गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानों में कषाय का पूर्णतः अभाव हो जाता है फिर भी भूतपूर्व प्रज्ञापननय की अपेक्षा से वहां लेश्या का सद्भाव बना रहता है क्योंकि उक्त गुणस्थानों में जो योगधारा पहले कषाय से अनुरञ्जित थी वही अब भी बह रही है। अतएव उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली के शुक्ललेश्या का होना बतलाया गया है। अयोगकेवली के इस प्रकार का कोई योग ही नहीं है। इस कारण वे लेश्यारहित होते हैं।[2]

इस तरह लेश्या और कषाय का प्रगाढ़ सम्बन्ध है और वे सत्त्व के मन में उठने वाले शुभ-अशुभ परिणामों की द्योतक हैं। सत्त्व के जन्म के साथ उनका आविर्भाव होता है और उसी के साथ वे विलय को प्राप्त होती हैं। सत्त्व मृत्यु समय में जिस-जिस प्रकार के विचार करता है उन्हें उस-उस प्रकार की लेश्याएं पुनर्जन्म में प्राप्त होती हैं।

---

१. भगवती सूत्र, २५.७.५१-५२

२. दे० तत्त्वार्थवार्तिक, २.६, पृ० १०६
तथा अत्र कश्चित् उपशान्तकषायक्षीणकषाययोः सयोगकेवलिनि च शुक्ललेश्या वर्तते इति सिद्धान्तवचनमिति तेषां कषायानुरञ्जनभावाभावसद्भावौदायिको भावः कथं घटते। सत्यम् पूर्वभाव प्रज्ञापनापेक्षया कषायानुरञ्जिता योगप्रवृत्ति सैवोच्यते। कस्मात् ? भूतपूर्वकस्तद्वदुपचार इति परिभाषणात्। योगाभावाद् अयोग-केवली अलेश्य इति निर्णीयते॥
तत्त्वार्थवृत्ति, २.६, पृ० ८५

(घ) योग : योगफल>ज्ञान एवं मुक्ति

योगसाधन का फल विशदज्ञान और उससे मुक्ति अथवा निर्वाण का लाभ है। यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि के लिए दर्शन और चारित्र का भी सम्यक् होना अत्यन्त आवश्यक है और मुक्ति मार्ग भी है—**सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः**। जैन दृष्टि से यहां हम इसी मार्ग का अध्ययन करेंगे—

(१) **सम्यग्दर्शन :**

जैनधर्म में सम्यग्दर्शन मुक्ति का प्रथम सोपान है। सम्यग्दर्शन की व्याख्या करते हुए **उत्तराध्ययनसूत्र** में कहा गया है कि—

जीवाजीवाय बन्धो य पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरो मोक्खो सन्तेए तहिया नव ॥
तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहंतस्स सम्मत्तं वियाहियं ॥[1]

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित जीवादि नौ तत्वों में भावपूर्ण श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है।

पंचाध्यायी में आता है कि यदि श्रद्धा, प्रतीति, रुचि आदि गुण स्वानुभूति सहित हैं तभी वह सम्यग्दर्शन हो सकता है अन्यथा वह लक्षणाभास ही है, क्योंकि स्वानुभूति के बिना श्रद्धा केवल शास्त्रों अथवा गुरु आदि के उपदेश के श्रवण से होती है और वह तत्वार्थ के अनुकूल होते हुए भी वास्तविक शुद्ध श्रद्धा अथवा सम्यग्दर्शन नहीं कहला सकती।[2]

---

१. उत्तरा० २८.१४-१५
तथा मिला० (क) सुत्थयं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सोहु सुदिट्ठी ॥ सूत्रप्राभृत, गा० ५
(ख) तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् तत्त्वार्थसूत्र, १,२-४
(ग) अथवा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वम् अशुद्धतरनयसमाश्रयणात्।
षट्खण्डागम, पुस्तक १, पृ० १५१

२. स्वानुभूति सनाथाश्चेत् सन्ति श्रद्धादयो गुणाः।
स्वानुभूतिं विनाऽऽभासा, नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥
विनास्वानुभूतिं तु या श्रद्धाश्रुतमात्रतः।
तत्त्वार्थानुगताऽप्यर्थाच्छ्रद्धानानुपलब्धितः ॥ पंचाध्यायी उत्तरार्ध, श्लोक ४१५-२१

समयसार के अनुसार समस्त नयों के पक्षों से रहित जो कुछ कहा गया है, वह सब समयसार है। इसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान जानना चाहिए।[1]

(२) **सम्यग्ज्ञान :**

सब द्रव्य, गुण और पर्यायों का बोध ही ज्ञान है—'**दव्वाण य गुणाण य पज्जवाणं च सव्वेसिं नाणं नाणीहि देसियं**।[2] **प्रवचनसार** में कहा है कि जो जानता है वही ज्ञान है।[3] सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होता है। सम्यग्दर्शन के द्वारा जिन तत्त्वों पर श्रद्धा अथवा विश्वास किया जाता है, उनको विधिवत् जानने का प्रयत्न करना ही सम्यग्ज्ञान है।[4] निश्चयनय की दृष्टि से अपने को जान लेना सम्यग्ज्ञान है।[5]

जैनदर्शन में ज्ञान पांच प्रकार का स्वीकार किया गया है। वे हैं—मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान—

तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिनिबोहियं।
ओहीनाणं तइयं मणनाणं च केवलं॥[6]

मतिज्ञान :

यह इन्द्रियज्ञान है।[7] मतिज्ञान के और भी अनेक भेद आचार्यों ने किए हैं। इसके लिए **तत्त्वार्थसूत्र** और उसकी टीकाओं को देखना चाहिए। जो अर्थाभिमुख नियत बोध है, उसे आभिनिबोधिकज्ञान भी कहा जाता है।[8] यह मतिज्ञान का अपर नाम है।

---

१. समयसार, गा० १४४; २. उत्तराध्ययनसूत्र, अ० २.८४
३. जो जाणादि सो णाणं। प्रवचनसार गा० ३५
४. नाणेण जाणई भावे। उत्तरा० सू० अ० २८.३५
तथा मिला० स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। प्रमेयरत्न माला, गा० १
५. आपरूप को जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है। छहढाला, ३.८
६. उत्तराध्ययय सूत्र, अ० २८.५
७. तदिन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तम्। तत्वार्थसूत्र १.१४
८. अत्थाभिमुहो नियओ बोहो जो सोमओ अभिनिबोहो
प्रशमरति, भाग-२, पृ० ५७ पर उद्धृत

श्रुतज्ञान :

आत्मा के द्वारा जो सुना जाए वह श्रुतज्ञान है। यह मतिपूर्वक होता है पहले उसके दो भेद किए गए और फिर अनेक भेद।[1] यद्यपि इस ज्ञान में इन्द्रियां और मन सहायक होते हैं, फिर भी शब्दार्थ के पर्यालोचन से उत्पन्न ज्ञान ही श्रुतज्ञान कहा जाता है।[2]

अवधिज्ञान

इन्द्रिय और मन की अपेक्षा न रखता हुआ केवल आत्मा के द्वारा रूपी एवं मूर्त पदार्थों का साक्षात् कार करने वाला ज्ञान, अवधिज्ञान कहलाता है, अवधि शब्द का अर्थ मर्यादा भी होता है। अवधि रूपी द्रव्यों को प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है, अरूपी को नहीं। यही इसकी मर्यादा है। अथवा अवशब्द अधो अर्थ का वाचक है, जो अधोऽधो विस्तृत वस्तु के स्वरूप को जानने की शक्ति रखता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। अथवा बाह्य अर्थ का साक्षात् करने का जो आत्मा का व्यापार होता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। इससे आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता।[3] विषय बाहुल्य की अपेक्षा से ही ये विविध व्युत्पत्तियां की गई हैं।

मनःपर्ययज्ञान

मनःपर्यय यह शब्द मन + परि + अयन इन शब्दों के मेल से बना है। इसका अर्थ है—मन के समस्त धर्मों को सब प्रकार से जानना। इस ज्ञान में ज्ञाता दूसरों के मन में उत्पन्न विचारों को बिना बतलाए

---

१. श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ वही तत्त्वार्थसूत्र १.२०

२. शब्दार्थपर्यायलोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगम विशेषः। (नन्दीसूत्र टीका), प्रशमरति, भाग-२, पृ० ५८ पर उद्धृत।

३. अवशब्दोऽय शब्दार्थः, अवअधोऽधो विस्तृतवस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः अथवा अवधिर्मर्यादा रूपीष्वेव परिच्छेदकत्तया प्रवृत्तिरूपातदुपलक्षितं-ज्ञानमप्यवधिः यवा अवधानम् आत्मनोऽर्थसाक्षात्करण व्यापारोऽवधिः अवधिश्चासौ ज्ञानम्। अवधिज्ञानम् ॥ नन्दीसूत्र, वृत्ति, पृ० ६३

ही जान लेता है। अतः इसे मनः पर्याय ज्ञान कहा जाता है।[1] बौद्धधर्म में भी ऐसा ही चेतोपरिवित्तर्कज्ञान बतलाया गया है।

केवलज्ञान

यह एक मात्र विशुद्ध, निर्मल, परिपूर्ण, असाधारण एवं ऐसा अनन्तज्ञान है।[2] यह ज्ञान साधक को कठिनाई से उपलब्ध होता है। इसके प्राप्त होने पर साधक भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

जो एक है, उसे किसी भी इन्द्रिय या मन का अपेक्षा नहीं होती। केवलज्ञान के होते ही कर्मो का आवरणरूप मल पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है और आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह सर्वद्रव्य एवं सर्वपर्यायों को प्रकाशित करने वाला, एकमात्र अप्रतिपाती और शाश्वत-ज्ञान है।[3] यही आत्मा का स्वभाविक गुण भी है।[4]

केवलज्ञान दो प्रकार का होता है—भवार्थ केवलज्ञान और सिद्ध केवलज्ञान। भवार्थ केवलज्ञान के पुनः दो भेद हो जाते हैं—संयोगी केवली और अयोगी केवली।[5] ऊपर वर्णित पांचों ज्ञानों में से प्रथम दो परोक्ष और शेष सभी प्रत्यक्षज्ञान होते हैं।[6]

सम्यक्चारित्र

कर्मों के चिरसंचित कोश को रिक्त करना ही सम्यक्चारित्र कहलाता है।[7] आचार्य कुन्दकुन्द ने मोह और क्षोभ से रहित अर्थात्

---

१. पज्जवणं पज्जवणं पज्जाओ वा मणम्मि माणसो वा।
तस्स व पज्जयादि नाणं मणपज्जवं नाणं ॥ प्रशमरति, भाग-२, पृ० ५९ पर उद्धृत

२. केवलमेगं सुद्धं सगलमसाहारणं अणन्तं च (विशेषावश्यक भाष्य), प्रशमरति भाग २, पृ० ५९ पर उद्धृत

३. अह सव्वदव्वपरिणाम भावविण्णत्तिकारणमणतं।
सासयमप्पडिवाई एगविहं केवलं नाणं। नन्दीसूत्र गा० ६६

४. आत्मनः स्वभाव एतत् केवलज्ञानम्। प्रशमरति, भाग-२, पृ० २६७

५. केवलनाणं दुविहं पण्णत्तं; तं जहा-भवत्थ केवलनाणं च, सिद्धकेवलनाणं च। भवत्थकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-सजोगिभवत्थ केवलनाणं च, अयोगिभवत्थ केवलनाणं च॥ नन्दीसूत्र, सूत्र १९

६. तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-पच्चक्खं च परोक्खं। च। नन्दीसूत्र सूत्र २

७. एयं चयरित्तकरं चारित्तं होई आहियं। उत्तरा०सू० २८.३३

दर्शनमोह और चारित्रमोह से विरहित आत्म परिणति को चारित्र बतलाया है। इसी को धर्म भी कहा गया है। इस तरह सम्यग्दर्शन और उसके अविनाभावी सम्यग्ज्ञान के साथ समस्त इष्टानिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष न करना ही सम्यक चारित्र है।[1]

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने के बाद चारित्र सम्यक्चारित्र हो जाता है, क्योंकि दृष्टि में परिवर्तन होकर दृष्टि परिशुद्ध और यथार्थ बन जाती है। अज्ञान पूर्वक चारित्र का ग्रहण सम्यक् नहीं होता, इसलिए चारित्र का आराधन सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही सम्यक् कहा गया है।[2]

जैन आगमों में चारित्र के पांच भेद किए गए हैं, वे हैं—(१) सामायिक (२) छेदोपस्थापना, (३) परिहार विशुद्धि, (४) सूक्ष्मसम्पराय और (५) यथाख्यातचारित्र।[3]

(१) सामायिकचारित्र

जब राग द्वेष परिणाम शान्त हो जाता है, चित्त में समता आ जाती है तब इस चारित्र की प्राप्ति होती है। इस चारित्र की प्राप्ति के बाद मन में किसी प्रकार का ईर्ष्याभाव अथवा मोह आदि नहीं रहता। यह मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है—जीवन पर्यन्त के लिए और कुछ समय के लिए। कुछ समय अर्थात् अन्तर्मुहूर्त या इससे अधिक मुहूर्तों के लिए गृहस्थ स्वीकार करता है और जीवनपर्यन्त का सामायिक चारित्र साधु ग्रहण करता है।

(२) छेदोपस्थापनाचारित्र

छेदोपस्थापना में दो पद हैं—छेद और उपस्थापना। छेद, उच्छेद अर्थ में है और उपस्थापना का अर्थ है—पुनः उसे स्थिर या धारण करना। जैसे पहले किसी ने दीक्षा ली हुई हो और उसके बाद जब वह

---

१. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥ प्रवचनसार, गा० ७

२. नहि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानान्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात्। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ३८

३. सामाइयत्थपढमं छेओवट्ठावणं भव बीयं।
परिहारविसुद्धीयं सुहुमं तह संपरायं च॥ उत्तरा० २८.३२-३३

श्रुत का विशिष्ट ज्ञानलाभ प्राप्त कर लेता है तो पुनः उसकी जीवन शुद्धि हेतु नये शिरे से दीक्षा दी जाती है। यही छेदोपस्थापनाचारित्र कहलाता है।

(३) सूक्ष्मसंपरायचारित्र

सम्पराय कषाय को कहते हैं जिसमें यत्किंचित् कषाय का भाव विद्यमान रह जाता है। वही सूक्ष्मसम्परायचारित्र कहलाता है।

(४) परिहारविशुद्धिचारित्र

कर्मभव को दूर करने के लिए जो विशिष्ट तप का अवलम्बन लेना पड़ता है। उससे होने वाली आत्मविशुद्धि को ही परिहारविशुद्धिचारित्र कहते हैं।

(५) यथाख्यातचारित्र

आत्मा में स्थित लोभादि कषायों का जब निश्शेषतः अभाव हो जाता है तब यथाख्यातचारित्र प्राप्त होता है। जिसको इस चारित्र की प्राप्ति होती है वह सिद्धावस्था के निकट अरिहंत केवली होता है।

बन्ध और उसके कारण

कषाय के सम्बन्ध से जीवात्मा से जो कर्म योग्य पुद्गलों का ग्रहण किया जाता है, वही बन्ध कहलाता है।[1] स्वभावतः जीव अमूर्त है फिर भी वह अनादिकाल से कर्म सम्बन्ध वाला होने से मूर्तवत् हो जाता है। वह पुद्गल की अनन्त वर्गणाओं में से कर्म योग्य वर्गणाओं को वैसे ही ग्रहण करता और विकृत हो जाता है, जैसे दीपक बत्ती द्वारा तेल को ग्रहण करके उसे अपनी उष्णता से ज्वाला में परिणत कर देता है। आत्म प्रदेशों के साथ कर्मरूप परिणाम को प्राप्त पुद्गलों का यह सम्बन्ध ही बन्ध कहलाता है। कर्मग्रंथ के कर्त्ता के अनुसार नवीन कर्मों के ग्रहण को बन्ध कहते हैं।[2]

---

१. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते, स बन्धः।
तत्त्वार्थसूत्र, ८.२-३

२. अभिनवकम्मग्गहणं बंधो। कर्मग्रन्थ, भाग-२, गा० ३

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से बन्ध चार प्रकार होता है।[1] जीव द्वारा जो कर्मरूप में ग्रहण किए जाते हैं, उसी समय उनमें चार अंशों का निर्माण होता है। वे अंश ही बन्ध के भेद बनते हैं।

बन्ध के कारण

प्रायः सभी जैन दार्शनिक मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग[2] ये बन्ध के पांच सामान्य हेतु मानते हैं। कुछ दार्शनिक कषाय और योग इन दो को ही बन्ध के कारण मानते है, क्योंकि उनके मत में मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद का कषाय में ही अन्तर्भाव हो जाता है। अधिकतर आचार्य ऊपर वर्णित पांच कारण ही मानते हैं।

मिथ्यात्व

मिथ्यात्व का अर्थ है मिथ्यादर्शन, जो सम्यग्दर्शन से विपरीत होता है। अयथार्थ में यथार्थ श्रद्धान ही मिथ्यात्व है। जैसे रस्सी को सर्प मान लेना।

अविरति

पापों से विरत न होना अविरति है।

प्रमाद

प्रमाद का अर्थ है—आत्मविस्मरण अर्थात् कुशल कार्यों में अनादर, कर्तव्य-अकर्तव्य की स्मृति में असावधानी।

कषाय

जो आत्मगुणों को कषे अर्थात् नष्ट करे अथवा जन्ममरणरूपी संसार को बढ़ावे वह कषाय कहलाती है। ये चार प्रकार की होती है—क्रोध, मान, माया और लोभ।

योग

मन-वचन-काया के व्यापार प्रवृत्ति अर्थात् हलन-चलन को योग

---

१. प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः॥ तत्त्वार्थसूत्र ८.४

२. मिथ्यात्वदर्शनाविरति प्रमादकषाययोगाबन्धहेतवः॥ वही, ८,१

कहते हैं।[1]

मुक्ति : निर्वाण

जैनदर्शन में निर्वाण का बड़ा महत्त्व है और अध्यात्म दृष्टि से साधक का इसे प्राप्त करना ही मुख्य उद्देश्य है। मुक्ति, मोक्ष और निर्वाण ये सभी एकार्थक हैं। निर्वाण शब्द, निर उपसर्ग पूर्वक 'वा' धातु से 'क्त' प्रत्यय लगकर बनता है, जिसका अर्थ है—माया या प्रकृति से मुक्ति पाकर परमात्मा से मिल जाना या शाश्वत आनन्द को प्राप्त करना।[2] जैनदर्शन में रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र से ही मोक्ष>निर्वाण होता है।[3] इसके अतिरिक्त **उत्तराध्ययनसूत्र** में तप को भी मोक्ष का कारण बतलाया है।[4] यह निखिल कर्मों का क्षय रूप है। बौद्ध इसे तृष्णा का क्षय बतलाते हैं। वे इसे अस्तंगम, विराग और निरोध भी कहते हैं।

द्वेषादि भावों के कारण यह आत्मा चतुर्गति रूप संसार में जन्म मरण करता है। द्वेषादि जन्य विकारी भाव जब साधना से दूर हो जाते हैं तब वह स्वभाव में स्थित हो जाता है। इसकी स्वस्वरूप, उपलब्धि ही निर्वाण है।

यहां ध्यान देना चाहिए कि तेरहवें गुणस्थान अथवा सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति शुक्लध्यान में योग (क्रिया) की प्रवृत्ति रहने के कारण केवल-ज्ञान की प्राप्ति होते हुए भी मुक्ति नहीं होती। अतः जब सम्पूर्ण योग (क्रिया) का पूर्ण निरोधरूप चारित्र सम्पन्न होता है तभी मोक्ष अथवा निर्वाण होता है।[5]

---

१. संघवी, तत्त्वार्थसूत्र, पृ० १६३-१६४
२. दे० आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश पृ० ५३६
३. तत्त्वार्थसूत्र १.२
४. नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गोत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥ उत्तरा० २८.२
५. (क) मोक्षः कर्मक्षयो नाम भोगसंक्लेशवर्जितः। पूर्वसेवाद्वात्रिंशिका, गा० २२
जैनयोग का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० २२८ पर उद्धृत
(ख) बन्धहेत्वाभावनिर्जराभ्याम् कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः। तत्त्वार्थसूत्र १,२-३

इस प्रकार संसार बन्धन एवं उसके कारणों का सर्वथा अभाव तथा आत्मविकास की पूर्णता ही मोक्ष है अर्थात् संवर निर्जरा द्वारा कर्मों का सम्पूर्ण उच्छेद होना मोक्ष कहलाता है।[1] संवर द्वारा जहां आत्मा में नये कर्मों का प्रवेश सर्वथा रुक जाता है वहां निर्जरा से संचित कर्मों का पूर्णतः क्षय हो जाता है और तभी आत्मा अनन्त सुख एवं आनन्द का अनुभव करता है।

संसार बन्धन का कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग-मन, वचन, काय की प्रवृत्ति है और इन्हीं कारणों से जीव अपनी विवेक शक्ति को खोकर भ्रान्ति की अवस्था में संसार की सभी वस्तुओं को अपनी समझने लगता है, जो संसार भ्रमण का हेतु है।

मोहनीय कर्म के क्षय से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म के क्षय से जीव को केवलज्ञान प्राप्त होता है।[2] केवलज्ञान की यह अवस्था ही आत्मा की अरहन्त अवस्था है। यहां ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाता है। फिर भी इस अवस्था में मन, वचन और काय के योग में सूक्ष्मकाययोग का व्यापार चलता रहता है।

इसके बाद आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय इन चार अघातिया कर्मों का पूर्णतः क्षय करना होता है। जब साधक अन्तिम शुक्लध्यान में सूक्ष्म काययोग अर्थात् अल्प शारीरिक प्रवृत्ति का भी सर्वथा, त्याग कर देता है तब वह अचल, निरापद और शान्त सुख स्थान को प्राप्त कर लेता है। यह उसकी सिद्धावस्था है।

सिद्धावस्था को प्राप्त आत्मा ऋजुगति से ऊर्ध्वगमन कर लोकाकाश के अग्रभाग में स्थित हो जाती है।[3] जहां रागरहित होकर[4] सदैव

---

१. मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्चकेवलम्। वही, १.१

२. नयत्यात्मानमात्मैव जन्मनिर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः॥ समाधितन्त्र, श्लोक ७५

३. तदनन्तरमूर्ध्वंगच्छत्यालोकान्तात्। तत्त्वार्थसूत्र १०.५

४. कर्मबन्धनविध्वंसादूर्ध्वव्रज्या स्वभावतः।
क्षणेनैकेन मुक्तात्मा जगच्चूडाग्रमृच्छति॥ तत्त्वानुशासन, श्लोक २३१

परमानन्द का अनुभव करती है।[1] यह अवस्था ज्ञान मात्र प्रकाश पुञ्ज स्वरूप ही होती है, उसका हमारे जैसा कोई शरीर नहीं होता।

इस तरह अनन्त आत्मा उस लोकाकाश के प्रदेशों में विराजमान होने पर भी परस्पर अव्याघात रहने से एक दूसरे से मिलकर अभिन्न नहीं हो जाते। प्रत्येक आत्मा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रहता है। ऐसी आत्मा संसार परिभ्रमण नहीं करती क्योंकि वीतराग, वीतमोह और वीतद्वेष होती है। एक दीपक के प्रकाश में जैसे अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है। उसी तरह एक सिद्धक्षेत्र में अनन्तसिद्धों को अवकाश देने की जगह होती है। सिद्धों में अगुरूलघु का गुण होता है जिसके कारण वह लोहे के समान गुरुता के कारण आत्मा नीचे आने को विवश नहीं होती और न ही वह रुई के समान हल्का होने से वायु का अनुगमन ही करती है।[2]

यह सिद्धावस्था शरीर, इन्द्रिय और मन के विकल्प एवं कर्म से रहित होकर अनन्तवीर्य को प्राप्त होती है और नित्य आनन्द स्वरूप में लीन रहती है।[3] इस तरह यह कर्ममुक्त आत्मा निराबाध संक्लेश रहित एवं सर्वशुद्ध अवस्थित रहती है।[4]

---

१. मुक्त्युपायेषु नोचेष्टामल नायैव यतत:।
मुक्त्यद्वेषप्राधान्य द्वात्रिंशिका श्लोक १,
जैनयोग का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० २३० पर उद्धृत

२. वृहद्द्रव्यसंग्रह, श्लोक १४,
जैनयोग का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० २३० पर उद्धृत

३. निष्कल: करणातीतो निर्विकल्पो निरंजन:।
अनन्तवीर्यतापन्नो नित्यानन्दाभिनन्दित:॥ ज्ञानार्णव, ४२.७३

४. एकान्तक्षीणसंक्लेशो निष्ठितार्थस्ततश्च स:।
निराबाध :सदानन्दो मुक्तावात्माऽत्रतिष्ठते॥ योगबिन्दु, पृ० ४

उपसंहार

वेदों में योग शब्द का बहुल प्रयोग हुआ है, जिससे भारतीय ऋषियों की योगप्रक्रिया के विषय में ज्ञात होता है कि वे योग में पूर्णतया निमग्न हो जाते थे और इसी के बल पर उन्होंने मुक्ति लाभ किया था परन्तु वहां पर यह नहीं मिलता कि योग क्या है? योग प्रक्रिया कैसी है? उपनिषदों में योग की चर्चा वेदों की अपेक्षा कुछ अधिक स्पष्टरूप में उपलब्ध होती है किन्तु बाद के स्मृति; बौद्ध एवं जैन आगमों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वहां पर योगक्रिया को अध्यात्म साधना का प्रमुख अंग माना गया है। यहां इसके भेद प्रभेदों की व्याख्या कर योग को मोक्ष प्राप्ति का प्रधान कारण बतलाते हुए योग का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। जैसे-जैसे भारतीय प्रबुद्ध चिन्तकों का ध्यान आध्यात्मिकता में बढ़ता गया वैसे-वैसे ही योग साधना में उनकी रूचि भी अधिक बढ़ती गई और अन्ततः उन्होंने योग को मुक्तिलाभ का अनन्य साधन उद्घोषित कर दिया। तदुपरान्त परवर्ती अध्यात्म-निष्ठ आचार्यों ने इस विषय पर स्वतन्त्र रूप से पर्याप्त मात्रा में साहित्य सृजन किया है जिनमें जैन आचार्यों का विशेष महत्व है। उनमें भी आचार्य हरिभद्रसूरि एक विशिष्ट स्थान रखते हैं।

हरिभद्रसूरि ने जहां कथा, काव्य, ज्योतिष और दर्शन पर अनेक महत्व पूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं, वहां उन्होंने योग पर भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चार ग्रन्थों की रचना की। वास्तव में ज्यों-ज्यों योग का विकास होता गया त्यों-त्यों उस पर नये-नये दृष्टि कोणों से चिन्तन एवं मनन होता रहा और उस चिन्तन को आचार्यगण अपने-अपने अनुरूप लिपिबद्ध करते गये।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने पूर्व परम्परा से चली आ रही वर्णन शैली को परिस्थिति एवं लोक रूचि के अनुरूप नया मोड देकर परिमार्जन के साथ योग साहित्य मे अभिनव युग का सूत्रपात किया। उनके बनाए हुए योग विषयक ग्रन्थों में उनकी गहन अनुभूति की अभिव्यक्ति झलकती है। उनके योग परक चार ग्रन्थ-योगविंशिका, योगशतक, योगदृष्टि समुच्चय और योगबिन्दु, इसके ज्वलन्त प्रमाण है। इनमें भी 'योगबिन्दु'

विशिष्ट है। आचार्य हरिभद्र ने माध्यस्थ वृत्ति का अवलम्बन एवं संकीर्ण पक्षपात से दूर हट कर योग-वेत्ताओं और योग-जिज्ञासुओं के लिए सभी योग शास्त्रों से अविरुद्ध समस्त योग परम्पराओं के सिद्धान्तों के साथ समन्वित उत्तम योग मार्ग का प्रतिस्थापन किया है, जैसा कि ग्रन्थ के प्रारम्भ में स्पष्ट रूप से परिलक्षित भी होता है—

सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन तत्त्वतः ।
सन्नीत्या स्थापकं चैव मध्यस्थास्तद्विदः प्रति ॥ (योगबिन्दु श्लोक २)

आचार्य हरिभद्रसूरि योग को मोक्ष का मुख्य साधन मानते हैं और उनके मत में योग की परम्पराओं में उक्ति भिन्नता होने पर भी मूलतः सैद्धान्तिक कोई अन्तर नहीं है—

मोक्षहेतुर्यतो योगो भिद्यते न ततः क्वचित् ।
साध्याभेदात् तथा भावे तूक्तिभेदो न कारणम् ॥(योगबिन्दु श्लोक ३)

इसके साथ ही वे उद्घोषित करते हैं कि योग का अभ्यास ही विद्वत्ता का फल है जो विद्वान् योगाभ्यास नहीं करता वह स्त्री-पुत्र आदि संसार के समान ही शास्त्र संसार में विचरण करता है—

पुत्रदारादिसंसारः पुंसां संमूढचेतसाम् ।
विदुषां शास्त्रसंसारः सयोगरहितात्मनाम् ॥ (वही, श्लोक ५.६)

योगबिन्दु इस प्रकार अन्य अनेक विशेषताओं से परिपूर्ण है। प्रारम्भ में योग का अर्थ एवं उसकी व्याख्या करते हुए, भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक त्रिवेणी वैदिक, बौद्ध एवं जैन योग के ग्रन्थों का परिचय दिया गया है। तदनन्तर जैनयोग साधना में योग के माहात्म्य पर प्रकाश डाला गया है और साथ ही योगबिन्दु के सन्दर्भ में योग का समीक्षण किया है।

इसके बाद योगबिन्दु के रचयिता जैन जगत् के महान् दार्शनिक परम-अध्यात्म योगी आचार्य हरिभद्रसूरि के प्रामाणिक जीवन दर्शन, समय निर्धारण तथा उनके अनुपम व्यक्तित्व और उनकी अत्युत्तम साहित्यिक देन पर रोशनी डाली गयी है।

योगबिन्दु के अनुसार योग के अधिकारी एवं अनधिकारी की व्याख्या करते हुए योगबिन्दु में प्रतिपादित योग की पांच भूमियों का विवेचन प्रस्तुत है। इसी क्रम में योग साधना के विकास का वर्णन किया गया है। इसमें जहां तक हो सका है पाद-टिप्पणियों में मूल ग्रन्थों को उद्धृत किया है।

इससे आगे योग के प्राणतत्व ध्यान का विश्लेषण करते हुए विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत किये गए हैं। गुणस्थानों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उनके साथ योग के सम्बन्ध पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इसके साथ ही छठे गुणस्थान तक के साधना क्रम को बतलाकर योगबिन्दुगत योग के भेदों का प्रतिपादन किया गया है।

बाद में आत्मा के स्वरूप पर विचार करते हुए आत्मा का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व, उसकी तत्त्वज्ञता तथा सर्वज्ञता का यथासाध्य प्रतिपादन किया गया है। आत्मा एवं कर्म का सम्बन्ध, कर्म एवं लेश्या, निर्वाण के साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पर भी प्रकाश डाला गया है। बाद में कर्मबन्ध का विवेचन कर निर्वाण प्राप्ति का सम्यक् निरूपण किया गया है।

अन्त में यही कहना चाहूँगा कि योग एक अति प्राचीन गहन विद्या है जिसके अध्ययन की कोई इयत्ता नहीं है। यद्यपि यहां पर मैंने योग के प्रमुख विषयों को चुनकर उनकी व्याख्या करने का प्रयास किया है फिर भी मैं अनुभव करता हूं कि इन विषयों पर और भी उपयोगी सामग्री प्राचीन ग्रन्थों में भरी हुई है जिसका और भी अध्ययन होना अपेक्षित है। परन्तु मैंने साधु जीवन की कठिनाइयों और शोध प्रबन्ध के कलेवर को दृष्टि में रखकर अपने अध्ययन को सीमित रखा है। फिर भी योग परक उपर्युक्त तत्त्वों का अध्ययन करने से वस्तुतः मुझे नवीन बोध प्राप्त हुआ है। अतः मुझे विश्वास है कि योग के अध्येताओं के लिए यह शोध प्रबन्ध बड़ा ही लाभकारी सिद्ध होगा, ओम अस्तु।

o—o

सहायक ग्रंथ सूची

१. अंगुत्तर निकाय, प्रथम भाग, अनु० भदन्त कोसल्यायन, महाबोधि सभा, कलकत्ता, १९५६
२. अथर्ववेद, सेक्रेन्डबुक्स आफ दी ईस्ट, भाग-४२, मैक्समूलर आक्सफोर्ड प्रेस, लन्दन १८९७
३. अर्थविनिश्चयसूत्र निबन्धनम्, सम्पादक, डॉ० एन० एच० साम्तोगो, पटना, १९७१
४. अध्यात्मतत्वलोक, न्यायविजय हेमचन्द्र जैन सभा, पटना, १९४३
५ अध्यात्म कल्पद्रुम, मुनिसुन्दरसूरीश्वर, भोगीलाल साकलचन्द, अहमदाबाद, १९३८
६. अध्यात्मरामायण (मूल)
७. अध्यात्मसार, उपाध्याय यशोविजय, केशरबाई ज्ञान भण्डार, स्थापक, जामनगर, वि० सं० १९९४
८ अनुयोगद्वारसूत्र (जैनागम) ब्यावर प्रकाशन
९. अनेकान्तजयपताका, हरिभद्रसूरि, प्र० यशोविजय ग्रंथ, माला, भावनगर, वी० सं २४३६
१०. अभिधर्मकोश, आचार्य नरेन्द्रदेव, इलाहाबाद: १९५८
११. अभिधर्मदेशना : बौद्ध सिद्धान्तों का विवेचन, डॉ० धर्मचन्द्र जैन, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, १९८२
१२. अभिधान राजेन्द्र कोश, विजयराजेन्द्रसूरि, अभिधान राजेन्द्र प्रचारक सभा रतलाम, १९३४
१३. अर्ली चौहान डान स्टडीज
१४. आचारांगसूत्र, (जैनागम), लुधियाना प्रकाशन, १९६३-६४
१५. आवश्यकनिर्युक्ति भाष्य, आगमोदय समिति, बम्बई, १९१६
१६. आवश्यकसूत्र, (जैनागम) लुधियाना प्रकाशन, वी० सं० २५०६
१७. ईशावस्योपनिषद, सम्पा० बा० ल० शास्त्री, प्रका० पाण्डुरंग जावजी, बम्बई, १९३२
१८. उत्तराध्ययनसूत्र, (जैनागम, मूल) लुधियाना प्रकाशन
१९. उपदेशपद टीका, मुनिचन्द्रसूरि, मुक्तिकमल मोहनलाल जैन बड़ौदा

२०. उपासकदशांगसूत्र, (जैनागम) अनु॰ आचार्य श्रीआत्माराम, लुधियाना प्रकाशन, १९६५
२१. ऐतरेयब्राह्मण, गीता प्रैस, गोरखपुर
२२. औपपातिकसूत्र (जैनागम), ब्यावर प्रकाशन, १९८५
२३. ऋग्वेद (संहिता) सम्पा० श्री दा॰ सातवलेकर, सतारा, १९४०
२४. कठोपनिषद्, बम्बई, १९२२
२५. कर्मग्रंथ (१-१० भाग) देवेन्द्रसूरि, व्याख्या मुनि श्री मिश्रीमल ब्यावर, १९८०
२६. कुवलयामालाकहा, उद्योतनसूरि, सं० ए० एन० उपाध्ये, प्र० सिंघी जैन ग्रंथ माला भारतीय विद्याभवन, बम्बई, वि० सं० २०१५
२७. कहावली (प्राकृत) भद्रेश्वरसूरि (अप्रकाशित)
२८. केनोपनिषद्, सम्पा० बा॰ ल० शास्त्री, पाण्डुरंग जावजी, बम्बई, १९३२
२९. गणधरवाद, आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, प्राकृत भारती, संस्थान, जयपुर, १९८२
३०. गीता, गीता प्रैस, गोरखपुर
३१. गुणस्थान क्रमारोह, अमोलक ऋषि, अमोलक जैन, ज्ञानालय, धूलिया
३२. गुर्वावली, मुनिचन्द्रसूरि, यशोविजय जैन, ग्रथ माला, बनारस
३३. गोपथब्राह्मण, गीता प्रैस, गोरखपुर
३४. गोम्मट्टसार जीवकाण्ड, नेमिचन्द्र, अनु० खूबचन्द्र शास्त्री, परश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९२७
३५. गोम्मट्टसार, चामुण्डरायविरचित, मणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वी० सं० २४४३
३६. चरित्रसार, चामुण्डराय विरचित, माणिकचन्द दि॰ जैन, ग्रंथ-माला बम्बई, वी॰ सं॰ २४४३
३७. चैत्यवन्दनसूत्र प्रशस्ति, पञ्जिका टीका, प्रका० दिव्यदर्शन साहित्यसमिति, अहमदाबाद
३८. छहढाला, पं० दोलतराम, दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर सोनगढ़, वी० नि० सं० २५८७
३९. छान्दोग्योपनिषद् (१०८ उपनिषद्) सम्पा० बा० ल० शास्त्री. प्रका० पाण्डुरंग जावजी, बम्बई, १९३२

४०. जिनसहस्रनामस्तोत्र, पं० आशाधर, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, वि० सं० २०१०
४१. जैन तत्त्वकलिका, आचार्य श्री आत्माराम सं० मानसा मण्डी, १९८२
४२. जैनयोग का आलोचनात्मक अध्ययन, डॉ० अर्हत्दासदिगे पार्श्वनाथ, विद्याश्रम वाराणसी, १९८१
४३. जैनयोग चतुष्ट्य, आचार्य हरिभद्रसूरि, सम्पा० डा० छगनलाल शास्त्री, ब्यावर १९८२
४४. जैनयोग सिद्धान्त और साधना, आचार्य श्रीआत्माराम, सम्पा० श्री अमर मुनि, प्रकाशन, मानसा मण्डी, १९८२
४५. तत्त्वविद्या, पं० सुखलाल संघवी
४६. तत्त्ववैशारदी (योगभाष्य की टीका), वाचस्पतिमिश्र (मूल)
४७. तत्त्वानुशासन, सम्पा० जुगलकिशोर मुख्तार, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, १९६३
४८. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अकलंकदेव, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, १९४४
४९. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, विवेचक पं० सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९७६
५०. तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागर सूरि), भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४९
५१. तैत्तीय उपनिषद् (१०८ उपनिषद्) सम्पा० वा० ल० शास्त्री, पाण्डुरंग जावजी, बम्बई, १९३२
५२. दशवैकालिकसूत्र, प्रका० सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, १९८३
५३. दीर्घनिकाय, सम्पा० भिक्षु जगदीश काश्यप एवं राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३६
५४. द्रव्यसंग्रह, सम्पा० डा० दरबारीलाल कोठिया, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी
५५. धर्मदर्शन मनन और मूल्यांकन, देवेन्द्रमुनि शास्त्री, उदयपुर (राज०) १९८५
५६. धम्मपद, धर्मरक्षित, बनारस, १९५३
५७. धर्मबिन्दु, हरिभद्रसूरि, आगमोदय समिति, बम्बई, १९२४
५८. धर्मबिन्दूपनिषद् (१०८ उपनिषद्) सं० पा० वा० ल० शास्त्री, पाण्डुरंग जावजी, बम्बई, १९३२

५९. धर्मसंग्रहणी, मुनि श्रीकल्याणविजय, श्रीदेवचन्द लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड सूरत

६० धूर्ताख्यान, हरिभद्रसूरि, सम्पा० डॉ० ए० एन० उपाध्ये, भारतीय विद्या भवन, बम्बई

६१. ध्यानबिन्दूपनिषद्, सम्पा० वा० ल० शास्त्री, पाण्डुरंग जावजी, बम्बई, १९३२

६२. धवला पुस्तक १, २ आचार्य वीरसेन, जैन आगमोद्धार फण्ड अमरावती, (महाराष्ट्र)

६३. ध्यानशतक, जिनभद्रगणी, क्षमाश्रमण, जामनगर, वि० सं० १९९७

६४. नमस्कारस्वाध्याय, जैन साहित्य विकास मण्डल बम्बई, १९६२

६५. नन्दीसूत्र, अनु० आचार्य आत्माराम जी म०, लुधियाना, १९६६

६६. नियमसार, आ० कुन्दकुन्द, सोनगढ़ (गुजरात) वीर नि० सं० २५०३

६७. न्याय कुमुदचन्द्र, सम्पा० स्व० डा० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, बम्बई १९३८

६८. न्यायदर्शन, सम्पा० द्वारकादास शास्त्री, वाराणसी, १९६६

६९. पंचाध्यायी, राजमल्ल, सम्पा० पं० देवकी नन्दन शास्त्री वर्णी, जैन शास्त्र माला, बनारस, वी० नि० सं० २४७६

७०. पंचास्तिकाय, कुन्दकुन्द, रायचन्द जैन शास्त्र माला, बम्बई, वी० सं २४३१

७१. पंचविंशति, अनु० बालचन्द्र जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९६२

७२. पंचसंग्रह (प्राकृत), भारतीय ज्ञानपीठ, १९६०

७३. परमात्मप्रकाश, योगिन्दुदेव, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९२७

७४. पातंजलदर्शन, प्रकाश० स्वामी बालकराम कृत

७५. पातञ्जलयोग-एक अध्ययन, डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी, दिल्ली, इन्दु प्रकाशन, १९७८

७६. पातंजलयोगदर्शन, (भाव गणेश वृत्ति)

७७. पातञ्जल योगदर्शन (भोज वृत्ति), अजमेर, १९३१

७८. पातञ्जल योगदर्शन (व्यास भाष्य) सूरत, १९५८

७९. पाराशर स्मृति, सम्पा० रामशर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६६
८०. पाइसद्दमहण्णवो, सम्पा० पं० हरगोविन्द दास, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल और पं० दलसुख भाई मालवणिया, प्राकृत ग्रंथ परिषद्, काशी
८१. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, अमृतचन्द्र, प्रभावकमण्डल बम्बई, वी० नि० सं० २४३१
८२. प्रभावकचरित्र, चन्द्रप्रभसूरि, सम्पा० जिनविजयसिंघी, जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद, १९५७
८३. प्रशमरति भाग-२ उमास्वाति, विवेचक भद्रगुप्त विजय, मेहसाना (गुजरात), वि० सं० २०४२
८४. प्रवचनसार, कुन्दकुन्दाचार्य, परमश्रुतप्रभावक मण्डल, बम्बई, १९३५
८५. प्रवचनसारोद्धार, नेमिचन्द्र सूरि, सम्पा० पदमसेन मुनिचन्द्र-विजय, पिंडवाडा, (राज०), १९७६
८६. प्रमेयरत्नमाला अनु० जयचन्द्र, अनन्त कीर्ति ग्रंथ माला, समिति, बम्बई
८७. प्रज्ञापनासूत्र, सम्पा० ज्ञानमुनि, ब्यावर प्रकाशन १९८६
८८. प्रज्ञापारमिता, हरिभद्र सम्पा० बो० भट्टाचार्य ओरिएन्टल इन्स्टिट्यूट, कलकत्ता, १९३२
८९. पाहुडदोहा, रामसिंह मुनि, सम्पा० हीरालाल जैन कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, वि० सं० १९९०
९०. वाल्मीकि रामायण, गीता प्रैस, गोरखपुर प्रकाशन
९१. बुद्धचरित, सम्पा० महन्त रामचन्द्र दास शास्त्री, वाराणसी, १९६३
९२. बोधिचर्यावतार, सम्पा० पी० एल० वैद्य, दरभंगा, १९६०
९३. बोधिसत्वभूमि, सम्पा० नलिनाक्षदत्त, पटना, वि० सं० २०२२
९४. बृहद्द्रव्यसंग्रह नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, भावनगर, (गुजरात), वि० सं० २०३३
९५. ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, पाण्डुरंग जावजी, बम्बई १९३२
९६. ब्रह्मसूत्र (मूल) वाराणसी, वि० सं० २०२२
९७. भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, डा० रतिभानुसिंह, इलाहाबाद
९८. भक्ति का विकास, डा० मुंशीराम, वाराणसी, १९५८

९९. भगवती आराधना (आ० शिवाचार्य), समा० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, सोलापुर प्रकाशन, १९७८
१००. भारतीय तत्त्वविद्या, सुखलाल संघवी
१०१. मज्झिमनिकाय, राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३३
१०२. महाभारत, गीता प्रैस, गोरखपुर, संवत २०२१
१०३. महावग्ग, सम्पा० भिक्षु जगदीश काश्यप, नव नालंदा प्रकाशन
१०४. महानिर्वाणतन्त्र (मूल)
१०५. महापुराण, आचार्य जिनसेनकृत, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९५१
१०६. मैत्रेयोपनिषद्, पाण्डुरंग जावजी, बम्बई, १९३८
१०७. मैत्रायणी आरण्यक, गीता प्रैस, गोरखपुर
१०८. मिलिन्दप्रश्न, अनु० भिक्षु जगदीश काश्यप सारनाथ, १९३७
१०९. मनुस्मृति, सम्पा० राम शर्मा संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६६
११०. मूलाचार, वट्टकेर, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथ माला बम्बई वी० नि० सं० २५४९
१११. मूलाराधना, शिवाचार्य, जैन पब्लिकेशन, कारंजा, १९३५
११२. यजुर्वेद, सम्पा० श्री दा० सातवलेकर, सतारा, १९४०
११३. यशस्तिलक चम्पू, सोमदेवसूरि, निर्णय सागर प्रैस, बम्बई, सन् १९०१
११४. याज्ञवल्क्य स्मृति, सम्पा० रामशर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६९
११५. योगकुण्डल्योपनिषद् (१०८ उपनिषद्), बम्बई, १९३२
११६. योगसार प्राभृत, सम्पा० जुगल किशोर मुख्तार, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९६४
११७. योगप्रदीप, मंगल विजय हेमचन्द्र सावचन्द्रशाह, कलकत्ता, वी० सं० २४६६
११८. योगदृष्टि समुच्चय, हरिभद्रसूरि, सम्पा० डा० छगनलाल शास्त्री, ब्यावर, प्रकाशन, १९८२
११९. योगबिन्दु, (मूल) आचार्य हरिभद्रसूरि ब्यावर प्रकाशन
१२०. योगविंशिका, „ „ „ „
१२१. योगशतक, „ „ „ „

१२२. योगवाशिष्ठ, वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, तुकाराम जावजी, द्वितीय आवृत्ति बम्बई, सन् १९१८
१२३. योगशास्त्र, हेमचन्द्र, सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा, १९६३
१२४. योगावतार, द्वात्रिंशिका, उपाध्याय यशोविजय
१२५. योगसार, योगिन्दुदेव, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९३७
१२६. रत्नकाण्ड श्रावकाचार, समंतभद्र प्रका० माणिकचन्द दिगम्बर जैन, ग्रंथ माला, बम्बई, वी० सं० २५५१
१२७. ललितविस्तर, (नववैपुल्य), सम्पा० पी० एल० वैद्य, दरभंगा १९६०
१२८. लाटीसंहिता, राजमल्ल, सम्पा० दरबारीलाल, माणिकचन्द, दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, वी० सं० १९८५
१२९. लेश्याकोश, मोहनलाल बांठिया, चोरडिया डावरलेन, कलकत्ता, १९६६
१३०. वाशिष्ठ, स्मृति, सम्पा० श्रीराम शर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६६
१३१. विवेक चूडामणि, शंकराचार्य, अद्वैत आश्रम, अलमोड़ा, १९६६
१३२. विशुद्धमार्ग, (विसुद्धिमग्ग का हिन्दी अनुवाद) भाग-२, अनु० भिक्षु धर्म रक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५६
१३३. विंशतिविंशिका, हरिभद्रसूरि, सम्पा० डा० अभ्यंकर आर्यभूषण मुद्रणालय कौशाम्बी पूना, १९३२
१३४. विशुद्धिमग्ग, सम्पा० धर्मानन्द कौशाम्बी, बम्बई, १९४०
१३५. विष्णुपुराण, अनु० मुनिलाल गुप्त, गीता प्रैस, गोरखपुर
१३६. वैशेषिक दर्शन, कणाद, सम्पा० शंकर दत्त शर्मा, मुरादाबाद, १९२५
१३७. बृहदकल्पभाष्य, अमोलक ऋषि, हैदराबाद, सिकन्दराबाद जैन संघ, वी० नि० सं० २४४६
१३८. बृहदारण्यक, प्रका० पाण्डरंग जावजी, बम्बई, १९३२
१३९. शान्तसुधारस, अनु० मनसुख भाई. फी० मेहता, भगवान दास मेहता, भावनागर. वी० सं० २४६२
१४०. श्वेताश्वतरोपनिषद्, पाण्डुरंग जावजी, बम्बई. १९३२
१४१. श्रीहरिभद्रसूरि, हीलालाल रसिकलाल, बड़ोदरा, १९६३
१४२. षट्खण्डागम, खण्ड-४, सम्पा० डा० एच० एल० अमरावती, १९४९

१४३. षड्दर्शन समुच्चय, आ० हरिभद्रसूरि, विवेचक डा० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, १९८१
१४४. षट्चक्रनिरूपण, तान्त्रिक टेक्स प्रकाशन
१४५. षोडषक प्रकरण, हरिभद्रसूरि, जैनानन्द पुस्तकालय, गोपीपुरा सूरत, वी० सं० २४६२
१४६. षोडषक (मूल) हरिभद्रसूरि
१४७. समवायांगसूत्र (जैनागम), ब्यावर प्रकाशन
१४८. समयसार, कुन्दकुन्दाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९५०
१४९. समराइच्चकहा, अनु० प० कन्हैयालाल न्यायतीर्थ, तिलोकरत्न स्थानकवासी, धार्मिक बोर्ड, पाथर्डी, १९७७
१५०. समराइच्चकहा, एक सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ० झिनकू यादव, वाराणसी, १९७७
१५१. समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि, पं० सुखलाल संघवी, जोधपुर, १९६३
१५२. सन्मतितर्कसूत्र, सिद्धसेन दिवाकर, (मूत्र मात्र)
१५३. सन्मति प्रकरण, सम्पा०, सुखलाल संघवी
१५४. संयुक्त निकाय, सम्पा० जगदीश काश्यप. नालन्दा, १९५४
१५५. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, सम्पा० डा० ए० एन० उपाध्ये रायचन्द्र आश्रम, अगास, १९७०
१५६. संस्कृत-अंग्रेजी कोष, मॅक्डानल, आक्सफोर्ड, १९२४
१५७. संस्कृत-अंग्रेजी कोष. मोनियर विलियम, दिल्ली, १९६३
१५८. संस्कृत हिन्दी कोश, वामनशिवराम आप्टे, दिल्ली, १९६६
१५९. संस्कृत शब्दार्थकौस्तुभ, सम्पा० चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, इलाहाबाद, प्रकाशन
१६०. समाधितन्त्र, पूज्यपाद सम्पा० जुगल किशोर मुख्तार, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट सरसावा, १९३९
१६१, सांख्यसूत्र (मूल)
१६२- सामवेद, सम्पा० सातवलेकर, सतारा (महाराष्ट्र), १९४०
१६३. सिद्धहेमशब्दानुशासन, आचार्य हेमचन्द्र
१६४. सिंथेसिसभाव योग०, ले० अरविन्द
१६५. सूत्रकृतांगसूत्र (जैनागम), ब्यावर, प्रकाशन, १९८२

१६६. सूत्र प्राभृत (मूल), आचार्य कुन्दकुन्द, श्रीमहावीर प्रकाशन, वीरनि० सं० २४७८

१६७. सर्वदर्शन संग्रह, माधवाचार्य, वाराणसी, १६६४

१६८. सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १६५५

१६९. स्कन्धपुराण, भाग-१, कलकत्ता, १६६०

१७०. हरिभद्रसूरि चरित्र, पं० हरगोविन्ददास, विक्रमचन्द सेठ, यशोविजय ग्रंथ माला, भावनगर

१७१. हरिभद्रस्य समय निर्णयः, लेखक मुनि श्री जिनविजय, अनेकान्त विहार, अहमदाबाद

१७२. हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, वेशाली १६६५

१७३. हरिभद्रयोग भारती, हरिभद्रसूरि, प्रका० दिव्यदर्शन ट्रस्ट, गुलाल बाड़ी, बम्बई, वि० सं० २०३६

१७४. हारीतस्मृति, सम्पा० रामशर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेली, १६६६

१७५. हेमचन्द्र धातु पाठ माला, गुणविजय जैन, ग्रंथ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद, १६३०

१७६. ज्ञानसार, पद्मसिंह, टीका त्रिलोक, चन्द, दिगम्बर जैन पुस्तकालय सूरत, वी० सं २४७०

१७७. ज्ञानार्णव, शुभचन्द्राचार्य, परमश्रुत प्रभावक मण्डल रायचन्द आश्रम, अगास, १६८१

शुद्धिपत्र

पृ०	पैरा	पङ्क्ति	फुट नोट संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
7	1	2	—	जोगवउवहाणं	जोगव उवणाहवं
16	1	2	—	रमा की	रमा को
16	3	2	—	उसक	उसके
17	2	—	—	वैविकतर	वैदिकोत्तर
19	2	10	—	अनुरुद्धाचार्य	अनिरुद्धाचार्य
23	3	22	—	धर्माविनिश्च	धर्मविनिश्य
25	2	14	—	उमके	उसके
27	3	—	—	आगमत्तोर	आगमोत्तर
27	3	14	—	आगमों	आगम
41	—	—	9	यौग	योग
41	2	12	—	एक मत विशेष	एक मन्त्र विशेष
44	2	15	—	ब्रार	और
49	—	1	—	पणर्ग	पणगं
49	4	27	—	जाग्रित	जागृत
54	4	—	—	याजकों	याचकों
59	2	6	—	जसे	जैसे
68	1	3	—	हरिभद्रसरि	हरिभद्र सूरि
68	2	10	—	परमातावलंबियों	परमतावलम्बियों
78	1	3	—	भारताय	भारतीय
81	(ङ)	9	—	विंस्तार	विस्तर
84	—	—	1	गुर्विलि	गुर्वावलि
86	—	12	—	(7)	(6)
91	1	1	—	नवानतम	नवीनतम
102	—	10	—	(20) योग बिन्दु	(30) योग बिन्दु
111	—	21	—	अनगामीचित्त	अनागामीचित्त
143	—	—	2	मेरो भावना	मेरी भावना

146	4	21	—	धर्मस्वाख्यातत्वानु-चिन्तनमपेक्षाः	धर्मस्वाख्याततत्त्वा-नुचिन्तनमनुपेक्षाः
153	—	—	—	सद्ववहार	सद्व्यवहार
154	—	—	—	यो	जो
161	—	—	—	वाह्य	बाह्य
182	—	—	—	घ्याया	ध्याता
2:6	6	15	—	धम	धर्म
225	1	3	—	भा	भी
201	—	1	—	ह्रों	ह्रीं-२
		7	—	भा	भी
212	2	7	—	पच	पञ्च
217	—	5	—	उनका	उनकी
233	4	20	—	समयसरा	समयसार
234	3	15	—	प्रयत्त	प्रमत्त
242	—	11	—	वक्रिय	वैक्रिय
	—	14	—	कामणकाय	कार्मणकाय
250	2	11	—	पक्षा	पक्षी
251	1	7	—	प्रभावों	प्रमाणों
256	2	12	—	जन	जैन

लेखक की अन्य रचनाएं

1. मानवता की प्रकाश करणें
2. पद्मपराग
3. तीर्थङ्कर स्तुति
4. दो विश्व विभूतियां
5. सुव्रत गीत
6. पद्मशतक
7. परमतपस्वी श्री पन्नालाल जी म० चालीसा
8. गुरुगुण चालीसा
9. मुनि श्री प्रेमसुख चालीसा
10. महासती पद्मावती चालीसा
11. अनेक निबन्ध एवं कविताएं जो कि विभिन्न जैन ग्रंथों एवं पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं